ओ३म्

कल्याण मार्ग

का

पथिक

(स्वामी श्रद्धानन्द का आत्मचरित्)

——✻ ✻ ✻——

लेखक :– स्वामी श्रद्धानन्द जी

प्रकाशक:– आर्यसमाज सैक्टर–23, 24,

रोहिणी, दिल्ली–85

सम्पर्क सूत्र–9350945482, 9810485231

प्रकाशक:- आर्यसमाज सैक्टर-23, 24,
रोहिणी, दिल्ली-85

सम्पर्क सूत्र-9350945482, 9810485231

प्राप्ति-स्थान :
32, पॉकेट-2, सैक्टर-23, रोहिणी
दिल्ली-85

संस्करण-
स्वामी श्रद्धानन्द व पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल
बलिदान दिवस-सम्वत् 2070 विक्रमी (2013)

लागत मूल्य :- ६० रुपये

॥ ओ३म् ॥

सम्पादकीय

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन जिस प्रकार से परिवर्तित हुआ और जैसे एक व्यक्ति सामान्य से भी निम्न स्थिति में होते हुए भी ऋषि दयानन्द से प्रेरणा पाकर अपने पुरुषार्थ व योग्यता से श्रेष्ठता के पद को पा जाता है यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कर्मठता और बौद्धिकता के अनूठे मिश्रण थे स्वामी श्रद्धानन्द जी। यही कल्याण मार्ग का पथ है और ऐसा ही व्यक्ति कल्याण मार्ग का पथिक होता है। महात्मा मुंशीराम जी का यह ग्रन्थ हर उस व्यक्ति को प्रेरणा देता है जो स्वयं को बुराईयों से निकालकर उच्चता को प्राप्त करना चाहता है। अनेकों की तरह मुंशीराम के जीवन को भी ऋषि दयानन्द के स्पर्श ने स्वर्ण बना दिया।

इस पुस्तक में स्वामी श्रद्धानन्द के ३५ वर्षों का ही लेखा-जोखा है और उनके वे कार्य, जिनके द्वारा वे आर्यसमाज को नई ऊँचाईयों तक ले गए, का विस्तृत वर्णन तो इस ग्रन्थ में नहीं मिलेगा लेकिन उसका प्रारम्भ उन्होंने कर दिया था, यह आप जान जाऐंगे। हम सब के लिए यह जीवन को परिवर्तित कर देने वाली कथा है और यही उद्देश्य स्वामी श्रद्धानन्द का इस ग्रन्थ को लिखने का था कि जिससे उन जैसे अन्य युवक भी निराश न हों और कल्याण मार्ग पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें।

स्वामी श्रद्धानन्द ने आध्यात्मिकता के साथ-साथ शिक्षा, पत्रकारिका, साहित्य सर्जन व राजनीति के क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया है। वर्तमान काल में आर्ष गुरुकुलीय शिक्षा के तो वे जनक रहे हैं। उनके द्वारा ही १९०२ ई. में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की गई थी। यह एक विशाल शिक्षण संस्थान बना। इसके बाद भी स्वामी जी ने कई विशाल गुरुकुलों की स्थापना की और आर्ष शिक्षा पद्धति को फैलाया जैसी की ऋषि दयानन्द की आकांक्षा थी।

स्वामी श्रद्धानन्द का एक कार्य ऐसा है जिसका उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है और वह है अपने ही भाइयों की घर वापसी का अर्थात् शुद्धि आन्दोलन। और यह एक ऐसा कार्य था जिसको यदि गति मिल जाती तो इस राष्ट्र को बिखराव से बचाया जा सकता था।

- आचार्य सतीश

।। ओ३म् ।।

ऋषि दयानन्द के चरणों में

सादर समर्पण

ऋषिवर! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पटल पर अब तक ज्यों-की-त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरणमात्र ने मेरी आमित्मक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है? परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सत्संग ने मुझे कैसे गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ के योग्य बनाया?

मैं क्या था इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूँ, वह तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है। इसलिए इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्म शताब्दी पर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूँ। तुम वाणी द्वारा प्रचार करनेवाले तत्त्ववेत्ता ही न थे परन्तु जिन सच्चाईयों का तुम संसार में प्रचार करना चाहते थे उनको क्रिया में लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान कृष्ण की तरह तुम्हारे लिए भी तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया था, परन्तु तुमने मानव-संसार को सीधा मार्ग दिखलाने के लिए कर्म की उपेक्षा नहीं की।

भगवन! मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। इसलिए जिस परमात्मा की असीम गोद में तुम परमानन्द का अनुभव कर रहे हो, उसी से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करे।

-विनीत

श्रद्धानन्द

विषय-सूची

क्रम सं.	विषयाः	पृष्ठ संख्या
1.	सम्पादकीय	i
2.	सादर-समर्पण	ii
3.	विषय-सूची	iii
4.	प्रस्तावना	viii
5.	जन्मस्थान, नाम, संस्कार	1
6.	बालकपन गया खेलकूद में	5
7.	काशी में प्रथम एक वर्ष का निरंकुश जीवन	7
8.	पठन-पाठन का आरम्भ	8
9.	देशभक्त डाकू संग्रामसिंह	9
10.	एक नास्तिक जादूगर	11
11.	रामभक्ति का मधुर रस	12
12	मिर्जापुर में पांच मास और विन्ध्यवासिनी के दर्शन	14
13.	काशी में दूसरी बार और हकूमत की बहार	15
14.	शिक्षा का नियमपूर्वक आरम्भ	20
15.	बलिया की सभ्य सृष्टि	21
16.	कुइंज (महाराणी वाले) कॉलिज में प्रवेश	22
17.	बनारस कॉलिज के प्रिंसिपल और प्रोफेसर	23
18.	व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन	28
19.	अन्तरीय परिवर्तन	29
20.	आँखें खुलने लगी	30
21.	परीक्षा में असफलता	33
22.	पहली स्वतंत्र यात्रा	36
23.	आवारगी की दूसरी लड़ाई	39
24.	एक वर्ष का स्वतन्त्र जीवन	40
25.	अन्धविश्वास के जीवन की समाप्ति	42

26.	माताजी की प्रेमभरी गोद में बिछोड़ा	45
27.	परीक्षा की सरतोड़ तैयारी	48
28.	कुइंज कॉलिज में पहिले छः महीने	49
29.	मेरे कॉलिज के मित्र	50
30.	बलिया में अन्तिम दो मास	53
31.	पापसागर में डूबने की कहानी	54
32.	मनोरंजक सैर	59
33.	मथुरा में दस दिन और विवाह की धुन	62
34.	विवाह की उत्सुकता और निराश लौटना	65
35.	अन्धकारमय जीवन	66
36.	इलाहाबाद कॉलिज में एक वर्ष	67
37.	अहिंसा की प्रबल विजय	70
38.	परीक्षा का परिणाम	71
39.	बरेली में घोर अन्धकार का जीवन	71
40.	ऋषि दयानन्द का सत्संग	74
41.	हिन्दू देवी का मातृभाव और आर्य सभ्यता की श्रेष्ठता	79
42.	चाकरी का अनुभव	83
43.	मेरे भविष्य का आंशिक निर्णय	85
44.	तीन बरसों का अस्थिर जीवन	88
45.	निराशा के भंवर से मुक्ति	90
46.	इतरावस्था की पराकाष्ठा	94
47.	अन्धकार से अन्तिम रात्रि	97
	द्वितीय परिच्छेद :- प्रकाश की क्रमशः विजय	
48.	आचार्य का आदेश पूरा हो रहा है	100
49.	आर्यसमाज में प्रवेश	102
50.	लाहौर आर्यसमाज में पहली वक्तृता	103
51.	आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का आरम्भ	106

52.	मांसभक्षण का परित्याग	108
53.	जालन्धर आर्यसमाज में पहिला व्याख्यान	110
54.	एक दृढ़ आर्यसामाजिक मित्र	111
55.	सांसारिक यश की ऊँची कामनाएं	112
56.	आर्यसमाज में आरम्भिक अनुभव	114
57.	पहली आत्मिक परीक्षा	117
58.	दूसरी आत्मिक परीक्षा	120
59.	लाहौर परीक्षा की तैयारी	122
60.	परीक्षा का भयानक भूत	124
61.	कलियुगी साधु	126
62.	सत्य का प्रभाव	128
63.	मुखतारी और दुकानदारी	130
64.	मेरे कानूनी मुंशी	130
65.	जिसकी पहली उसी की जय	134
66.	एक रंगे सियार से भेंट	136
67.	पिताजी का असीम प्रेम	137
68.	शास्त्रार्थ का पहिला अनुभव	138
69.	बिरादरी से खारिज का धमकी	141
70.	पिताजी की शिक्षाप्रद मृत्यु	143
71.	मेलों में वैदिक धर्मप्रचार	147
72.	एक विस्मृत धर्मोपदेशक	147
73.	धर्म-घट का निर्माता कौन था?	149
74.	जालन्धर आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव	154
75.	कुछ नये नट नाट्यशाला में	156
76.	स्वाध्याय का अभ्यास	158
77.	वकालत और सच्चाई का मेल दुस्तर	159
78.	वकालत की परीक्षा में रिश्वत	160

79.	बम्बई की पहली यात्रा	165
80.	एक उदार डिप्टी कमिश्नर	168
81.	यह संदेश कैसे फैला?	169
82.	वकालत की अन्तिम परीक्षा	170
83.	फिर जालन्धर में	174
84.	धर्मप्रचार की धुन	175
85.	राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध	177
86.	अशान्ति में शान्ति	182
87.	एक ब्रिटिश शासक की भेंट	185
88.	लाहौर आर्यसमाज का बारहवां वार्षिकोत्सव	185
89.	ब्रह्ममुहूर्त में हरिकीर्तन	187
90.	जालन्धर आर्यसमाज का तीसरा वार्षिकोतसव	188
91	पण्डित गुरुदत्त का गुरुत्व	191
92.	पण्डित गुरुदत्त चौमुखी चलते थे	193
93.	कृतकार्यता की मद	197
94.	धर्मप्रचार की लगन	198
95.	धर्मपरायणता का पहला दृश्य	201
96.	'सद्धर्म प्रचारक' का जन्म	202
97.	कन्या गुरुकुल की धुन	205
98.	सत्यार्थप्रकाश की कथा	205
99.	एक आर्यवीर परीक्षा में	206
100.	श्री पूर्णानन्द जी का प्रवेश	207
101.	उपदेशक क्लास का झगड़ा	207
102.	पण्डित गुरुदत्त के अन्तिम दिवस	210
103.	पण्डित गुरुदत्त की अकाल मृत्यु	212
104.	एक वर्ष की कठिन परीक्षा	214
105.	जालन्धर प्रांत में शास्त्रार्थों की धूम	219

106.	सुकेत में १७ दिवस	226
107.	जवनिका पतन	230
108.	कुम्भ पर वैदिक धर्मप्रचार	232
109.	दो से एक रहकर नये युग में प्रवेश	234
110.	सार्वजनिक जीवन में प्रवेश की तैयारी	236

॥ ओ३म् ॥

कल्याण-मार्ग का पथिक

प्रस्तावना

अपना जीवन वृत्तान्त सर्वसाधारण के आगे रखना उन उच्चकोटि के महानुभावों को ही शोभा देता है जिन्होंने संसार में किसी न किसी बड़े काम में कृतकार्यता प्राप्त की हो। फिर उत्तम प्रकाशक भी उन्हीं की जीवनी मुद्रित करना उचित समझते हैं जिन्होंने कोई अपूर्व कार्य किया हो, चाहे उस काम से संसार की उन्नति हुई हो या पहले से भी बढ़कर संसार रसातल को चला गया हो। मैं जानता हूँ कि मेरी जीवनकथा दोनों कोटियों में नहीं आ सकती, फिर भी मैंने अपनी कहानी सर्वसाधारण के आगे रखने का साहस क्यों किया?

अभी ५० वर्ष भी पूरे नहीं हुए कि भारतवर्ष के नवयुवक सिवाय खाने-पीने, भोगने और उसके लिए धनसंचय करने के अलावा अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते थे। गुलामी में वह जन्म लेते थे और उस दासता की अवस्था को अनिवार्य समझकर गन्दगी के कीड़ों की तरह उसी में मस्त रहते थे। उन्हें मालूम न था कि उनके पुरुषा भी किसी समय में सभ्यता का स्रोत थे। उन्हें यही बतलाया गया था कि भारतीय अर्द्धसभ्य हैं, उनकी कोई संस्कृति थी ही नहीं और यदि वह गिरी हुई अवस्था से उठना चाहते हैं तो योरोपियन सभ्यता की शरण में जाना चाहिए। इस पुस्तक का लेखक स्वयं किन विचारों का था, यह उसकी जीवन-यात्रा की कहानी पढ़ने से विदित होगा।

आचार्य ऋषि दयानन्द ने आर्यावर्त्त की प्राचीन संस्कृति का सजीव चित्र खींचकर न केवल आर्य सन्तान के अन्दर ही आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न किया प्रत्युत योरोपियन विद्वानों को भी उनकी कल्पनाओं की असारता दिखलाकर, चक्कर में डाल दिया। हिन्दू युवक अपने प्रत्येक आचार-व्यवहार को दूषित और योरोपियनों के गिरे से गिरे अत्याचार और दुराचार को भी आदर्श समझा करते थे। मैंने उसी विद्यालय में शिक्षा पाई थी जिसने हिन्दू युवकों को अपनी प्राचीन संस्कृति का शत्रु बना दिया था।

आजकल की भारतीय जनता ५० वर्ष पूर्व का इतिहास पढ़कर उस समय के

भारतीय लेखकों को तुच्छ दृष्टि से देखती है और उनके अज्ञान पर आश्चर्य करती है ओर यह समय बैठी है कि अज्ञान से ज्ञान की ओर आने के बीच में कोई भी मंजिल तय नहीं करनी पड़ी। इसी भूल को दूर करने के लिए मैंने अपनी जीवनयात्रा की कहानी सविस्तार लिख दी है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावट की कहानियां बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगायेंगी, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस आत्मकथा के पाठ से बहुत युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति मिलेगी।

एक और बात भी जिसकी ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूं। ऋषि दयानन्द के लेखों का तत्त्व उन आर्यसमाजियों की समझ में पूर्णतया नहीं आता जिन्होंने आर्यसमाज के यौवनकाल में उनके अन्दर प्रवेश किया है।

अपनी निर्माण की हुई पाठविधि में आचार्य दयानन्द ने 'सर्व भाषा ग्रन्थ' त्याज्य लिखे हैं। इस पर सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में इस प्रकार प्रश्नोत्तर हैं :-

प्रश्न-" क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं?"

उत्तर-"थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है इससे जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है वैसे यह ग्रन्थ हैं।"

आचार्य का यह लेख रहस्यपूर्ण है। आजकल कुछ ऐसे आर्यसमाजी भी हैं जो यह समझते हैं कि किसी भी भाषा ग्रन्थ को पढ़ना न चाहिए। यह हमारी भूल है। ऋषि ने उनमें यत्किञ्चित् सत्य माना है किन्तु बाल्यावस्था में शिक्षा ग्रहण करने के लिए संकेत कर दिया है कि वेदशास्त्रानुकूल नये भाषा ग्रन्थों का निर्माण करना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार गृहस्थों के लिए आचार्य ने आज्ञा दी कि सत्य का मण्डन और असत्य मत का खण्डन सीखकर सदाचार पूर्वक विदेश में जाने से हानि नहीं उसी प्रकार गुरुकुलों तथा राष्ट्रीय विद्यालयों में भी शिक्षा समाप्त करने के पीछे पुराने भाषा-कवियों के ग्रन्थ पढ़ने से लाभ ही होगा। मैंने इस कहानी में दिखलाया है कि आर्यसंस्कृति के गिरे से गिरे समय में भी तुलसीदास आदि की कविताओं ने आर्यसंस्कृति को लुप्त होने बचाया है।

किस प्रकार क्रमशः धार्मिक दासता से उत्तरोत्तर हिन्दू समाज को मुक्ति मिलती गई और अपनी राजनीतिक दासता का भी उनको परिज्ञान हुआ इसके समझने

के लिए युगविधाता आचार्य दयानन्द के जीवन चरित्र का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है। परन्तु उस परिवर्तन के बहुत से मर्म तभी मालूम हो सकते हैं जब कि ऋषि के अनुगामी जिन्होंने स्वयं उनका सहवास किया है, अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को खोलकर जनता के सामने रख दें।

इस कहानी में मैंने अपने कुछ साथियों के नाम स्पष्ट नहीं दिए हैं, इसीलिए कि उनके सम्बन्धियों को किसी प्रकार का मानसिक कष्ट न हो। घटनाएं सब ठीक-ठीक दी गई हैं। कुछ स्थलों में घटनाओं का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि शायद उनको कल्पनात्मक उपन्यास समझा जाय परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि सच्ची घटनाएं कभी-कभी उपन्यास को भी मात कर देती हैं।

ज्येष्ठ संवत् १९३३ तक कहानी आज से २ वर्ष पहिले ही लिख छोड़ी थी। आर्यसमाज में प्रवेश के समय से संवत् १९४९ तक का वृत्तान्त 'सद्धर्म प्रचारक' सप्ताहिक पत्र में "कुछ आप बीती कुछ जग बीती" के शीर्षक से छपता रहा है। उनमें से असम्बद्ध विस्तार को संक्षिप्त करके उस समय की कथा लेखबद्ध की गई है। इन दोनों समयों के बीच का वृत्तान्त 'मियां वाली जेल' के एकान्त निवास में लिखा गया है। निस्संदेह मेरी स्मरणशक्ति ने भी घटनाओं के ठीक वर्णन में सहायता दी है। परन्तु मुझे विद्यार्थी जीवन व्यतीत करते हुए ही आत्मचिन्तन का व्यसन-सा लग गया था और इसलिए दिनपत्रिका (डायरी) रखने का अभ्यास था। उस दिनपत्रिका से तिथियों और घटनाओं के संशोधन में बहुत सुभीता रहा है।

मेरे पुराने साथी प्रायः सब चले बसे हैं। आर्यसमाज में प्रवेश काल के नये साथियों में भी बहुत ह्रास हो चुका है। मुझे भी मौत सिर पर खड़ी दिखलाई देती है। फिर अन्तःकरण में निराशा की लहर जब कभी उठती है उसी समय श्रद्धा-सागर में विलीन हो जाती है। मेरा जीवन आशातीत व्यतीत हुआ है इसलिए जब तक दम में दम है तब तक मनुष्य को बेदम नहीं होना चाहिए यह मेरा सिद्धांन्त है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में 'ज्ञानमंडल' के संचालक बाबू शिवप्रसाद गुप्त से मुझे बड़ी सहायता मिली है। यदि वह इसकी छपाई का भार अपने ऊपर न लेते और उनके प्रबन्धकर्त्ता मेरे पीछे न पड़े रहते तो मुझे ऋषि ऋण से मुक्त होने का अवसर अभी न मिलता। यन्त्रालय से मेरे दूर होने के कारण अशुद्धियां अवश्य रह गई हैं,

परन्तु मेरे लेख की पहेलियों को सुलझाने का काम ज्ञानमण्डल के संशोधकों ने उत्तम किया है।

मेरे जीवन के शेष अनुभव भी, किसी न किसी रूप में जनता के सामने आते ही रहेंगे, यदि उनको छपवाकर मुद्रित कराने का बोझ उठाने के लिए बाबू शिवप्रसाद जी से उदार आर्य पुरुष तैयार रहें।

पाठकवृन्द! कल्याण मार्ग का पथिक की कहानी में जो कुछ भी आपको शिक्षाप्रद दिखाई दे उसे ग्रहण करो, परन्तु जो कुछ अहितकार प्रतीत हो उसको उपेक्षा दृष्टि से ही देखो। गुसाई तुलसीदास ने ठीक कहा है :-

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

दिल्ली नगर-26.8.1981 विक्रमी

श्रद्धानन्द संन्यासी

अनृत जीवन से श्रेय की ओर
प्रथम परिच्छेद
अन्धकार और प्रकाश का युद्ध

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

–भगवद्गीता

मां पर पूत पिता पर घोड़ा। बहुत नहीं तो थोड़ा–थोड़ा।।

जन्म–स्थान, नाम, संस्कार

संवत् १९१३ विक्रमी, मास फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी के दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता उन दिनों रोजगार की तलाश में घर से बाहर गये हुए थे। पंचनद (पंजाब) प्रांत में जालन्धर एक जिला है जो अपने मुख्य नगर के नाम से प्रसिद्ध है। जनोक्ति यह है कि इस स्थान में जालन्धर दैत्य भी ऐसा था कि जिसकी स्त्री पतिव्रता थी और उसी के प्रताप से जहाँ उसका रक्त गिरता वहाँ प्रति बूँद एक जालन्धर उत्पन्न हो जाता। मुरारि ने किस विधि से उसका वध किया इसके लिखने की जरूरत नहीं। फिर जालन्धर में माण्डलिक हिन्दू राजे शासन करते रहे। मुसलमानों के समय अदीना बेग यहां का हाकिम रहा और अंग्रेजों ने इसे जिला बना लिया।

जिला जालन्धर के पूर्वी कोने पर शतद्रु (सतलुज) नदी के किनारे तलवन एक उपनगर है। वही मेरी जन्मभूमि है। किसी समय जालन्धर दुआब में अढ़ाई शहरों की गिनती हुआ करती थी पूरा शहर तलवन, पूरा 'बिजवाड़ा' और आधा हदियाबाद। अब ये तीनों स्थान केवल ग्राम की स्थिति में रह गये हैं। पुरानी कीर्ति के लिए उदारता और ब्याह–शादियों की करतूत की बदौलत मेरे जन्म के समय भी इनका कुछ मान था। अब तो जब से नापित अर्थात् नाऊ राजा के शासन से छुटकारा पाकर पुराने प्रसिद्ध कुलीन भी रिश्ते नाते देखभालकर करने लगे हैं तब से इन शहरों की करतूतों का चमत्कार भी मद्धिम पड़ गया है।

तलवन में मेरा जन्म हुआ और पाधा जी ने जन्म नाम बृहस्पति रखकर भी प्रसिद्ध नाम मुंशीराम रख दिया। मेरे तीन भाई और थे तथा दो बहनें। मैं सबमें सबसे छोटा अपनी माता की अन्तिम सन्तान था। आयु के क्रमानुसार सब भाई बहिनों के ये नाम थे- (१) सीताराम, (२) प्रेमदेवी, (३) मूलाराम, (४) द्रोपदी, (५) आत्माराम, (६) मुन्शीराम।

तत्त्ववेत्ताओं ने दो प्रकार के संस्कार बतलाये हैं। पूर्वजन्म के संस्कार ही वर्तमान योनि के कारण होते हैं और उन्हीं के अनुसार बुरे वा भले माता-पिता भी मिलते हैं। उन माता-पिता के गुणों-अवगुणों का विशेष प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। इनको पैतृकसंस्कार कहते हैं। यद्यपि पैतृकसंस्कार भी अपने पूर्वकर्मों के ही फल हैं तथापि इन्हें अलग समझकर जीवन के बहुत से भेद खुल जाते हैं। इसलिए अपने कुल की कुछ विशेषताओं का यहां वर्णन करना असंगत न होगा।

जन्म तथा गुण कर्म, दोनों के विचार से मेरा कुल क्षत्रि-कुल कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही वह भक्तिप्रधान था। मेरे परदादा का नाम सुखानन्द था। वह सचमुच सुख और आनन्द की मूर्ति ही थे। मैंने अपने पिताजी से सुना था कि उनका चित्त हर समय प्रसन्न तथा उनके मुख पर शान्ति और कान्ति का मेल रहता था। पहले तो वह किसी पर क्रोध करते ही न थे, परन्तु यदि किसी व्यक्ति के दुर्व्यवहार पर उसका ताड़ना करते तो कहते-'स्याणा! क्यों धर्मते डिग गया है?" अर्थात् "सयाने! क्यों धर्म से गिर गया है?" सबसे बड़ी गाल "सयाना" कहना था। लाला सुखानन्द के पांच पुत्र थे-(१) लाला कन्हैयालाल, (२) हीरानन्द, (३)मणिकचन्द, (४) गुलाबराय, (५) महताबराय। लाला कन्हैयालाल राजा कपूरथला की ओर से पंजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में वकील (एलची) बनकर रहते थे। उनकी बात महाराजा रणजीतसिंह के यहां चलती थी। लाला कन्हैयालाल ने एक शिवालय बनवा दिया था जिसमें उनके पिता सुखानन्द जी रहते और वहीं नियमपूर्वक दोनों समय शिवपूजा करते थे।

मेरे दादा लाला गुलाबराय भी हरिभक्ति में रत रहते थे। नित्य प्रात: ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान करते और सुखमणि तथा भगवद्गीता का पाठ करते। फिर कबीर तथा अन्य भक्तों के शबद गाते रहते। कपूरथला में वह रानी हीरादेवी के मुखतारकार

थे और जब महाराजा नौनिहालसिंह के गद्दीनशीन होने पर रानी साहेबा अपने दोनों पुत्रों (सरदार विक्रम और कुंवर सुकेतसिंह) सहित जालन्धर में आ बसीं तो मेरे दादा भी उन्हीं के साथ चले आये और महाराजा नौनिहालसिंह के दिये प्रलोभनों की परवाह न की। गुलाबराय जी बड़े स्पष्ट वक्ता थे। जिस समय वह ४ बजे स्नानादि से निवृत्त होकर पाठ आरम्भ करते और पंचम स्वर में भजन गाते तो सरदार विक्रमसिंह की नींद खुल जाती। तंग आकर उन्होंने एक दिन कहा–लाला जी! "क्या आप परमेश्वर का नाम मन में नहीं ले सकते?" उत्तर मिला– "मेरे मन में तो हरदम परमात्मा बसते हैं, परन्तु जो मूढ़जन अमृत बेला में बेहोश सोये रहते हैं उन्हें सचेत करने के लिए उच्च स्वर से भजन बोलता हूँ।"

ऐसे निर्भयवीर ईश्वरभक्त के घर मेरे पिता नानकचन्द्र का जन्म हुआ। वह अपने छः भाईयों में सबसे बड़े थे। छुटपन में ही शिवपूजा अपने दादा सुखानन्द से सीख, इन्होंने भी ब्राह्ममुहूर्त में उठकर पूजा आरम्भ कर दी थी। वह पूजा जो १४ वर्ष की आयु में आरम्भ हुई तो ५९ वर्ष की आयु तक (अर्थात् मृत्युपर्यन्त) बराबर चलती रही। मुंहफट यह भी अपने पिता की तरह ही थे। कपूरथला में थानेदारजी से वजीर दानिश्मन्द के साथ कड़ी बातचीत होने पर त्यागपत्र दे दिया। फिर सियालकोट में "ठगी डकैती" महकमे के खजांची का चार्ज लिया। वहाँ भी अंग्रेज हाकिम को खरी सुनाकर नौकरी छोड़ आये। फिर अमृतसर की तहसील में मुहासिब बने। शोभाराम लंगड़ा तहसीलदार था। उस पर घूँस का मुकद्दमा चला। जहां सारी तहसील मौकूफ हो गई वहाँ मेरे पिता के विरूद्ध एक भी गवाह न खड़ा हुआ। परन्तु वह उदास हो, फिर त्यागपत्र देकर घर चले आये और कुछ दिन वहां ही पूजा पाठ में लगे रहे। फिर लाहौर में जाकर चौकीदारों के बख्शी नियत हुए।

लाहौर जाने से पहले मेरे पिता बिना एक पैसा दादा जी से लिए, सारे परिवार से अलग हो गये, एक दालान कोठरी लेकर माताजी को बच्चों समेत उसमें रख दिया। बड़ी बहन के विवाह की तैयारी थी और उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। लाहौर में वेतन इतना न था कि परिवार का गुजारा करते हुए अपनी पुत्री के विवाह पर करतूत से न गिर जायें। इधर विवाह में नाक कटने का डर और उधर सम्वत् १९९४ विक्रमीय का विप्लव, जिसे गोरों ने गदर की उपाधि दे रक्खी थी। पिताजी ने एक

काने टट्टू पर जीन डालकर परमेश्वर का नाम ले, दिल्ली का रास्ता पकड़ा। भाग्य की सहायता से हिसार नगर की शहरपनाह के अन्दर उस दिन प्रवेश किया जब बागियों ने गढ़ हिसार को घेर रक्खा था। एक सिख सरदार भी दो सौ सवारों का दस्ता लेकर उस सरकार की जड़ें भारतवर्ष में दृढ़ करने जा रहे थे जिसने कुछ वर्ष पहले ही पंजाब को दास बना लिया था। सरदार साहब ने घोड़ों को शहरपनाह के अन्दर तीन चक्कर दिलाकर जो हमला किया तो बागियों के छक्के छूट गए और मेरे पिताजी ने एक चौधरी के घर ब्रह्मभोज का सामान बनता देख उसे इस बात पर राजी कर लिया कि पूरी, कचौरी, हलवा, भाजी बना बनाया पकवान नये जंगी बेड़े की भेंट कर दे। सरदार साहब तो रण में विजय प्राप्त करके लूटमाररूपी इनाम लेने के लिए दिल्ली चल दिये और पिताजी हिसार के बागी कोतवाल की 'जाल किरिच' सम्भालकर बागियों को फांसी दिलाने के शुभ काम पर तैनात हुए। यहां रिश्वत की कमाई से न केवल पुत्री के विवाह के लिए पर्याप्त धन ही घर भेज दिया प्रत्युत घोड़े खरीद और अपने परिवार के २५ व्यक्तियों को रिसाले के छोटे अफसर बना और ७५ जाटों को घुड़सवारी के लिए साथ लेकर मेरठ पहुँच गये। वहाँ रिसालदार नियत होकर पहला शुभकाम यह किया कि तीन महीनों में सहारनपुर के सारे जिले के हथियार ले लिये और उस जिले के गले में सदा के लिए गुलामी का तौक पहिराकर नेपाल की तराई में मेलाघाटी की लड़ाई का जा छापा मारा। वहाँ भी पूजा पाठ न छूटा। नदी के पास ही कैम्प था। उस पर बागियों की बाढ़ दूसरे किनारे से फेंकी जाती थी परन्तु रिसालदार साहब के लिए एक घड़ा पानी का गजरदम ही आ जाता था और वह नहाकर पूजा कर लेते। फिर कुछ खाकर दिनभर के लिए कमर कसकर लैस हो जाते।

मेला घाट पर विजय प्राप्त कर बेड़ा बाँसबरेली में आ पड़ा। वहाँ मिलिटरी पुलिस के सब रिसाले तोड़ दिए गए और मेरे पिताजी को अपने भाइयों और सम्बन्धियों सहित, सिविल पुलिस में नौकरी मिल गई, मेरे पिताजी को कहा गया कि या तो १२०० बीघे भूमि इनाम में लें अथवा पुलिस इन्सपेक्टर का पद स्वीकार करें। अपने देश की लोकोक्ति है कि खेती उत्तम, व्यापार मध्यम और चाकरी सबसे निकृष्ट काम है। परन्तु जिस समय पिताजी के सामने दोनों इनाम रक्खे गये उस समय नौकरी से बढ़कर अन्य कोई भी प्रतिष्ठित काम नहीं समझा जाता था और फिर क्षत्री के लिए

चाकरी हकूमत की कलूंगी समझी गई थी। खेती को रजील पेशा समझा जाता था, फिर पिताजी जमीन कैसे कबूल करते। इन्सपेक्टर साहब बन गए और पुलिस लाइन्स का चार्ज ले लिया।

बालकपन गया खेलकूद में

मेरी आयु तीन बरस की हो चुकी थी जब मेरी माता मुझे और मेरे दो भाईयों को साथ लेकर बरेली पहुँची। बरेली में तीन वर्ष खेलकूद में व्यतीत हुए। मेरे दोनों बड़े भाई तो मौलवी साहब से पढ़ने लगे किन्तु मैं खुले मैदान में घूमता और सारी पुलिस लाइन्स से लाड़ लड़ाया जाता रहा। पिताजी ने मुल्ला जी से ही सब कुछ पाया था, अंग्रेजी शिक्षा का अभी नमूद ही होने लगा होगा और बरेली का संस्कृत के साथ कुछ सम्बन्ध ही न था। मुसलमानों की वहाँ पूरी बादशाहत थी। मेरे भाई घोखते-घोखते थक जाते और मौलवी साहब के सामने फिर भी सबक (पाठ) पूरा न सुना सकते, मैं वहीं फटा-फट सुना देता। पिता जी ने मुझे यह बतलाया था कि मैं उस आयु में भी पर्यायवाची शब्द जोड़कर अन्वय अपना बना लिया करता था। हम तीन भाईयों के मनों और शरीरों की रक्षा करनेवाला कोई न था। मैं तो सचमुच खुदरौ वृक्ष की तरह स्वयं ही बढ़ता रहा। हां, एक दृश्य मुझे स्मरण है जो माता के अगाध प्रेम को ही प्रकाशित नहीं करता प्रत्युत मातृशक्ति के स्वाभाविक विकास को भी प्रकट करता है।

सायंकाल का समय था। मेरे छोटे मामू जो पुलिस में सवार थे, होली का मेला देख शहर से लौटे आ रहे थे। घोड़ी अठखेलियां करती चली आ रही थी। मेरी दृष्टि उन पर पड़ी तो विचित्र दशा देखी। पगड़ी गले में लटक रही थी, शरीर एक ओर झुक रहा था। गिरने को ही थे कि एक भृत्य ने उन्हें उतार लिया, दो आदमी आश्रय देते हुए पिताजी की कोठी के आंगन में ले आये और चारपाई पर लिटा गया। अन्य पुरुषों के बाहर जाते ही माताजी कमरे से निकली। भाई को विचित्र दशा में बेहोश देखा, चिकन जाली की कुड़ती और तनजेब का कुड़ता पारा-पारा है, पगड़ी धूल में लिपटी हुई है। मट्टी और होली के लाल रंग के मेल ने विचित्र दशा बना रखी है। प्रात: जो मुख कमल की तरह खिला हुआ था, वह अब कुम्हला ही न गया डरावना भी प्रतीत होता है। हाथ-पैर चारपाई पर पटके जा रहे हैं। पान की राल मुंह से निकलकर दाड़ी पर बह रही है, और सारे शरीर से दुर्गन्ध फूट-फूटकर निकल रही है।

माताजी ने बाहर आते ही शराबी के सिर पर पानी डलवाना आरम्भ किया। मैं चारपाई के पास खड़ा था। मुझ पर दृष्टि पड़ते ही माता जी के मन का भाव बदल गया। मुझे झट से गोद में उठा लिया और घबराकर नौकर से कहा–"इसे क्यों यहाँ आने दिया?" भृत्य अभी उत्तर देने को ही था कि मैं उस दृश्य को भूल जाऊँ। मैंने कुछ प्रश्न भी किया था जो स्मरण नहीं रहा, परन्तु माताजी ने मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचकर खेल में लगा दिया।

माताजी सर्वथा अनपढ़ थीं, शिशुपाल तथा आचार शास्त्र की शिक्षा उन्हें पुस्तकों से नहीं प्राप्त हुई थी परन्तु मातृशक्ति के अन्दर जो स्वाभाविक अगाध प्रेम परमात्मा ने उत्पन्न किया है, उसने उन्हें अपनी सन्तान की रक्षा का ज्ञान दे रखा था। आज उस समय का स्मरण करके मन ही मन, मैं पश्चात्ताप करता हूँ कि माता की विद्युत् रूपी स्वाभाविक शिक्षा को, दो अक्षर पढ़ लेने के अभिमान में फंसकर मैंने अपने आगे के जीवन में क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखा।

बरेली से एक दर्जा उन्नति पाकर मेरे पिता बदायूँ बदल गए। वहाँ भी मुझे तीन वर्ष रहना पड़ा। स्वच्छन्द घूमने की यहाँ भी स्वतंत्रता थी। मुझे याद है कि पिताजी के साथ अकेला ही होने के कारण जब दिन को वह कचहरी में कोर्ट इन्सपेक्टर के काम पर चले जाते तो मैं कचहरी की गश्त लगाता था। फौजी सलाम मैंने बरेली में ही सीखी थी। सब रिश्तेदार तथा मुहर्रिर उसी सलाम की फरमाइश करते और पुरस्कार में मुझे कागज और कलम देते। कलम मुझे बनी बनाई मिलती थी और मसीपात्र (दवात) घर से लेकर कागज पर लिखते रहना मेरी आदत हो गई थी। एक दिन पिताजी ने मुझे संजीदगी से एक पुस्तक की जिल्द पर कागज रखकर लिखते देख मेरा कागज का सारा कोष छान मारा, उन्हें आश्चर्य हुआ जब उन्होंने फारसी हरूफ बने हुए पाये। "अरे! यह कहाँ से सीखा?" जब पास ही "करीमा" और "खारीक बारी" के पन्ने-पन्ने अलग देखे तो मालूम हुआ कि मक्खी की मक्खी मारते हुए मैं डारविन के सिद्धान्त का क्रियात्मक प्रमाण दे रहा हूँ और मनुष्य को नकल करने वाले बन्दर की औलाद सिद्ध कर रहा हूँ।

बदायूँ में कोर्ट पुलिस इन्सपेक्टर को बहुत काम करना पड़ता था। यह लोकोक्ति उस समय प्रसिद्ध थी–"पांव बदोंआ लीजे साथ, तब करिए झगड़े की

आस।" बदायूँ के जात शरीफ दूर-दूर के मुकदमे लड़ाते थे, फिर अपने जिले में तो उन्होंने ऊधम मचा ही रखा होगा। ब्रिटिश राज्य के पहले रूहेलखण्ड निवासी रूहिल्ले युद्ध में निपुण थे और उनका असर कायस्थ और बनियों तक पड़ चुका था। अंग्रेजी सरकार ने उसका ध्यान मुकदमेबाजी की ओर खींच दिया। तब हाकिम उनसे निश्चिन्त हो गये। लाहौर जिले की प्रथम बन्दोबस्त की रिपोर्ट में भी मैंने यही लिखा देखा था। मोहतमिम बन्दोबस्त ने परमेश्वर का धन्यवाद किया था कि लड़ाकों सिक्ख जाटों की कौम मुकदमेबाजी में मगन हो रही है, इसलिए उनसे कोई भय नहीं रहा।

बदायूँ से शायद सम्वत् १९२२ के अन्त में मेरे पिताजी की तब्दीली एक दर्जा उन्नति के साथ काशी (बनारस) के जिले में हो गई।

काशी में प्रथम एक वर्ष का निरंकुश जीवन

काशी में पहुँच पहला अनुभव छूत-छात के भूत का हुआ। मेरे पिताजी जो विजिटिंग पुलिस इन्सपेक्टर थे, उनका काम काशी नगर से बाहर के थानों का निरीक्षण और उधर के ही बड़े फौजदारी मुकदमों की तहकीकात करना था। कर्त्तव्यपालन के लिए उन्हें प्राय: शहर से बाहर रहना पड़ता था। मकान बड़ा था इसलिए माताजी ने एक पंजाबी परिवार को बिना किराए पर बसा लिया। उस परिवार की गृहपत्नी का नाम निहालदेवी था, उसने काशी से छूत-छात की नई शिक्षा ली थी। मेरे और मेरे बड़े भाई के नाक में दम कर दिया। पूस मास का जाड़ा और हमें हुकुम था कि सर्वथा नग्न होकर शौच जायें और नहाकर धोती पहिनें। यदि पैर मोरी पर पड़ गया तो फट नहाने की आज्ञा, यदि चलते फिरते कहीं छीटा पड़ गया तो फट नहाने की आज्ञा, यदि कहीं चलते फिरते छीटा पड़ गया तो कपड़े धो डालने का नादिरशाही हुकुम। एक दिन सायंकाल खेलते-कूदते मेरा पैर एक मट्‌टी के चिराग की ठीकरी से छू गया। निहालदेवी ने शोर मचा दिया-"छू गया, छू गया। नहलाओ, नहलाओ।" माताजी कोई बड़ी आपत्ति समझकर दौड़ी आयी। पूछने पर निहालदेवी ने कहा कि "चिराग कउआ लेकर उड़ा होगा। उससे छूटकर गिरने पर ही तो ठीकरी-ठीकरी अलग हो गई। इसलिए नहाना आवश्यक है" गरम पानी करके मुझे नहला तो दिया परन्तु माताजी ने दूसरे दिन ही निहालदेवी को दूसरे घर में चले जाने के लिए बाधित किया।

वह बड़ा मकान छोड़ माताजी लाहौरी टीले के एक मकान में जा रहीं। यह मकान बड़ा हवादार, चारों ओर से खुला हुआ था। काशी में शेष ढाई बरस उसी मकान में व्यतीत हुए। मैं अभी तक नियमपूर्वक पढ़ाई में नहीं लगा था, सुना सुनाया कंठस्थ करने से ही काम था। एक दिन पिताजी मामले की रिपोर्ट लिख रहे थे। मैंने शोर मचाया। पिताजी ने झिड़क दिया। मुझे बहुत बुरा लगा। सीढ़ी में चढ़नेवालों के सहारे के लिए रस्सी लग रही थी। मैंने गले में रस्सी डालकर धमकी दी कि फांसी ले लूंगा। पिताजी ने एक थप्पड़ लगाया और रस्सी से छुड़ाकर घसीट लाए। यह पहला अवसर था कि मुझ लाड़ले को किसी ने मारा हो। रोते-राते मेरी घिग्घी बंध गई। माताजी ने बाहर से आकर गोद में ले लिया। जो सुख उस समय मिला उसका वर्णन कोई कवि ही कर सकता है।

'गुरु बिन ज्ञान न पाये भोला चेला'

पठन-पाठन का आरम्भ

अब तक जो कुछ सीखा निगुरा रहकर ही सीखा था। उस वैरागी की तरह जिसने "सारी गीता रगड़ मारी और गुरु एक न बनाया" मैंने भी जहाँ पंजाबी स्त्रियों के मुख से "काशी महातम" सुनकर उसे कण्ठ कर लिया था, वहाँ पिताजी के नित्य पाठ के स्तोत्रों के कुछ भाग भी कंठ कर छोड़े थे। परन्तु संवत् १९२३ के आरम्भ में मुझे यज्ञोपवीत पहिनाने का विचार चला। उसमें एक कठिनाई बाधक प्रतीत हुई। गुरुकुलों की प्रथा तो हजारों वर्षों से बन्द हो चुकी थी, यज्ञोपवीत संस्कार का नाटक ही रह गया था। फिर यज्ञोपवीत पहिनाया जाता था, और वेदारम्भ की विधि भी हो चुकती तो ब्रह्मचारी कोपीन, दण्डधारण करके भिक्षा ले काशी पढ़ने के लिए जाने की तैयारी करता। उस समय बहिन की आवश्यकता पड़ती। नवीन ब्रह्मचारी जब कहता कि मैं काशी पढ़ने के लिए जाऊंगा तो बहन बांह पकड़कर कहती है-"भाई तुझे यहां ही पढ़ा लेंगे और भाई इतने पर लौटता और उसी दिन उसका समावर्तन संस्कार भी हो जाता। परन्तु मेरी सगी बहिन काशी में एक भी न थी। एक धर्म की बहिन बनाई गई। काशी में तो रहता था ही तब वहाँ से विद्योपार्जन के लिए कहाँ जाना था। मुझसे कहलाया गया कि मैं काश्मीर पढ़ने के लिए जाता हूँ। काशी और काश्मीर दोनों ही विद्या के केन्द्र समझे जाते थे। बहिन लौटा लाई। पिताजी ने इतना हौसला दिखाया कि

समावर्तन की विधि न करवाई और एक पण्डित को पढ़ाने के लिए नियत करके देवनागरी अक्षरों का अभ्यास और आर्यभाषा की पढ़ाई आरंभ करा दी। इन्हीं दिनों पिताजी को शिव पूजा करते देखकर हम दोनों भाई एक उजड़े मन्दिर से शिवलिंग उठा लाये और पिताजी के अनुकरण में स्नान कराके उस पर पुष्प बेलपत्र चढ़ाने और धूप दीप और नैवेद्य देवार्पण करने लग गये। पंडित महाश्य ने हमें किसी नियम में न रखा। पिताजी कहीं रात की गश्त में एक विद्यार्थी को खूटीं में चोटी बाँधकर पढ़ते देख आये। विद्याार्थी ने पूछने पर बतलाया कि जब उसको ऊँघ आ जाती है तो चोटी पर झटका लगते ही जगकर वह फिर पढ़ने लग जाता है। तब पिताजी ने हमें हिन्दी पाठशाला में भरती करा दिया। नैत्यिक पाठ तो मैं पाठशाला में ही समाप्त कर आता और घर में आकर पिताजी की तुलसीकृत रामायण ले बैठता। सवा डेढ़ वर्ष तक पढ़ाई का यह क्रम चला और फिर मेरे पिताजी की बदली जिला बांदा (प्रांत बुदेलखंड) को हो गई। काशी से बांदा को प्रस्थान करने से पूर्व दो विशेष घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक है जिन्होंने मेरे जीवन के भविष्य पर बड़ा प्रभाव डाला था। उसमें से पहली–

देशभक्त डाकू संग्रामसिंह

का दर्शन था। संग्रामसिंह बनारस जिले के एक ग्राम का साधारण कृषिकार था और साधारण जीवन व्यतीत करता था। उसकी अनुपस्थिति में पुलिस ने उसके घर की तलाशी ली और उसकी धर्मपत्नी का सतीत्व नष्ट करने की चेष्टा की। राजपूत ने घर लौटकर सब हाल सुना तो पुलिस के बड़े अफसर के पास फरयादी गया। यहां भी उसके साथ पिशाचत्व का बर्ताव हुआ। राजपूती खून जोश में आया, पुरानी छिपाई हुई तलवार निकाल पहले निरपराधिनी अर्द्धाङ्गिनी को सदा के लिये बदनामी से बचाकर संग्राम सिंह ने जंगल की राह ली। तलवार का स्वयं धनी था, उसके साथ दूसरा राजपूत हाथीसिंह मिल गया। जिसका बन्दूकी निशाना कभी खाली नहीं जाता था। जनरल संग्रामसिंह और कप्तान हाथीसिंह के साथ बीस पच्चीस सिपाही और हो लिए और संग्रामसिंह एक छोटी–सी सेना का सेनापति हो गया।

संग्रामसिंह के विषय में उसी प्रकार की लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हो गई जो देशभक्त डाकुओं के विषय में अंग्रेजी इतिहास तथा उपन्यास की पुस्तकें मैंने दूसरी

बार काशी में आकर पढ़ी थीं। अमीरों के लूटने और निर्धनों को आर्थिक सहायता देने की कहानियां प्रसिद्ध थी। वेश्याओं को नाच दिखाने की आज्ञा हुई तो बहली पर साज सामान लादकर वह चल दी और जंगल में मंगल हो गया। बनारस, जौनपुर और आजमगढ़ जिलों में संग्रामसिंह ने ऊधम मचा दिया। तब तो अंग्रेज पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने १५० हथियारबंद सेना लेकर उस स्थान के गिर्द बड़ा घेरा डाल दिया जहां संग्रामसिंह की स्थिति सुनी थी और स्वयं दो अर्दली साथ लिए घोड़े पर धीमी चाल से चलने लगे। अकस्मात् दो आदमियों ने दोनों अर्दलियों को दबा लिया और तीसरे ने साहब बहादुर को घोड़े से नीचे फेंककर पिस्तौल दिखाई। साहब ने डर के मारे घड़ी, जंजीर, नोट रुपये सब कुछ डाकू की भेंट कर दिए। तब डाकू ने जीने के कबूलों में धरे पिस्तौल के जोड़े को सँभालकर सलाम किया और कहा–"संग्रामसिंह को पकड़ने ऐसी असावधानी से न आया करो।" स्वतन्त्र होकर सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब ने जो घोड़े को एड़ दी तो अपने बँगले पर पहुँचकर ही दम लिया।

अब शहर बनारस पर डाकुओं के आक्रमण होने लगे। शहर कोतवाल एक राजपूत–आलमसिंह नामी था। उसने डींग मारी कि एक मास के अन्दर ही संग्रामसिंह को पकड़कर मजिस्ट्रेट साहब के हवाले कर देगा। संग्रामसिंह को पता लग ही जाना था। चार पांच दिन पीछे कोतवाली के बोर्ड पर संग्रामसिंह का इश्तहार लग गया। आलमसिंह को सम्बोधन करके लिखा था–"अब हमारे धावे काशी नगर पर ही हो रहे हैं। चन्द्रग्रहण का स्नान करने भी आऊँगा यदि क्षत्रिय के वीर्य से है तो सामने होना।"

कुछ दिन पीछे चन्द्रग्रहण का नहान था। अपनी माता को गंगा नहलाने के लिए संग्रामसिंह ने दो साथियों समेत मणिकर्णिका घाट का रास्ता लिया। माता को नहला और दोनों साथियों की रक्षा में चलता करके आप उस स्थान की ओर बढ़ा जहाँ आलमसिंह कोतवाल रिजर्व पुलिस समेत, प्रबन्ध के लिए बैठा था। आलमसिंह के लगाए पहरे व्यर्थ गए क्योंकि एक देहाती कम्बल ओढ़े आलमसिंह की ओर बढ़ा ओर चेहरा कम्बल से बाहर निकाल बोला देख! संग्रामसिंह स्नान करके जा रहा है। आलमसिंह चौंक उठा और कुछ बोलने को ही था कि संग्रामसिंह की छुरी बिजली–सी चमक गई। आलमसिंह घबराकर पीछे हटा और संग्रामसिंह भीड़ में अन्तर्ध्यान हो गया। "दौड़ियो, पकड़ियो! वह गया!" अब शोर मचाने से क्या होता

था! बाज तो उड़ गया।

अन्त में जब पुलिस के आने जाने से साधारण मार्ग भी बन्द होने लगे तो तीन जिलों में नई पुलिस भरती करके हजारों पुराने जवानों द्वारा सब रास्ते घेर लिए गए। मेरे पिता भी एक स्थान पर, बहुत–सी पुलिस समेत, नाकाबन्दी किए बैठे थे। पाँच दिन नदी के पानी में घूमने के पीछे संग्रामसिंह पाँच–छः साथियों समेत कुछ भोजन लेने को निकला। उसका एक आदमी पिताजी के हाथ लगा। उससे पता पाकर पुलिस गिरफ्तारी को बढ़ी। संग्रामसिंह आदि एक चमार की झोपड़ी में घुस गए। झोपड़ी को आग लगाई गई। बहादुर राजपूत बाहर निकला। पानी की कमी से बारूद काम का न रहा। बन्दूक रंजक चाट गई। तलवार खींची तो म्यान से बाहर न निकली। इधर पुलिस ने गोलियों की बाढ़ें झोकनी शुरू कर दीं। पांचों साथी गिर गए। सग्रामसिंह ने बन्दूक उलटी पकड़कर उससे लाठी का काम लिया। तीन चार सिपाही आन की आन में बिछा दिए और पिताजी के घोड़े की गर्दन पर चोट लगाई कि जानवर बहुत पीछे हट गया। पिताजी ने पहले अकेले पर गोली चलानी बन्द कर दी थी, अब अपने क्षत्रियत्व के भाव को भूलकर फिर बाढ़ झुकवा दी थी, संग्रामसिंह २४ व २५ गोलियां खाकर गिर गया और उसे बांधकर बनारस के अस्पताल में ले आए। प्रसिद्ध है कि जब अंग्रेज सिविल सर्जन ने उसके पच्चीस घाव देखे और कहा कि अन्त को तू पकड़ा गया तो वीर क्षत्रिय ने उत्तर दिया–"इस प्रकार पकड़ना बहादुरी नहीं, मेरे हाथ में तलवार दे दें और मेरे सम्मुख २० आदमी खड़े करा दें। फिर देखूँ मुझे कौन पकड़ता है।" साहब बहादुर उसकी कड़क से आश्चर्यचकित हो गए। फांसी तो मिलनी ही थी, परन्तु उसे यमपुर पहुंचाकर भी हिन्दुस्तानी पुलिस अफसरों को शोक ही हुआ। एक तो चारपाई पर लेटे हुए संग्रामसिंह के दर्शन मुझे स्मरण हैं जिसे दूसरी बार काशी पहुँचकर मैं याद करता था और दूसरी घटना–

एक नास्तिक जादूगर

से मेरी रक्षा की। काशी में प्रसिद्ध हुआ कि वेदशास्त्र का ज्ञाता बड़ा नास्तिक आया है जिसके दोनों ओर दिन में मसाले जलती हैं। जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है उसके तेज से दब जाता है। मुझे भली प्रकार याद है कि माताजी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थी–इस भय से कि कहीं हम दोनों भाई जादूगर के फंदे

में न फँस जायें। पिताजी ने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्धी अवधूत दयानन्द की थी। माताजी को क्या मालूम था कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जायेगा।

बाँदा में तीन वर्ष और रामभक्ति का मधुर रस

बाँदा में पहुँचकर हमारी शिक्षा का माध्यम बदल गया। बड़े भाई ने मियां जी से फारसी हरूफ सीखे हुए थे। मैं अबजद से निरा कोरा ही था, केवल हिन्दी लिखना पढ़ना जानता था। बाँदा के स्कूल में हिन्दी की प्रतिष्ठा न थी। उर्दू बेगम का ही राज था। उस समय केवल ६ श्रेणियों में मिडल शिक्षा विभक्त थी। भाई तो दूसरी कक्षा में प्रविष्ट हुए और मैं पहली के ही विभाग के योग्य समझा गया। एक तो लिपी भेद और दूसरे बाँदा की झोपड़ियाँ काशी के प्रासादों की याद दिलाती थीं। परन्तु तीन महीनों के पीछे ही मिडल की ८ कक्षायें बन गयीं। तब मेरे भाई तो द्वितीय में ही रहे और मैं तीसरी के योग्य समझा गया।

पाठशाला से बाहर मैं तुलसीकृत रामायण के अतिरिक्त देशभाषा पद्य में महाभारत का अनुवाद भी पढ़ा करता और छुट्टी के दिन युद्ध के पर्व प्रायः समाप्त कर देता। रामचरितमानस से बुद्धू भक्त द्वारा अधिक प्रेम उत्पन्न हुआ। मेरे पिता अब तक शिवपूजा ही करते थे परन्तु बाँदा में उनका सत्संग एक ऐसे रामभक्त से हुआ जिसने उनकी काया ही पलट दी। मैं बीमार हुआ, लोगों ने वैद्य बुद्धू भक्त की प्रशंसा की, भक्त जी बुलाये गए। मैं रोग से मुक्त हुआ और भक्तजी हमारे परिवार के प्रामाणिक वैद्य बन गये।

बुद्धू भक्त जात के बनिये थे। उनकी कहानी विचित्र है। पहले वह बड़े चालबाज और जालसाजों के पुश्तपनाह थे। बीसियों मुकदमे लड़ाये और सैकड़ों झूठे गवाह बनाये, अन्त में एक बार रामायण के उत्तरकांड की कथा सुनकर हृदय में अनुताप का भाव उत्पन्न हुआ। गोस्वामी तुलसीदास जी के हृदयबेधक शब्द काट कर गए और बुद्धू से सर बुद्धू भक्त बन गया। कौड़ी बेचने की दुकान खोलकर आजीविका करली, चिकित्सा बिना पुरस्कार लिए आरम्भ कर दी और नित्य रात को रामचरितमानस की कथा का प्रारम्भ कर दिया।

भक्त जी की भव्य मूर्ति अब तक आँखों के सामने फिर रही है। कुछ लम्बा

दुबला-बदन, चमड़े का आबनूस का सा स्याह रोगन और पगड़ी श्वेत। क्या यह मूर्ति आकर्षण करनेवाली है? परन्तु आँखों का तेज और लबों की निरन्तर मुस्कराहट जले से जले दिल को भी शांत कर देते थे। नित्य रात को भक्त जी उच्चासन पर बैठकर रामचरितमानस खोल लेते। संगत में झाँझ मृदंगादि लेकर चमार और द्विज एक आसन पर बैठते। चाहे क्षत्रिय पुलिस इंसपेक्टर हो चाहे ब्राह्मण डिप्टी कलेक्टर-सबको एक चटाई पर बैठना पड़ता था। पहले मंगलाचरण का एक भजन होता, फिर दोहा सहित एक चौपाई गाई जाती और अन्त में भक्त जी एक चौपाई को स्वरसहित कहकर उसके अर्थ करते और अन्य रामायणों के प्रमाणों से उसका समर्थन करते। वीर रस के प्रसंग में जहां श्रोताओं के हृदय बल्लियों उछल पड़ते वहां करुण रस के आते ही अश्रुधारा बहने लगती।

बुद्धू भक्त के सत्संग का पिताजी पर तो यह प्रभाव पड़ा कि दिनभर पुलिस आफिसर का कर्तव्य पालन करते हुए अपराधियों को गिरफ्तार करते और पुलिस डायरी तैयार करने के पीछे रात को अपराधी और फरियादी थानेदार सिपाही और खलासी सबको एक आसन पर बैठाकर रामायण की कथा सुनाते थे और कभी-कभी यह कथा मुकदमा साफ करने का साधन भी बन जाती। मुझ पर इस सत्संग का प्रभाव अब तक वैसा ही है। अब बाँदा में प्रत्येक आदित्यवार को हनुमान चालीसा का एक टांग के भार खड़े होकर सौ बार पाठ करने के पीछे नमकशून्य भोजन करता था। वहां सनीचर को स्कूल से लौटकर जो बालकांड आरम्भ करता तो आदित्यवार की रात तक लंकाकाण्ड़ की समाप्ति कर देता।

बाँदा का एक सबडिविजन 'करबी' था। उसी के इलाके में चित्रकूट का पर्वत है जिसका रामजीवन के साथ चौदह वर्ष के वनवास में बड़ा सम्बन्ध रहा है। करबी में पुलिस का एक अंग्रेज असिस्टेंट सुपरिण्टेण्डेण्ट इंचार्ज रहता था। वह ६ महीने की छुट्टी पर गया। पिताजी उसके स्थानापन्न हो गये। इस प्रकार मुझे चित्रकूट के सारे दृश्य देखने और करबी के पुराने मराठा राजा के महलों में निवास का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ परन्तु पढ़ाई में फिर विघ्न पड़ गया। ६ महीने में एक श्रेणी पिछड़ जाना पड़ा।

बाँदा जिला में पिताजी तीन बरस तक रहे। इस अन्तर में दो बार वह करबी

भेजे गये। और दोनों बार जहां मेरा साधारण अनुभव बढ़ा वहाँ कितनी बार पढ़ाई में विघ्न पड़ते रहे।

मिर्जापुर में ५ मास और विंध्यवासिनी के दर्शन

बाँदा से बदलकर मेरे पिता फाल्गुन सम्वत् १९२८ वि० में मिर्जापुर पहुंचे। बाँदा से मैं अकेला पिताजी के साथ शिक्रम की सवारी से फतेहपुर की ओर चल पड़ा। फतेहपुर पहुँचकर रेलगाड़ी पर चढ़ना था। मार्ग में ही रात हो आई। फतेहुपर १० मील रह गया था जब घोड़े बदलाने ग्राम में चले गए। पिताजी सड़क पर टहलने लगे और मैं शिक्रम के अन्दर ही पड़ा रहा। अकस्मात् पास के खेत से कुछ लठबन्द निकले। पिताजी के हाथ में पिस्तौल थी। फायर कर दिया और मुझे पुकारा कि दो नाली बन्दूक उन्हें दे दूँ। मैं उठा तो डरता हुआ परन्तु पिताजी को बारूद और छर्रा देते और उनकी बन्दूक की बाढ़ का शब्द सुनते-सुनते डर दूर भाग गया। डाकू भाग गये और घोड़े आते ही शिक्रम चल पड़ी। यहाँ से ही बन्दूक चलाने का शौक हुआ। मिर्जापुर में पहुँचते ही चैत्र के नवरात्र में विंध्यवासिनी देवी का मेला था। पिताजी का खेमा विंध्याचल में जा लगा और मैं उनके साथ ही मेले का आनन्द लूटता रहा। पढ़ाई में यह भी विघ्न था, पर अनुभव वहाँ भी बढ़ा। उसी स्थान में पिताजी के अर्दली सार्जेण्ट जोखू मिसिर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढ़ते उनमें से सात की सिरिएँ मिसिरजी की पेट पूजा के लिए भेंट में आतीं। सात बकरों के सिर मुफ्त, कण्डों की आग मुफ्त, मिट्टी की हंडिया मुफ्त, नमक व हल्दी मुफ्त। हाँ पावभर चून मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जिनते लम्बे उतने ही चौड़े थे, सातों सिरियों का सफाया करके शेष थाली पावभर चून की लिट्टी से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूँदड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हंडिया पकते-पकते पिताजी का नौकर चिमटे से चिलम में आग धर लाया। मिसिर जी आग बबूला हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले-"अरे सरकार! हम अपना धरम कबहूँ नाहीं छोड़ा। अरे! झूठ बुआला, जुआ खेला, गांजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिश्वत लिहा, चोरी दगाबाजी किहा, कौन फन फरेब बाटै जो न हम नाहीं किहा, मुल सरकार आपन धरम कबहूँ नाहीं छोड़ा।" सरकार तो मुस्करा के चल ही दिए और मेरे पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये।

जोखू मिसिर का मामला तो मनोरंजक था, परन्तु थाने की छत से जो एक

राजा की स्त्री को नग्न होकर देवी की पूजा करते देखा– उस दृश्य ने मुझे ऐसे धनाढ्य पुरुषों से बड़ी घृणा दिलाई।

मिर्जापुर में पहला महीना तो देवी दर्शन की भेंट हुआ, फिर गवर्नमेंट स्कूल की तीसरी श्रेणी में प्रविष्ट हुआ। उर्दू और कुछ फारसी तो पढ़ ही रखी थी, मिर्जापुर में अरबी इखतियारी मजमून लेकर फायलातून की टांग भी तोड़ डाली। परन्तु अपनी अरबी के उच्चारण के लिए गला तैयार कर रहा था कि श्रावण संवत् १९२८ के आरम्भ में मेरे पिताजी अव्वल दर्जे के इंसपेक्टर बनाए जाकर और १००/– मासिक विशेष वेतन म्युनिसिपैलिटी से इसके अतिरिक्त प्राप्त कर, काशी बनारस को बदल गए और वहाँ जाकर उन्होंने पंडित रघुनाथप्रसाद कोतवाल के स्थान में शहर की कोतवाली का चार्ज ले लिया।

काशी में दूसरी बार और हकूमत की बहार

अवध रूहेलखण्ड रेलवे का उन दिनों नमूद भी न था न राजघाट का पुल ही बंधा था। माता जी को पवित्र काशी निवास की उत्कट इच्छा थी। मिर्जापुर से मुगलसराय पर गाड़ी बदली, छोटी लाइन पर दूसरी गाड़ी में बनारस स्टेशन पर पहुँचे। प्रात:काल का सुहावना समय, थोडी फुहार पड़ रही थी। कोतवाल साहब के लिए सुन्दर बजड़ा छती हुई नाव तैयार। उसकी ओर चलते हुए गंगा के दूसरे किनारे पंचमंजिले सतमंजिले तक मकान–पर–मकान चढ़े हुए और सबसे आगे माधोदास के धरहरे के मीनार–वह काशी का प्रथम दृश्य कौन भूल सकता है?

दूसरे पार जलसाई घाट पर बजड़ा ने लंगर डाला और हम सब उतरकर मणिकर्णिका घाट पर स्नान के लिए चले गए। सामान डेरे पर पहुँचा और ब्राह्मनाल मुहल्ला के पास रियासत कपूरथला की धर्मशाला में आसन जमा। कुछ काल पीछे ब्रह्मनाल में ही एक खुला चौमंजिला मकान किराये पर लेकर पिताजी ने परिवार उसमें रख दिया।

काशी के देवमंदिरों, बाजारों, घाटियों, गंगापुत्रों, गुण्डों और चाइयों आदि के विशेष गुण वर्णन की यहाँ जरूरत नहीं है क्योंकि आज कोई भी पढ़ा लिखा इन बातों से अनभिज्ञ नहीं है। मंदिरों की भरमार का अन्दाजा इसी से लग सकता है कि काशी में "जेते कंकर ते ते शंकर" प्रसिद्ध है। जिस कपूरथला धर्मशाला में हम टिके उसमें

दो शिवलिंग स्थापित थे। एक नाम को रामजसेश्वर और दूसरे का नाम मथुरेश्वर दोनों कपूथला के बाप बेटा, दीवानों के नाम से प्रसिद्ध थे।

काशी के उस समय के आचार व्यवहार का खुलासा एक लोकोक्ति के अन्दर बन्द कर दिया गया था। जिसके लिखने की आवश्यकता होगी,

रांड, सांड, सीढ़ी, संन्यासी,
इनसे बचै सो सेवे कासी।

काशी में हिन्दू प्राय: अपनी आयु का अन्तिम भाग बिताकर मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा से जाते थे, कयोंकि **"काश्यां मरणान् मुक्ति:"** उक्ति प्रसिद्ध थी। रईस गद्दी से निराश होकर और पुत्रों को सम्पत्ति सौंपकर इसी स्थान में पहुंचकर कहा करते थे कि-

चना चबेना गंगाजल जो भजै कर्तार
काशीपुरी न छोड़िए विश्वनाथ दर्बार

परन्तु व्यभिचारी लोग राँड़ों को भगाकर भी काशीपुरी में ही डेरा लगाते थे। एक ओर बंगाल और दूसरी ओर पंजाब, पूरब और पश्चिम जहाँ से भी कोई व्यभिचारी पुरुष किसी स्त्री के सतीत्व को दाग लगाता वह उसे लेकर सीधा काशी पहुँचता और काशी पहुँचते ही उनको ऐसी मुक्ति प्राप्त होती कि वे अपनी बिरादरी में मिलजुल जाते। इनके अतिरिक्त बिगड़ी हुई विधवाओं ओर अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों से बहुत भय रहता था। इनसे बचकर ही हरि भजन होना सम्भव था।

दूसरे-साँडों की भरमार से बहुत भय रहता था। जिस पुरी के राजा विश्वनाथ का वाहन नन्दीगण, उसमें साँड छोड़ना बहुत ही पुण्य समझा जाता है। आँख बन्द करके चलनेवालों की अकाल मृत्यु का भी भय रहता था।

तीसरे-सीढ़ियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। दृष्टि को सचेत करके न चला जाये तो पग-पग पर गिरकर चोट खाने का भय। प्रत्येक दस कदम के पीछे दो-तीन सीढ़ियाँ उतरने वा चढ़ने को मौजूद। काशी ठहरी शिव के त्रिशूल पर बसी हुई, नीचे सारा पोल और ऊपर पत्थर का फर्श। आँख को ऊँचाई-निचाई दिखाई भी नहीं देती। एक बार गिरे तो महीनों तक गंगास्नान और विश्वनाथ के दर्शन से वंचित रहना पड़ता। और चौथे-सबसे बढ़कर काशी सेवा में बाधक उस समय के संन्यासी

थे। विस्तार से यहाँ जाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु एक और लोकोक्ति से उनका सारा आचार समझ में आ जाएगा–

"जगत् गुरु ब्राह्मन्, ब्राह्मन गुरु संन्यासी,
संन्यासी गुरु चपरासी"

यदि पाठक कल्पना करलें कि चपरासी किस श्रेणी के मनुष्यों के गुरु हो सकते हैं, तो समझ में आ जाएगा कि किस प्रकार संन्यासी स्त्रियों और पुरुषों के भजन में भंग डाल सकते थे।

काशी पहुँचकर कुछ महीनों के लिए मेरा पढ़ना–लिखना फिर बन्द हो गया। काशी की कोतवाली एक नवाबी समझी जाती है। तहसीलदार आते और जाते हैं, कमिश्नर और कलेक्टर भी बदलते रहते हैं, अहलकारों के सिवाय कानोंकान किसी को खबर नहीं होती कि कौन आया और कौन गया। परन्तु कोतवाल का बदलना क्या है, एक विप्लव आ जाता है अमीर से गरीब तक और महात्मा साधु ब्राह्मणों से लेकर लुच्चे बदमाशों तक सब नर–नारी कोतवाल के बदलने से प्रभावित होते हैं। नरम दिल, न्यायकारी कोतवाल आया तो उसकी प्रशंसा के गीत बन जाते और यदि कोई अत्याचारी उस मसनद पर बैठ गया तो स्त्रियां भी गाने लगतीं–

कैसे खेलौं रे कजरिया आए नये कुतवाल

वर्षा ऋतु में काशी पहुँचना हुआ। कजरी का गाना जोरों पर था और हम दोनों भाई नवाबजादे। कोतवाल के द्वार पर रईसों की बग्घियाँ फिटनादि हर पल खड़ी रहती, फिर क्या था, नित्य नये मेलों में जाना ही एक काम था। कहीं लोलारक छट, कहीं दुर्गादेवी (जिसे अंग्रेज "मंकी टेम्पल" कहते हैं) के दर्शन, कहीं गौनहारियों के नाच विचित्र समाँ बँधा रहता था और फिर श्राद्धों के दिनों पूरी, सहारी और अनेक व्यंजनों के साथ फलों का स्वादिष्ट भोजन! पितर पक्ष चल बसा तो रामलीला की सैर में २० दिनों से अधिक व्यतीत हो गये। काशी में वैसे तो कई स्थानों में रामलीला मनाई जाती थी, परन्तु उनमें दो बड़ी शानदार होती थीं, एक तो गंगा पार महाराजा रामनगर के यहाँ और दूसरी असि घाट की ओर महाराजा विजयनगरम् की ओर से। यह महाराजा मद्रास प्रान्त से आकर काशी निवास के लिये ठहरे हुये थे। हमारे लिये अब चांदी सोने के हौदे वाला हाथी नित्य आने लगा और इस तरह मैंने भी जन्म–पत्री

की विध मिलाकर हाथी नशीन की पदवी प्राप्त की।

दशहरा समाप्त हुआ, भरत मिलाप भी हो चुका, नाटी इमली के मिलाप का दृश्य भी हम देख चुके। तब पिताजी का हमारी शिक्षा की ओर फिर ध्यान खिंचा। फारसी पढ़ाने के लिये एक लाला भइया (कायस्थ मुंशी) नियत किये गये, जिन्होंने दस्तूरुलसीबियाँ और एक अन्य पुस्तक का पाठ शुरू कराया। मुंशी साहब गांजे का जबरदस्त दम लगाकर तो हमें पढ़ाने आया करते थे। चिरकाल से आजीविका बन्द थी और मुंशी जी को फिक्र रहती कि कहीं रोजगार का यह दरवाजा भी बन्द न हो जाये इसलिए अपने शागिर्दों को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे। थोड़ा-सा पढ़ लिखकर जब हम उकता जायें तो नित्य नई फड़कती हुई कहानी सुना देते। उन कहानियों को सुनकर सबक याद करने की कब सूझ सकती थी और जब गुरु पाठ सुनना अपना कर्त्तव्य ही न समझे। मुंशी जी ने तो हमें खुली छुट्टी दे रखी थी, परन्तु पिताजी को एक दिन हमारा पढ़ा-लिखा पड़तालने का ख्याल आ गया। तब मुंशी जी की करतूतों का उन्हें पता लगा और हमारे 'उस्ताद' घंटे भर के नोटिस पर विदा कर दिये गये। मुंशी साहब के पीछे मास्टर जी की बारी आई। बाबू देवकीनन्दन करणघण्टा स्कूल के हेडमास्टर थे। कुछ दिनों घर पर पढ़ाकर उन्होंने हमें अपने निजी स्कूल में भरती करा दिया। सम्वत् १९२९ का आरम्भ हो चुका था और यतः इस स्कूल में चौथी कक्षा तक ही पढ़ाई होती थी अतएव मैंने नीचे की ओर उन्नति करके तीसरी के स्थान में चौथी जमायत में ही नाम लिखा लिया। मेरा नाम इस स्कूल में भाद्रपद सम्वत् १९२९ वि० के अन्त तक रहा जिसके पीछे पिताजी की तबदीली बलिया की हो गई। इन नौ महीनों में भी मुश्किल से १२५ दिन स्कूल में मेरी उपस्थिति लगी होगी। होली के दिनों में रंग और अबीर की बहार उड़ाते रहे और पुलिस की घौंस से प्रत्येक प्रकार की रंगरेलियां मनाई। बुढ़वा मंगल के मेले के दिनों में तो किस्ती पर चार दिन रात गुजारे और कोतवाल के बजड़े की बहार उड़ाते रहे। अवारगी की कुछ हद न रही। फिर एक मुसलमान वकील साहब के यहाँ एक लड़की मर गई। मुखबिर ने कोतवाली में रपट दी कि लड़की मार डाली गई है। नायब कोतवाल, होरीलाल ने जाकर लाश (मृतक शरीर) डाक्टरी मुलाहिजे के लिये रुकवा दी। वकील साहब सर सैय्यद अहमद के कॉलिज के हामी थे। कचहरी में पता लगते ही सर सैय्यद अहमद की मदद से उन्होंने

नायब कोतवाल की तहकीकात बन्द करा दी और मेरे पिताजी, नायब कोतवाल और मुखबिर पर फौजदारी नालिश दायर कर दी। मैं फिर उसी मुकदमे के सम्बन्ध में अंग्रेजी पत्र लिखने के काम में लग गया। इधर मुकदमा सेशन सुपुर्द हुआ और उधर सारा घर 'लाल बुखार' का शिकार हुआ। परन्तु बनारस में सैय्यद अहमद के प्रभाव से न्याय की आशा न होने पर पुलिस के इंसपेक्टर जनरल ने हाईकोर्ट इलाहाबाद को हिलाया और जजों ने मुकदमा इलाहाबाद के सेशनकोर्ट में बदल दिया। परिणाम यह हुआ कि पिताजी अपने साथियों सहित निर्दोष समझे जाकर छूट गये, उनका सब खर्चा सरकार से मिला और उनकी बदली जैसा कि लिख चुका हूँ बलिया की हो गई।

काशी में रहते हुये प्रातःकाल गंगा स्नान और विश्वनाथादि के दर्शन के साथ व्यायाम का भी अभ्यास पड़ गया। उस समय गंगा के सब घाटों के किनारे अखाड़े खुदे रहते थे। प्रत्येक अखाड़े का एक उस्ताद था जो कुश्ती लड़वाता था। मैंने दशहरे के दिनों में मिले मेले के खर्च में से कुछ धन बचाकर एक टूटीदार बर्तन खरीदा, जिसे झारी कहते हैं। इसमें देवता पर चढ़ाने के लिए जल भर लिया जाता है। दूसरी एक पीतल की डलिया खरीदी। जिसके ऊपर पकड़ने का दस्ता और बीच में दो कटोरियाँ जड़ी होती थी। एक कटोरी में अक्षत, दूसरी में चन्दन और थाली में फूल और बेलपत्र रख लिये जाते हैं। मैं नित्य प्रातः बाएँ हाथ में डलिया दाहिने हाथ में झारी और बगल में धोती अंगोछा लेकर चल देता। अखाड़े में पहुँचकर सब कुछ अलग रख लंगर पहिन और कुछ डण्ड बैठक करके उस्ताद ने एक जोड़े से लड़ा दिया। फिर पसीना सुखा गंगा में गोता लगा, लंगर(रुमाली) को धोकर लौटते हुए अखाड़े में रख दिया और झारी डलिया लेकर चल दिए। मार्ग के सब शिवलिंगों पर झारी से एक-एक बूंद चुआते हुए विश्वनाथ, सनीचर देवता, महावीर, अन्नपूर्णा और गणेश ढुण्डिराज की प्रेमपूर्वक चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य धूप दीप से पूजा करके घर पहुँचकर जलपान करना-यह नित्य नियम हो गया, जिसमें बिना किसी विशेष विपत्ति के विघ्न नहीं पड़ता था।

काशी में सम्वत् १९२९ का दशहरा हाथियों पर बैठकर फिर देखा। पढ़ना-लिखना सब ताक पर रख दिया और नवाब बेमुल्क बने हकूमत का खालिस मजा चखते रहे, अन्त को जुदाई की घड़ी सर पर आ खड़ी हुई और एक बजड़ा

किराये पर करके सारा असबाब उस पर लाद मैं और भाई आत्माराम, पिताजी के साथ बलिया को चल दिये और माताजी सबसे बड़े भाई के साथ, शेष परिवार लेकर, स्वदेश को प्रस्थान कर गई।

बजड़ा तीसरे पहर तक चलता और यतः गङ्गा के बहाव के साथ जा रहा था, अतः अच्छी मंजिल मार लेता। लगभग ४ बजे, रसोई और रात्रि शयनादि की सुभीता देखकर, लङ्गर डाल दिया जाता। सायँकाल का भोजन खाकर सब सो जाते। पाचक दूसरे दिन के लिए पराठे बना छोड़ता जो दिन के १० बजे अचार मुरब्बे के साथ बड़े स्वादिष्ट लगते।

यह स्मरण नहीं कि कितने दिनों में बलिया पहुंचा, परन्तु एक रात की घटना याद है। उस दिन हमने ऐसे स्थान पर डेरा किया था कि जहाँ एक आश्रम में पुरानी राख बहुत थी और कहा जाता था कि वहाँ किसी ऋषि ने तप किया है। सबसे पहले सबसे छोटा मैं भोजन किया करता था और ६ बजे शाम को घोड़े बेचकर सोता तो दूसरी प्रातः ६ बजे ही हिलने का नाम लेता। उस दिन पास ही एक पुराना वट-वृक्ष देखा जिसकी शाखाएँ दबदब कर ५० वृक्ष बन गये थे, छाया इतनी घनी और फैली हुई थी कि १०० घुड़सवार घोड़ों सहित, लशकर डाल लें तो पता न लगे। मैं सैर करते-करते इस प्राकृतिक छत के नीचे दूर चला गया और ठंडी हवा के झोंको ने मुझे सुला दिया। मेरे साथी दो घंटों तक लालटेनों द्वारा टक्करें मारने के पीछे मुझे वृक्ष के तले से उठा लाए। मुझे छुटपने से ही नई इमारतें और सजे हुए प्रसाद प्रभावित नहीं करते थे, मैं ईश्वरकृत दृश्यों और प्राचीन मंदिरों और खंडहरों की ओर अधिकतम आकर्षित होता था।

शिक्षा का नियमपूर्वक आरम्भ

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्येजेत्सुखम्॥

बलिया इस समय जिला है, उस समय गाजीपुर जिला का सबडिवीजन था। पहुँचकर भी शायद पढ़ाई-लिखाई का अल्ला ही बेली होता परन्तु वहाँ के स्कूल के मुख्याध्यापक बाबू मुकर्जी पिताजी के पास पहुँच गये और यद्यपि उनके स्कूल में चौथी से कम कक्षा न थी फिर भी परीक्षा लेने के पीछे मुझ अकेले की तीसरी कक्षा

बनाई गई। इंगलिश भाषा में मेरी योग्यता बढ़ी हुई थी, इसलिए जहाँ कुछ दिनों पीछे एक अंग्रेज कमिश्नर ने मेरे शुद्ध उच्चारण से प्रसन्न होकर विशेष पारितोषिक दिया था, वहाँ मार्गशीर्ष सम्वत् १९२९ के मध्य में राजा शिवप्रसाद सी.एस.आई. इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स ने परीक्षा लेकर मुझे द्वितीय कक्षा में उन्नति दी।

यद्यपि पढ़ाई-लिखाई में भी कुछ समय लगने लगा, परन्तु सैर और कुश्ती और गतका लाठी सीखने में भी बहुत-सा समय जाता था।

बलिया में सिख खत्री विशेष मालदार थे। पटना साहब की संगत के वे शिष्य थे। उन्हीं में से एक श्यामसिंह कुश्ती लड़ाता और दूसरा अजीतसिंह गतके के हाथ बतलाता। अजीतसिंह पर दस्तार शाहनामे के रुस्तम के चित्र के सदृश बांधता और हाथ में एक गुर्ज रखता था। तलवार हाथ में लिए विरोधी के सामने केवल रुमाल लेकर खड़ा होता और तीन पैंतरों में तलवार छीन लेता।

बलिया में सभ्य सृष्टि

बलिया में सभ्य समाज के सभासद् केवल तहसीलदार, मुन्सिफ, पुलिस ऑफिसर और उनके पढ़े लिखे मातहत समझे जाते थे। शेष प्रजा में लखपति तक की भी कोई गिनती न थी। एक ओर राजपुरुष और दूसरी तरफ उनके पांव तले रोंदी हुई प्रजा, तीसरी तरफ स्वतंत्र समाज का कुछ आस्तित्व ही न था। पिताजी यत: विषयवासनाओं से मुक्त थे इसलिए उनसे सब दबते थे। कायस्थ तहसीलदार और उनके नवाब, मुसलमान मुनसिफ और उनके कनौजिया रिश्तेदार, राजपूत पुलिस दरोगा और सिख हेड मुहर्रिर, सब के सब वैश्यागामी और प्रजा को लूटनेवाले, परन्तु तुलसीदास रामायण पर जो मेरी श्रद्धा थी उसने इस पतित समाज से मुझे घृणा दिला दी।

तुलसीकृत रामायण पर, इन दिनों, एक विशेष घटना ने मेरी श्रद्धा और भी बढ़ा दी। एक रात पिताजी बलिया में ही अपने नित्य नियम अनुसार रामायण की कथा कह रहे थे। मेरी उपस्थिति में पुलिसवालों तथा मुहल्लेवालों के अतिरिक्त एक बड़े मुकदमे की आसामियां भी बैठी हुई थीं। प्रसंग भगवान् रामचन्द्र जी की क्षमा का छिड़ गया और पिताजी ने सिद्ध किया कि यदि मनुष्य अपने पाप को स्वीकार करले तो उससे बढ़कर कोई प्रायश्चित नहीं। भगवान् शरणागत को कभी त्यागते नहीं।

अकस्मात् पकड़े हुए अपराधियों में लम्बा दृढांग पुरुष दोनों हाथ बांध पिताजी के सामने यह कहता हुआ, साष्टांग लेट गया–

स्रवन सुजस सुन आयो प्रभु भंजन भव भीर।

त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुवीर ॥

पिताजी ने खड़े होकर उसे भूमि पर से उठा लिया और कहा–"मुझ, मनुष्य के सिर पर पाप क्यों चढ़ाते हो" उत्तर मिला–" **भगवान् राम तें अधिक रामकर दासा,** मैं आपकी शरण में आया हूँ। सारी कहानी सुनलो" उसने फिर चोरी और खून दोनों को मान लिया और जब उसका 'इकबाल' लिखकर उसके हस्ताक्षर करा लिए गए तो उसके मुख की कांति वर्णन की सीमा को उल्लंघन कर गई थी। मुझ पर उस दृश्य का बड़ा और अपने जीवन में कई बार उसका स्मरण आया।

बलिया में कुछ पढ़ा–लिखा तो, परन्तु नियमपूर्वक शिक्षा का आरम्भ अभी कहा नहीं जा सकता था जिस प्रकार रूखड़ बैरागी बाबा ने अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी थी और गुरु एक भी नहीं बनाया था, इसी प्रकार अब तक मैं भी "लैभज" बना रहा। इधर–उधर की बातें और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सब रगड़ मारी और गुरु किसी एक विद्यालय को भी धारण नहीं किया था। तीसरी बार काशी में पहुंचकर सचमुच विद्यार्थी जीवन का, जैसा कि उस समय था, आरम्भ हो गया।

कुइन्ज (महाराणीवाले) कॉलेज में प्रवेश

पौष सम्वत् १९३० में मेरा प्रवेश कुइन्जकॉलिज में स्कूल 'पाठशाला' विभाग में हो गया। इन्सपेक्टर के प्रामाणपत्र को देखते ही मुझे द्वितीय कक्षा में ले लिया गया।

कुईन्ज कॉलिज जिसे अब बनारस कॉलिज कहकर पुकारा जाता है उस समय के संयुक्त प्रान्त में बड़ी उच्चकोटि का महाविद्यालय था। अवध उस समय सर्वथा अलग सूबा था, परन्तु उधर से भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी बनारस में ही आते थे। क्या महाविद्यालय भवन के सौन्दर्य और गम्भीर प्रभाव की दृष्टि से और क्या विद्यार्थियों की योग्यता की दृष्टि से आगरा, इलाहाबाद, प्रयाग इत्यादि कॉलिज इसका मुकाबिला नहीं कर सकते थे। इंजीनियर ने इमारतें बनवाते हुए व्यय को अनुमान से इतना बेढब बढ़ा दिया कि उसके लिए हिसाब किताब समझना कठिन

हो गया और उस बखेड़े से बचने के लिए उसे आत्मघात की शरण लेनी पड़ी। उसकी कबर कॉलिज के बड़े आंगन के सामने बड़ी सुन्दर बनी हुई है। कॉलिज की दो मंजिलें डेवढ़ी के अन्दर चलकर विस्तृत वाटिका है। कॉलिज सामने है जिसका एक ही बहुत लम्बा हाल है। उसके दोनों ओर नौ-नौ कमरे हैं। मध्य स्थानीय एक ओर के कमरे में उस समय का भारी दो मंजिला पुस्तकालय और दूसरी ओर के दाहिने कमरे में संस्कृत प्रोफेसर के बैठने का स्थान और दूसरी मंजिल में अद्‌भुतालय था। दोनों मध्यवर्ती कमरों की तीसरी मंजिल पर बुर्ज है। जिनमें से एक में सम्वत् १९१४ की राजक्रांति अंग्रेजों की भाषा में गदर में प्रिंसिपल ग्रिफिथ जा छिपे थे। इंगलिश विभाग के सब प्रोफेसर और स्कूल की दो बड़ी जमातों के टीचर तो ११ कमरो में बैठते थे और शेष ५ कमरों में संस्कृत के अध्यापक बैठते थे। पण्डित बालशास्त्री वैदिक और लौकिक साहित्य के, पं० ढुण्डिराज शास्त्री, गणित के और प्रसिद्ध ज्योतिष के धुरन्धर पण्डित वासुदेव शास्त्री भी उन्हीं के अन्तर्गत थे। हाल खुला था और उसके बीच में मार्ग छोड़कर दोनों और पाँचवीं से आठवीं कक्षा तक उसमें मिडल विभाग के विद्यार्थी बैठते थे। प्राइमरी की निचली जमातों के लिए हेड मास्टर साहब ने गवर्नमेंट से रहने के लिए मिली हुई अपनी कोठी किराए पर दे रखी थी, क्योंकि उन्होंने मुहल्ला दशाश्वमेध घाट पर अपना निजी मकान बनवा लिया था। बड़ी वाटिका की समाप्ति पर एक कोने में कुंज में छिपा संगमरमर का मेज और उसी पत्थर का बेंच था जिस पर कागज और पेंसिल धरे रहते थे। चारों ओर वेदों का इंगलिश पद्य में अनुवाद करनेवाले प्रिंसिपल 'राल्फ टी.एच. ग्रिफिथ' कवि थे और जब नए विचार हृदय में उठते तो इसी संगमरमर के बेंच पर बैठकर हृदय के उद्‌गार पेंसिल द्वारा प्रकट किया करते। मैंने दो बार उनकी छोड़ी हुई कविता को पढ़कर अपने आप को धन्य समझा था। परन्तु यह तो कालिज विभाग में आने के पीछे संवत् १९३३ की बात है।

बनारस कॉलिज के प्रिंसिपल और प्रोफेसर

बनारस में विद्यार्थी बनकर मैं संवत् १९३० के पौष मास से लेकर संवत् १९३४ के ज्येष्ठ मास के अन्त तक बराबर रहा। इस अन्तर में केवल संवत् १९३२ का पूरा वर्ष रेवड़ी तालाब के स्कूल जयनारायण कॉलेज में गुजारा, शेष ३।। वर्ष बनारस कॉलिज की चारदीवारी में ही व्यतीत किये। रेवाड़ी तालाब के स्कूल में एक वर्ष

मेहमान बनकर ही काटा, असली विद्यागृह मैं कुइन्ज कॉलिज को ही समझता रहा।

एक बात यहाँ बतला देना आवश्यक है। उन दिनों संयुक्त प्रांत में कोई यूनिवर्सिटी न थी और ना पँजाब में ही। दोनों प्रान्तों के विद्यार्थी एंट्रेंस से लेकर एम.ए. तक की परीक्षा कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अधीन देते थे। हाँ, संस्कृत विद्यालय विभाग अपने आपमें अवश्य स्वतन्त्र था।

कॉलिज प्रिंसिपल ग्रिफिथ साहब थे जो वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद इंगलिश पद्य में करने के अतिरिक्त चारों वेदों के भी अनुवादक थे। पाँच फीट से शायद एक आधा इंच ही लम्बे हों, परन्तु थे नख सिख से दुरुस्त। जैसे वामन आप थे वैसा ही बौना भृत्य आपको मिला हुआ था। उसने भी साहब बहादुर के अनुकरण में गलमुच्छे रक्खे हुए थे। ग्रिफिथ साहब एक टाँग से लँगड़े हो चुके थे। इसका कारण भी विचित्र था। कवि ही तो ठहरे, टमटम इतनी ऊंची बनवाई कि जब एक सड़क से दूसरी सड़क की ओर घुमाने लगे तो गला तार में फँस गया और साहब शेष जीवन भर के लिए लंगड़े हो गए। लँगड़ी टाँग की ऐड़ी जरा ऊंची रखवाते और ऐसी सावधानी से चलते कि देखनेवाले को टाँग का व्यंग प्रतीत न होता। शौकीन ऐसे थे कि नया कोट वा नई पतलून पहरते समय यदि तनिक भी बेढब मालूम तो हुई बाहर के बरामदे में फेंक दी गई। जो भी भृत्य उपस्थित हुआ उसके भाग्य उदय हो गए। बंगले की सजावट जगत् प्रसिद्ध थी। ऐसा कोई हतभाग्य विद्यार्थी होगा जिसने गलमुच्छवाले बौने भृत्य को अठन्नी वा रुपया देकर प्रिंसिपल साहब की अनुपस्थिति में नरम गद्देवाली कौचों और कुर्सियों का आनन्द न लूटा हो। कवि ने विवाह तो किया नहीं था, परन्तु बीच के सड़क की दूसरी ओर कोठी किराये पर लेकर अपनी सदा सोहागिन प्रिया को रखा था। नाजुक इतने कि यदि कोई उनकी ओर बढ़े तो पीछे हटते जाते थे। साधारण पुरुष के मुँह से निकली अपान वायु को सहन नहीं कर सकते थे। प्राय: बोलते बहुत धीरे थे और इसीलिये मिलनेवाले को आगे बढ़ना पड़ता था, परन्तु जब पढ़ाते तो गरज ऐसी होती कि एक-एक शब्द स्पष्ट सुनाई देता। शायद गर्ज की सारी शक्ति का संचय उसी समय के लिए कर छोड़ते थे। मेरे अंग्रेजी प्रोफेसर की बीमारी पर एक बार संवत् १९३४ में उन्होंने मेरी कक्षा को एक सप्ताह तक इंगलिश पद्य पढ़ाया था, जिसे मैं कभी नहीं भूला।

संस्कृत विभाग के उपाचार्य पहले गफ साहब थे जिनका नाम संस्कृत के आन्दोलन में कुछ-कुछ लिया जाता है। ग्रिफिथ साहब के स्थान में, उनके प्रिंसिपल बनने पर, डॉक्टर थीवी जर्मनी से लाए गए। उनकी विद्या और विशेषत: परिश्रम की धूम मची हुई थी। गर्मियों में रात की आंधी में न बुझने वाला लैम्प जलाकर ग्याहर बजे तक उन्हें पढ़ते देख एक आदमी ने आश्चर्य प्रकट किया। उत्तर मिला कि रात को गणित का फिर से अभ्यास किया करते हैं और इस प्रकार किसी पढ़े हुए विषय का ज्ञान बासी नहीं होने देते। आते ही पं॰ बालशास्त्री से दर्शनशास्त्र का पढ़ना और संस्कृतसंभाष का अभ्यास कर दिया। थोड़े दिन पीछे ही षाण्मासिक परीक्षा में संस्कृत के परीक्षक हुए। एक भी अनुत्तीर्ण न हुआ। पहले यूरोपियन थे जिनकी दाढ़ी के साथ मोंछों का भी सफाया मैंने देखा। प्रसिद्ध यह था कि धर्मशास्त्र में उच्छिष्ट की निन्दा देखकर इन्होंने मोंछ मुड़ा ली हैं, जिससे बालों में उच्छिष्ट न फंस जाय।

गणित प्रोफेसर मिस्टर राजर्स भी अपने विषय में निपुण थे और उन्हीं के पढ़ाये हुए उनके शिष्य लक्ष्मीनारायण मिश्र सहायक प्रोफेसर थे और पीछे से गणित, साइंस दोनों के प्रोफेसर हो गए।

इंगलिश के प्रोफेसर किबल प्रिंसिपल साहब की अपेक्षा भी नाटे थे, परन्तु हर समय उनकी नस-नस फड़कती रहती थी और हँसमुख इतने थे कि उनसे पढ़ते हुए विद्यार्थी का जी नहीं उकताता था। परन्तु मेरे होते हुए ही किबल साहब चले गए और उनके स्थान में पलटन की क्लर्की और स्कूल मास्टरी से बढ़ते-बढ़ते चार्लस डाड स्थानापन्न प्रोफेसर होकर आये जिनका सारा बल विद्यार्थियों के उच्चारण शुद्ध करने की ओर लगता था।

इतिहास के प्रोफेसर इंग्लिस्तान से एक सिफारसी युवक बुलाये गए जिनको अयोग्यता के कारण कोई डिग्री न मिल सकी तो उन्हें बनारस कालिज के गले मढ़ा गया। इनको विद्यार्थी बहुत तंग किया करते थे और इनकी इतिहास से अनभिज्ञता की पोल खोला करते थे।

अंग्रेजी के सहायक प्रोफेसर दो हिन्दुस्तानी एम.ए. थे- एक बालकृष्ण भट्ट और दूसरे उमाचरण मुकर्जी। ये दोनों भी अपने विषय में बहुत योग्य थे, जिनमें भट्ट जी तो सदाचार की मूर्ति थे। दोनों ही कॉलिज के अतिरिक्त एन्ट्रेंस की दोनों कक्षाओं

को भी पढ़ाया करते थे। रह गये दो प्रोफेसर उन विषयों के जो गौण समझे जाते हैं। अंग्रेजी उस समय मुख्य भाषा समझी जाती थी। ब्रिटिश गवर्नमेंट के स्कूलों और कॉलिजों में अब भी मुख्य भाषा अंग्रेजी और संस्कृत तथा फारसी अरबी दूसरी वा गौण भाषा समझी जाती है। संस्कृत के उपाध्याय पण्डित रामजसन थे जो प्रिंसिपल ग्रिफिथ को संस्कृत से अंग्रेजी उलथा में भी सहायता देते थे। इसके अतिरिक्त किसी विशेष आश्रय पर इनका ग्रिफिथ साहब पर बड़ा अधिकार था। यही कारण था कि इनके बड़े लड़के लक्ष्मीशंकर मिश्र एम.ए. पास करते ही प्रोफेसर बन गए। दूसरे लड़के उमाशंकर एम.ए. अंग्रेजी में फेल होकर बिजनौर जिला ताजपुर के राजा पुत्रों के अध्यापक नियत होकर भेजे गए और तीसरे रमाशंकर मिश्र एम.ए. परीक्षोत्तीर्ण होते ही पहले बनारस कॉलिज में गणित के सहायक प्रोफेसर और फिर नए अलीगढ़ में स्थापित ऐंग्लो–मुहम्मडन कॉलिज के गणित के मुख्य प्रोफेसर बनकर गये थे।

दूसरे गौण विषय अर्थात् फारसी अरबी के मुख्य उपाध्याय का नाम 'मौलवी साहब' के अतिरिक्त मुझे और कुछ याद नहीं और उस समय भी उनके सब शागिर्द उन्हें मौलवी साहब कहके ही जानते थे। मौलवी साहब ने भी अपने किसी शिष्य को सम्बोधन करते हुए सिवाय 'बरखुरदार' (चिरंजीव) के और किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया। यों तो मौलवी साहब के क्लास में बैठे हुए भी लड़के निचल्ले न बैठते थे, परन्तु जब मौलवी साहब किसी काम के लिए कमरे से आए तो कोलाहल का पारावार न रहता था। मौलवी साहब ने लौटकर बाँह पसारकर घुमाई और कहा–'हश! श! श!!' शागिर्द अपनी–अपनी जगह बैठ गये फिर भी कोई शरारत करता रहता तो हुक्म हुआ–"कामताप्रसाद बेंच पर खड़े हो जाओ।" कामता मुस्कराता हुआ एक पैर बेंच पर और एक भूमि पर ही था कि बोला–"मौलवी साहब! अज खुर्दां खतां अज बुजरगां अता।" अर्थात् छोटे से अपराध और बड़ों से क्षमा बुजुर्ग, प्रेम की मूर्ति मौलवी साहब बोले–"अच्छा बरखुरदार बैठ जाओ।" एक बड़े नटखट लड़के ने भी, जो कई बार बख्शा जा चुका था, ऐसा ही अमल किया। मौलवी साहब बोले–"हर रोज ईद नेस्त कि हलवा खुरद कैसे। लड़का था हाजिर जवाब, हाथ–पैर बांधकर बोला– मेरे बुजुर्गवार मौलवी साहब करमहाये तो मारा कर्द गुस्ताख" मौलवी साहब की आँखे डबडबा आईं, बोलने का साहस न हुआ और इशारे से उसे बैठने की आज्ञा दी। पढ़ाने

के समय भी शोर मचता रहता था, परन्तु जब कोई आवश्यक नोट देना होता तो मौलवी साहब कहते "बरखुरदार! अब मतलब की बात आई। जरा गोश-होश से सुनो" बस सन्नाटा हो जाता। उस समय रुमाल गिरने का शब्द भी सुनाई देता। मौलवी साहब ने नोट लिखा दिया और चहल-पहल वैसी ही फिर हो गई। अपने मौलवी साहब के पैतृक प्रेम का जब स्मरण आता है तो अब भी दिल भर आता है और हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों को देखकर कष्ट होता है। जिस पवित्र भूमि ने दोनों को जन्म दिया, जिसके अन्न-जल ने उन्हें पाला, जिस गंगा के शीतल जल ने शान्ति देने में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई में कोई भेद नहीं किया उस मातृभूमि के पुत्र-आपस में लड़-झगड़ कर माता को सताते हैं यह कैसी कष्ट की बात है। परन्तु जिस समय का मैं जिक्र कर रहा हूं उससे पहले भी संवत् १९२३ में चन्द्रनगर में फ्रांसीसी चीफ जस्टिस 'लुइस जमालियट' ने काशीपुरी में पहुंचकर लिखा था- ज्यों ही मैंने मांझी को अपना बजरा शिवजी के घाट पर बांधने का हुकुम दिया त्यों ही एक घटना ने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों बनारस के घाटों की सीढ़ीयों पर बिना भेद-भाव के इकट्ठे नहा रहे थे। यद्यपि पैगम्बर (मुहम्मद साहब) के अनुयायी सदा मूर्तिपूजा के विरूद्ध और तलवार के साथ युद्ध करते रहे हैं। परन्तु औरंगजेब के शासन काल से पहले वे अपने पराजित शत्रु के पवित्र तीर्थ का मान करते रहते थे।" मेरे सामने काशी में सर सैय्यद अहमद की बदौलत हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर के विद्वेष की बुनियाद पड़ने लग गई थी, परन्तु मेरे पूज्य मौलवी साहब के ढर्रे के मुसलमान उस विरोध को देखकर दु:खी होते थे।

स्कूल (विद्यालय) विभाग के अध्यापक भी अन्य स्कूलों के अध्यापकों की अपेक्षा अधिक योग्य थे, परन्तु मेरे शिक्षकों का वर्णन बिना उस समय के हेडमास्टर की संक्षिप्त जीवनी के अधूरा रहेगा। जहाँ प्रिंसिपल असाधारण पुरुष थे वहां हेडमास्टर भी एक विशेष व्यक्तित्व के स्वामी थे।

मथुराप्रसाद मिश्र, जो अंग्रेजी में हस्ताक्षर करते एम.पी.एम. लिखा करते थे, बनारस कॉलिज की विशेषताओं की जान थे। सर्वसाधारण में उनका नाम था मथुरा मास्टर। उनकी आकृति विचित्र थी। लम्बाई में ६फीट से भी कुछ सिर निकाले हुये, रंग सांवले से भी एक आध पानी चढ़ा हुआ, शरीर के अंजर पंजर गिन लो, सिर पर

पंडिताऊ पगड़ी, पैर में सफेद पायताबे पर हिन्दोस्तानी जूते, चढ़ी हुई धोती लम्बी छोड़े और अंगरखा के ऊपर मान्धाता के समय का लम्बा चोगा फैलाये, उसके ऊपर भी बिना तह खोले दुपट्टा लटकाये डग बढ़ाये जाते देखकर किसे विश्वास आ सकता था कि डॉक्टर वैलेंटाइन से प्रसिद्ध भाषाभाषी अपूर्व विद्वान् के अपूर्व शिष्य बनारस कालिजिएट स्कूल के हेडमास्टर जा रहे हैं। परन्तु जब उनको मिलते ही उनकी आँखों पर दृष्टि पड़ती थी और उनकी धाराप्रवाह वाणी की लहरें चल पड़ती थीं तब समझ आ जाता था कि न केवल अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य का कोष ही उनके अन्दर सुरक्षित है प्रत्युत प्रबन्ध की निपुणता उनके आगे हाथ बांधे खड़ी रहती है। अध्यापकों और विद्यार्थियों दोनों पर उनका तेज छा जाता था और जब कभी वह अपने कमरे से हाल में निकलते तो स्कूल क्लासें तो क्या कॉलिज के कमरों में भी सन्नाटा छा जाता था। वे पढ़ाने के समय सदा खड़े रहते, प्रत्येक विद्यार्थी को उनकी आँखें अपने ऊपर ही गड़ी हुई प्रतीत होती थीं। मथुरा मास्टर न बी.ए. थे और न एम. ए. परन्तु जब भी अंग्रेजी साहित्यसेवी तथा बड़े अफसर भी आ जाते तो इनका शुद्ध उच्चारण और ललित भाषा का प्रभाव देखकर आश्चर्य में रह जाते और सारी बातचीत का ठेका मथुरा मास्टर ही ले लेते। इनका बनाया त्रैमासिक कोष देर तक स्कूलों में काम देता रहा। मैंने एक वर्ष मथुरा मास्टर से पढ़ा है। उन्हीं के कारण बनारस कॉलिज के विद्यार्थी शुद्धोच्चारण और शुद्ध आंग्लभाषा बोलने के लिए प्रसिद्ध थे।

यह था विद्वत्मंडल जिसकी छत्र-छाया में मैंने काशी के अन्दर ३।। वर्ष से अधिक व्यतीत किये, परन्तु शुष्क पुस्तक पाठ के अतिरिक्त मुझे, उन छः घंटों में जो मैं विद्यालय में नित्य बिताता था, इन विद्वानों से एक भी शिक्षा, जीवन सुधार के लिये न मिली। वह शिक्षा की विधि अब तक भारत सन्तान के जीवन को खोखला कर रही है और जो कहीं उसके विषधर प्रभाव को दूर करने का यत्न होता है वह भी पूर्णतया फलदायक नहीं होता।

व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन

मेरे एक स्वभाव का ज्ञान मुझे काशी में "गंगा गये गंगादास यमुना गये यमुनादास" हुआ। बनारस पहुँचते ही मैंने अपने जीवन की सारी गति बदल डाली।

बलिया में तीन महीने के अन्दर ही मैं भोजपुरी बोली और हकूमत के झकोलों से मस्त होकर ठाठ–बाट से सिंह–सरदारों की पोशाक पहिरने लग गया था। बनारस पहुँचकर एक महीने के अन्दर बनारस की खड़ी बोली बोलने लग गया। स्कूल में प्रवेश के पन्द्रह दिनों पीछे ही हकूमत का सारा नशा हिरन हो गया और विद्वानों के विद्यार्थी जीवन की कहानियां पढ़–पढ़कर उनके अनुकरण की चेष्टा करने लगा। बाँके दस्तारे का स्थान बनारसी दुपल्लिया टोपी ने ले लिया, शानदार लबादे के स्थान में अंगरखा पहिर लिया, दुपट्टा बाँकेपन का तिर्छापन छोड़कर गले का हार बना चुस्त चूड़ीदार पाजामे का स्थान सीधे सादे घुटन्ने ने लिया और चमकते हुये सल्मे–सितारों की जूती को ठोकर लगाकर लक्कड़तोड़ बूट पैरों में श्रृंगार बना।

अन्तरीय परिवर्तन

बाह्य परिवर्तन के अतिरिक्त अन्तरीय संकल्पों तथा आशाओं का सारा चित्र ही बदल गया। छः बजे के स्थान में ब्राह्ममुहूर्त में ४ बजे उठकर गंगातीर स्नान के लिये जाता। वहाँ से डलिया झारी लिए विश्वनाथ की सारी परिक्रमा में देवपूजन कर घर लौट आध घण्टे तक शारीरिक व्यायाम कर भीगे चने खाकर दूध पीता और नैत्यिक पाठ की आवृत्ति होती। अढ़ाई घण्टे बराबर स्कूल की तैयारी में लगते। फिर भोजन पीछे स्कूल और वहां से ४।। बजे लौटकर आवश्यकताओं से निवृत्त हो एक घण्टा अन्य स्वाध्याय में व्यतीत होता। सांझ होते ही कुर्ता दुपट्टा ओढ़ हाथ में छाता घुमाता हुआ शहर से बाहर वायु सेवनार्थ भ्रमण के लिए चल देता। वह भ्रमण भी एक प्रकार की कसरत ही थी। एक घण्टे में ४।। मील का भ्रमण खासी दौड़ के बराबर ही है। उन दिनों और उसके पश्चात् चिरकाल तक मैं इतना शीघ्रगामी आंधी की तरह चलता था कि मार्ग में मिले मित्रों को देख तक न सकता था। ७।। बजे घर लौटकर विश्वनाथ बाबा के मंदिर की ओर चल देता और उनके द्वार पर हाथ–पैर धो फिर सब देवमूर्तियों के दर्शनमात्र करके लौटता। इस क्रिया को पूरी किये बिना भोजन नहीं करता था। फिर कुछ टहलते गप–शप उड़ती और नौ बजे से पहले ही सो जाता। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि सन् १८७३ ई० भर एक दिन भी रात को दिये के सामने पढ़ने के लिए मैं नहीं बैठा। यदि शिक्षाप्राप्ति के सारे समय में मैं इस नियम का पालन कर सकता तो आज मैं ऐनकों का गुलाम न बन जाता। गुरुकुल खोलकर कुछ काल

मैंने इस नियम को चलाया परन्तु जब शिक्षा के कार्य में अंग्रेजी कॉलिजों के ग्रेजुएटों से काम लेना पड़ा तो न केवल रात की पढ़ाई पर ही उन्होंने बल दिया, प्रत्युत अंग्रेजी की लियाकत से पास हुये डाक्टरों की सहायता से देशी सरसों के तेल के स्थान में बदबूदार मिट्टी का तैल जलवाना आरम्भ कर दिया। मेरी पहली अनुपस्थिति में यह रिवाज बदला गया और जब लौटकर मैंने नियम चलाना चाहता तो इन नई रोशनी वालों ने लोटे में नमक डालकर कह दिया कि बिना रात की पढ़ाई के पाठ तैयार नहीं हो सकते। यह मैंने स्वयं अपनी आँखे मिट्टी के तैल और अन्धी टाइप वाले अंग्रेजी उपन्यासों के अर्पण न कर दी होती तो शायद अपने ब्रह्मचारी पुत्रों को इस आपत्ति से बचा सकता।

पहले वर्ष के नियमपूर्वक जीवन का वर्णन करने से मेरा यह मतलब नहीं है कि इन बारह महीनों के अन्दर कोई भी नई लहर मेरे अन्दर नहीं उठी। पहिला काम मैंने यह किया कि बनारसी गुण्डों का अनुकरण करते हुये शाम को अपनी कमर में छुरी लगाकर बाहर जाता। माता-पिता से शरीर मुझे सुडौल और हाथ-पैर खुले प्राप्त हुये थे। इसके साथ व्यायाम ने शरीर को गठित कर दिया था। परन्तु यह सब होते हुये भी मैं ऐंठने और बिना कारण किसी से उलझने का अभ्यासी न था बल्कि लज्जा का नमूना बना हुआ था। इस लज्जा का परिणाम ही मेरी दो निर्बलताएं थीं जिनका परिचय मेरी आगे की कहानी में मिलेगा।

प्रथम तो यह है कि-दूसरे के अत्याचारों को बार-बार सहन करता चला जाता हूँ और जब सहनशीलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है तब निवृत्ति की ओर ध्यान देता हूँ। इससे जहाँ पापी को पाप में बह जाने का अवसर मिलता है, क्योंकि वह मेरी क्षमता को निर्बलता समझता है, वहाँ मेरे व्यवहार में अचानक परिवर्तन देखकर मेरे शत्रुओं की संख्या बढ़ जाती है।

दूसरी निर्बलता यह थी (जो बहुत कुछ दूर हो चुकी है) कि जहाँ पहिले से जानी हुई आपत्ति का सामना मैं बड़े कठिन समयों में भी शांति और बल से कर सकता वहाँ अकस्मात् किसी आपत्ति के सामने आने पर मुझे उसका हल न सूझता था।

आँखें खुलने लगीं

अब तक आवारगी का जीवन तो अधिक रहा किन्तु उसमें पाप का प्रत्यक्ष प्रवेश कभी नहीं हुआ। संसार को शुद्ध पवित्र ही मैं समझता रहा। परन्तु अब कुछ घटनाएं ऐसी हुई जिन्होंने हृदय के उस शुद्ध भाव पर ठेस लगानी शुरू कर दी।

पिताजी का मुझ सबसे छोटे पुत्र के साथ जितना प्रेम था उतना ही विश्वास भी था। जिस कोठी में उनका रुपया जमा था उसके मालिक को आज्ञा दे दी कि मेरे हस्ताक्षर पर जितना धन मैं माँगू दे दिया जाय। खर्च की कमी थी नहीं, इसलिए वसन्त पँचमी की छुट्टी होते ही मैं बलिया चला गया। वहां श्यामसिंह और अजीतसिंह तो थे ही, मुहल्ले के सिक्ख, खत्रियों ने हमारे मकान के पास ही एक बैठक में मुजरा कराने की ठानी। मुजरे में वेश्या बैठकर गाती है नाचती नहीं। इन सबने मुझे निमन्त्रण दिया। मैंने उत्तर में कहा कि पिताजी सदा नाच तमाशों से जुदा रहते हैं, मैं उनसे आज्ञा नहीं ले सकता। मुझे उन लोगों ने मुजरे में शामिल होने की विधि बतलाई और पिताजी के सो जाने पर चुपके से उठकर बाहर बैठक में आया और केसरी बाना पहिनकर मुजरे में शरीक हो गया। पहिले तो शंका और लज्जा परन्तु लौंग समेत पान पर पान खाते हुये शंका दूर हो गई। चार घण्टों में मैंने ५० से कम पान न खाये होंगे। ३ बजे चुपके से फिर चारपाई पर लेट रहा। यह पहिला अविश्वास का पर्दा था जो मेरे और पिताजी के बीच में पड़ गया। प्रातःकाल गला सूखकर काँटा हो गया। अपने किये पर पश्चात्ताप भी हुआ परन्तु प्रायश्चित्त करके पिताजी से क्षमा माँगने का साहस न हुआ।

बनारस लौटने पर एक और अनुभव हुआ। मेरे एक मामू ने पिताजी के साथ काशी में आकर दुकान खोल ली थी। मैं आदित्यवार की छुट्टी के दिन उनसे मिलने जाया करता था। मार्ग ठठेरी बाजार में से था जहाँ एक गुण्ड़ों का टोल बैठता था। वह कुछ आवाजें कसते थे जिनकी ओर मैं ध्यान न देता और नीची आँखे किये चला जाता। एक बार एक गुण्डा मेरे पीछे कुछ दूर तक बोलता गया तब मेरे कान खड़े हुये। लौटते हुये उसने मेरे मोढ़े पर हाथ रखा ही था कि मैंने पैर घुमाकर उसके मुंह पर बड़े जोर से थप्पड़ मारा। उसका सिर भिन्न गया। यह कुछ टर्राने को तैयार हुआ और मैंने बलपूर्वक धक्का दिया तो वह पत्थर के फर्श पर चित गिर पड़ा। मैंने तो समझा था कि बदमाश दल मुझ पर टूट पड़ेगा, परन्तु उसी दुष्ट पर सब हँस दिये। भले मनुष्यों को तब हौंसला हुआ कि उसे फटकारें और फिर मार्ग में किसी ने भी मेरी ओर आँख

उठाकर नहीं देखा।

बनारस के गिरे हुये आचार की एक दूसरी घटना से, मुझे प्रत्यक्ष होने लगा। सं० १९३० की गर्मियां आ पहुँची, मई का महीना था। मेरे घर से कॉलिज भवन डेढ़ दो मील दूर था। अन्य स्कूलों का समय बदलकर प्रात:काल हो गया, कीन्स कॉलेज और स्कूल दस बजे से चार बजे तक ही लगते रहे। कारण यह कि प्रत्येक कमरे तथा हाल के दोनों ओर खस की टट्टियों पर पानी छिड़कवाया जाता था। प्रोफेसर और अध्यापक तो बग्घियों और पालकियों में आते परन्तु विद्यार्थी स्कूल पहुँचते हुए पसीना-पसीना हो जाते। तिस पर भी अध्यापक पढ़ाते समय ऊँघते ही रहते। मैंने गर्मियों के लिए इक्का किराये पर कर लिया जो मुझे दस बजे पहुँचा देता और चार बजे स्कूल से लौटा लाता। एक दिन मैं स्कूल की ओर जा रहा था कि मैंने एक विद्यार्थी के पीछे लगे बदमाश देखे। विद्यार्थी के साथ एक नौकर भी उसका बस्ता उठाये जा रहा था। परन्तु हौसला कहाँ जो पाँच-छ: गुण्डों का सामना कर सके। मैंने लड़के को इक्के पर बिठा लिया और गुण्डे मुँह ताकते रह गये। शाम को भी उसे इक्के में ले जाकर उसके घर पहुँचा दिया। तब मालूम हुआ कि उसकी माता के साथ गंगा में संकल्प पढ़कर मेरी माता ने उसे धर्म की बहिन बनाया हुआ है। भाई मेरे पास पढ़ने आने लगा। मैंने उसे कसरत करना सिखाया, तब उसका शरीर दृढ़ होना शुरू हुआ और उसकी अनुचित लज्जा भी दूर होने लगी। स्कूल भी वह मेरे साथ जाने लगा। मेरी मौसी ने समझा कि बच्चे का बदमाशों से छुटकारा हो गया, परन्तु फिर मेरे घर पर ऐसे आदमियों का आना आरम्भ हुआ जिनके आने की आशा न थी। उसमें एक वेदपाठी पण्डित थे जिनकी लम्बी कहानी देकर पुस्तक को बढ़ाना अभीष्ट नहीं। सारांश यह है कि जब उस भाई के विषय में उस पतित पण्डित के घृणित भाव का पता लगा तो मैंने उसे घर आने से रोक दिया और मैं गर्मी की छुट्टी में बलिया चला गया, तब वेदपाठी ने लड़के को उसके सगे भाई के साथ इक्के पर जाते हुए गुण्डों द्वारा उठवा मँगाना चाहा। गुण्डों ने उसे उठवा भी लिया, परन्तु पास ही एक सदाचारी थानेदार कुछ आन्दोलन कर रहे थे। उन्होंने लड़के को उन दुष्टों के पंजे से छुड़वाकर घर पहुंचवाया और उसकी माता ने सदा के लिये उसकी पढ़ाई बन्द कर दी। इस पिशाच वेदपाठी ने अपनी मनोरथसिद्धि में मुझे बाधक देखकर मुझपर ही मेरे धर्म भाई

के सम्बन्ध में लांछन लगाना चाहा, जिस पर उसे उचित दण्ड भी मिला, परन्तु मुझे इस घटना से बड़ा सदमा पहुंचा।

तीसरी घटना एक इन्ट्रेंस के विद्यार्थी के सम्बन्ध में थी। इसका नाम रामलगन मिश्र था। मथुरा मास्टर की तरह यह लम्बा, दुबला और काला था और उन्हीं के अनुकरण के वैसे ही कपड़े पहिरता था। आयु २२ वर्ष की थी, तीन बार इन्ट्रेंस में अनुत्तीर्ण हुआ और दो बार परीक्षा में न बैठा परन्तु स्कूल में बराबर भरती रहा। इसके मारे भी विद्यार्थियों के नाक में दम था। इसने मेरे स्थान में पहुँचकर कुछ कुचेष्टा का यत्न करना चाहा। मैंने उसे फटकार कर बरामदे के नीचे ढकेल दिया। उसने गिड़गिड़ाकर मिन्नत की कि मैं उसकी पोल स्कूल में न खोलूँ। मैंने उसे फिर फटकार दिया और दूसरे दिन उसकी दुर्गति की सारी कहानी विद्यार्थियों को सुना दी। मिश्र जी तीसरे दिन ही नाम कटाकर घर को चल दिए। इन घटनाओं ने मेरी आँखें खोल दीं और तब मुझे मालूम हुआ कि काशी सब प्रकार के व्यभिचार का नरक कुण्ड बनी हुई है। साथ ही वेदपाठी पण्डित के जीवन को देखकर संस्कृत-भाषा तथा विद्या से ही घृणा हो गई। छमाही परीक्षा की तैयारी में सब कुछ भूलकर मैं फिर नियमपूर्वक काम करता रहा।

सन् १८७३ का शेष भाग और परीक्षा में असफलता

वर्ष के मध्य भाग की छुट्टियों में पिताजी को पत्र द्वारा सूचना देकर मैं बलिया चल दिया। डुमरांव स्टेशन का टिकट लिया जहाँ से इक्के बलिया को जाते थे। 'बक्सर' के स्टेशन पर खड़ी होकर जब ट्रेन चल दी तो मेरे कान में शब्द पड़े। कोई पुकार रहा था-" बबुआ मुंशीराम!, बबुआ मुंशीराम!!" यह आदमी पिताजी ने भेजा था। उस प्रान्त में वर्षा बहुत हुई थी और बलिया से डुमरांव १८ वा २० मील तक पानी ही पानी फैला हुआ था। आदमी इसलिए भेजा था कि बक्सर में मुझे नाव पर बैठाकर ले आवे। परन्तु रेल चल दी। डुमरांव पहुँचकर मालूम हुआ कि ईक्का डेढ़ मील जाकर रुक जाएगा और शेष मार्ग में घुटनों से लेकर कमर तक पानी में चलना पड़ेगा। मैंने एक मजदूर को बैग दिया और छोटी दरी भी उसी में डाल दी। फिर पैदल चल दिया। छः बजे प्रातःकाल डुमरांव से प्रस्थान करके एक बजे दिन के गंगा के किनारे पहुँचा जहाँ एक व डेढ मील का पाट था और सामने के किनारे पर बलिया। मजदूर

नाटा था। इसलिये जहाँ जल अधिक आता वहाँ उसके सिर पर थैला रखकर मैं आश्रय दे, उसे चलाता आया। मजदूर को आठ आने पर ठीक किया था। मजदूर को मजदूरी देने के लिए जब जेब में हाथ डाला तो जेब कटा हुआ पाया। जेब कतरने वाले ने छः पैसे ही छोड़े थे। बलिया प्रान्त के दो कृषक दिखाई दिए। इन्सपेक्टर साहब का पुत्र जानते ही उन्होंने मुझे चार रुपये उधार दिये। मजदूर ने काम बहुत किया था। उसे बारह आने देकर बिदा किया और स्नान करके मानसिक पूजा की। फिर पेटपूजा का फिक्र हुआ। मार्ग में एक भड़भूजे की ही दुकान थी जिसमें केवल आठ लड्डू मिले। रुपया दिखाया दुकानदार ने उत्तर दिया कि बाकी देने को उसके पास नहीं है। लड्डू पैसे का एक देता था। छः पैसे देकर उतने ही लड्डू खरीद लिये। लड्डू ऐसे दृढ़ थे कि दांत उन्हें काट न सके। पत्थर पर तोड़कर मुँह में रक्खे तो गले के नीचे नहीं उतरते थे। अस्तु केवल थोड़ा पानी ही पी लिया। फिर बकरियाँ चरती दिखाई दी। चरवाहे से दुहाया तो मुश्किल से आधा सेर दूध निकला। कुछ गुड़ भी मिल गया। गुड़ खाकर दूध पीया। उस समय जो आनन्द आया वह कभी बड़े महलों और गोपाल मन्दिर वाले छप्पन के प्रकार के भोजन में भी नहीं आया था।

कुछ देर पुस्तक पढ़ने में व्यतीत किया क्योंकि कृषक अपने सत्तू डॉटकर सो गये थे। उनके जागने पर पार जाने की चिन्ता हुई। घाट पर तीन बड़ी किश्तियाँ थी लंगर डाले पड़ी थी। परन्तु एक के साथ ही छोटी डोंगी थी। मैं दस रुपये तक किराया देने को राजी हुआ परन्तु किसी मल्लाह ने भी हाँ न की। मैं निराश होकर उस रेतीले मैदान में ही रात काटने की तैयारी कर ही रहा था कि छनछन करता हुआ डाक वाला आ पहुँचा। उसकी छोटी सी डोंगी और खेनेवाला वह अकेला ही रह गया क्योंकि चलानेवाले मल्लाह को पीछे छोड़ दिया। मैंने अपने साथ दोनों जमींदार भी बैठा लिए और उनमें से एक को चप्पे पर लगा दिया। मैं ऊपर के तख्ते पर डाक के थैले के साथ बैठ गया और शेष कृषकों को नीचे बिठा लिया। जब तक डोंगी उथले खड़े पानी पर चलती रही तब तक सबको आनन्द आता रहा, परन्तु तेज धारा में जाते ही डोंगी डगमगाने लगी तो जमींदारों के होश उड़ गए। चप्पेवाला चक्कर खाकर गिरा। मैंने चप्पा सम्भाल कर डोंगी ठीक की और डाकिए को कहा कि पतवार मेरे हवाल कर दे क्योंकि चप्पा पर शायद मैं थक जाऊँ। उसको कुछ संदेह था परन्तु मैंने उसे

जबरदस्ती चप्पे की ओर ढकेलकर पतवार अपने हाथ में ली। अब मांझी ने समझ लिया था कि डोंगी डूबी, परन्तु उसे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मैं ३० व ४० फीट ऊंची लहरों में से उस छोटी डोंगी को साफ निकाल ले गया। परन्तु मैं छोटी नावों में सैर करते हुए बनारस के निपुण मांझियों से पतवार का सम्भालना सीखे हुए था। आठ बजे रात को हम पार किनारे पर लगे। मेरे कृपालु कृषकों के भी होश ठिकाने हुए और मैंने पिताजी की सेवा में पहुँचकर प्रणाम किया।

इस बार की छुट्टियों में शाम को नित्य घोड़े की सवारी होती और हर तीसरे चौथे दिन शिकार की भेंट होती। इसी में मैंने क्षत्रियत्व समझ रखा था क्योंकि दशहरे पर पिताजी हथियारों की पूजा, श्रद्धा से किया करते थे। यह नहीं कि मैं सिंह वा बाघ व जंगली सूअर को मारकर मनुष्य की जान और उनकी खेती की रक्षा करता। मैं केवल निरपराध पक्षियों को धोखे से गोली छर्रे का शिकार बनाकर ही तीसमारखाओं में नाम लिखवाना चाहता था।

छुट्टियों की समाप्ति पर मैं काशी लौटा और परीक्षा की तैयारी में लग गया। उस समय यह शिक्षा विभाग की ही परीक्षा थी और इसमें अनुत्तीर्ण होने वाला इन्ट्रेंस की श्रेणी में उन्नत नहीं किया जा सकता था।

परीक्षा के लिए मेरी तैयारी पूरी थी। नवंबर के अन्तिम सप्ताह में सोमवार को परीक्षा का आरम्भ होकर बृहस्पतिवार को समाप्त होने वाला था और शुक्रवार को मैं अपनी जन्मभूमि "तलवन जिला जालन्धर" के लिए प्रस्थान करनेवाला था। पिताजी की ऐसी ही आज्ञा आई। लिखा था कि मेरे नाते का शकुन पल्ले डाला जाएगा, इसलिए मुझे माताजी के पास पहुँच जाना चाहिए। मुझसे दो वर्ष बड़े भाई साहब का विवाह द्विरागमन त्रिरागमन सब कुछ हो चुका था और मैं अभी कुमार ही था। क्या मेरे पिता ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुभव करने लग गए थे? नहीं, कारण यह था कि जिस देवी कन्या के साथ बिना देखे भाले मेरा नाता किया गया था उसका दैवयोग से देहान्त हो गया। यह समाचार सुनते ही तीन वर्ष पहले जालन्धर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्राम ने अपनी लड़की के लिए मुझे रुकवा लिया था। रुकवाने से मतलब था कि और कहीं नाता न हो। और तो शायद ब्रह्मचर्य के नियमों का उन्हें पता न था परन्तु राय शालिग्राम वर-वधू की आयु में पांच-सात वर्ष

का अन्तर आवश्यक समझते थे क्योंकि ऐसा न होने की अवस्था का बुरा परिणाम वह कई परिवारों में देख चुके थे। अस्तु मैं न विवाह का असली उद्देश्य जानता और न नाते के अर्थ समझता था, मुझे यदि उत्सुकता थी तो माताजी के मिलने की।

सोमवार को अंग्रेजी, मंगल को गणित, बुधवार को इतिहास भूगोल के प्रश्न-पत्रों के उत्तर रीति से लिख आया था। बृहस्पतिवार को फारसी का पहला पर्चा ही ऐसा किया था कि वही मेरे अनुत्तीर्ण होने के लिये पर्याप्त था, परन्तु दूसरा पर्चा हाथ में आते ही सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सुना दिया कि अंग्रेजी के प्रश्न-पत्र पहले निकल चुके हैं इसलिए उस विषय की परीक्षा फिर आगामी सोमवार को होगी। फारसी का दूसरा पर्चा फिर बहुत अच्छा किया और घर आकर विचार किया कि देश को तार देकर परीक्षा के लिए ठहर जाऊं। परन्तु तलवन में तारघर था नहीं और माताजी का प्रेम मुझे खींच रहा था, मैं शुक्रवार की शाम को ही चल दिया और आदित्यवार को प्रातः फिल्लौर रेलवे स्टेशन से उतर उसी दिन मध्याह्नोत्तर तलवन पहुंचकर माताजी से आशीर्वाद प्राप्त किया।

पहली स्वतन्त्र यात्रा

मार्ग में यूँ तो बहुत घटनाएँ देखीं, परन्तु उनमें से दो का वर्णन आवश्यक है। अनुभवशून्य होने के कारण गाजियाबाद के स्थान में मैंने इलाहाबाद का टिकट लिया। न जाने कैसे ख्याल दिल में बैठ गया कि वहाँ पहुँचकर गाड़ी बदलेगी। इलाहाबाद ट्रेन से उतरकर मुसाफिरखाने में आया। बहुतेरा यत्न किया परन्तु उस गाड़ी का टिकट न मिला । सिपाही ने अवश्य कहा कि अठन्नी दो तो टिकट ला दूँ, परन्तु उन दिनों उच्चकोटि की अंग्रेजी पुस्तकें पढ़कर रिश्वत देना अधर्म जँचता था, दो घण्टे पीछे दूसरी गाड़ी आती थी। टिकट बँटने लगा। मुझे समझाया गया था कि यात्रा में किसी का विश्वास न करना। मैंने दरी कन्धे पर डाली थैला बाएँ हाथ में लिया हुआ था इसलिए किसी कपड़े की जरूरत न पड़ी। कानपुर पहुँचते ही सूर्य भगवान् के दर्शन हुए, कमरा भी खाली हो गया। तब पता लगा कि दरी उड़ गई। मैंने बैग खोलकर नई फर्रूखाबादी फर्द निकाली, जिसमें अभी रूई न पड़ी थी और उसे बिछाकर आराम से बैठ गया। शाम को गाजियाबाद पहुँचा, वहाँ से फिर नया टिकट लेकर एक लम्बे कमरे में बैठ गया। कुछ दूर तक भीड़ के कारण जाड़ा न लगा, परन्तु जब सहारनपुर

सब सवारियाँ उतर गईं और मेरे सिवा एक ही अन्य यात्री रह गया तो गुलाबी जाड़ा विदा हुआ और ठण्डक जोर से लगी। अब भला फर्रूखाबादी फर्द से क्या काम चलता। जो नया गवर्नट का रूईदार अंगरखा शकुन के समय पहिरने को दिया था उसे पहिनकर रात काटी। इससे भविष्य की यात्राओं के लिए मुझे बड़ा अनुभव मिला।

दूसरी घटना ने मुझे आगे के लिये अधिक सावधान होना सिखलाया। मुझे लिखा गया था कि फिल्लौर पहुँचने पर बाबा पँजाब दास के यहाँ उतरूँ क्योंकि सवारी आदमी समेत वहाँ मौजूद होगी। उसकी धर्मशाला स्टेशन के पास ही थी। मैं पँजाब दास का नाम तो भूल गया, कुली को कहा कि पँजाबी बाबा के यहाँ ले चलो। वह मुझे एक दूसरे बुर्ज वाले बाबा के पास ले गया। वह तलवन के किसी धनाढ्य के लड़के की प्रतिक्षा कर रहे थे। एक दूसरे ने पूछा कुछ नहीं इसलिये भेद न खुला। विवाहों का जोर था, इसलिये बैलगाड़ी टट्टू आदि तो क्या गदहा भी सवारी के लिये न मिला। मजदूर तो कहीं आप-पास थे नहीं। मक्की की रोटी और सरसों के साग के साथ मक्खन ने आनन्दित कर दिया और छाछ ने उस पर और सुहागा फेर दिया। मेरी प्रेरणा पर बाबा जी साथ जाने को तैयार हो गये, क्योंकि अपने जिस यजमान का लड़का मुझे समझे थे उससे बड़ी भेंट की आशा थी। हम दोनों ने अपनी-अपनी बारी ठहरा ली। दस मिनट थैला बाबा जी के कन्धे पर रहता और दस मिनट मेरे हाथ में। कुछ दूर जाकर बाबाजी थक गये तब उन्हें दम दिलाने के लिये कुछ दूर मैं ही ले गया। फिर मेरे डण्डे में थैला लटकाया गया और दोनों और हम दोनों लगे। गाँव समीप आते ही लड़कों ने "राम नाम सत्य है" की फब्ती सुनानी शुरू की। अन्त को तलवन समीप आया। मैंने एक कुएँ पर अपनी बिगड़ी हुई शान सुधारी और बैग बाबाजी के सुपुर्द करके सीधा अपने घर पहुँचा। माताजी ने मुँह चूमकर बलाएँ लीं, बाबाजी बैग अपने यजमान के घर ले गये जहाँ से बैग समेत उनको हमारे यहाँ लाया गया और दूसरे दिन शकुन के समय जहाँ बाबा पँजाब दास को चार रुपये और मिठाई मिली वहां इन बाबा जी को भी भेंट में उतना ही सामान दिया। "अन्त भला सो ही भला" यह ठीक है परन्तु यदि भूल-भुलइया में दोनों न फँस जाते तो मुझे उस दिन तलवन पहुँचना कठिन हो जाता।

शकुन पल्ले डाला गया माताजी के पास पन्द्रह दिन रहकर मैं पिताजी के

पास चला गया। और वहाँ से बनारस पहुँचा।

बनारस स्कूल में दूसरा वर्ष और अवारगी की दूसरी लड़ाई

अंग्रेजी की संशोधित परीक्षा में मैं शामिल ही नहीं हुआ। उस विषय में शून्य मिलना ही था, इसलिए उन्नति न मिली और मुझे दूसरी श्रेणी में ही रहना पड़ा। मेरे बड़े भाई कहीं अब चौथी जमात से निकले थे। उन्हें भी पिताजी ने बनारस भेज दिया। मुझसे दो वर्ष बड़े होते हुए वह मुझसे निचले दर्जे में कैसे प्रविष्ट होते। पाँच-छः दिन तो उन्होंने सैर में व्यतीत किये। एक दिन आकर उन्होंने बतलाया कि लण्डन मिशन स्कूल में दाखिल हो गये हैं। वह स्कूल प्रातःकाल लगता था जब मेरे स्कूल जाने का समय होता उस समय भाई साहब लौट आते। बारह दिन तो नियमपूर्वक स्कूल गया। फिर पुराने लगभग सब सहपाठियों के ऊँचे दर्जे में चले जाने के कारण उदासी छा गई। जिन पुस्तकों को पढ़ चुका था उसकी घर में तैयारी की आवश्यकता न थी । नये नीचे दर्जे से आये लड़कों के साथ बैठने में भी कुछ लज्जा प्रतीत होने लगी। तक मैंने कबाड़ियों की दुकानों पर चक्कर काटने शुरू किये। वहाँ पुराने अंग्रेजी उपन्यासों की भरमार थी। उपन्यास पढ़कर और भी मन डांवाडोल हुआ। भाई साहब ने मुझे गपशप में फँसाना शुरू किया। एक दिन स्कूल जाने में देर हो गई। जुर्माना लिखा गया। दूसरे और तीसरे दिन सर्वथा अनुपस्थित रहा। चौथे दिन गया तो सारा पिछला जुर्माना दाखिल करने का हुकुम हुआ। मैंने जाना ही बन्द कर दिया और मेरा नाम कट गया, परन्तु न तो इस घटना की पिताजी को सूचना दी और न फिर स्कूल में दाखिल होने का यत्न किया। मई मास में पिताजी को मालूम हुआ कि भाई साहब किसी स्कूल में दाखिल नहीं हुए। केवल सैर सपाटे में ही समय और धन व्यर्थ कर रहे हैं। उनकी भविष्य की पढ़ाई से निराश होकर पिताजी ने उन्हें आज्ञा भेजी कि अपनी धर्मपत्नी को विदा करा लावें। भला जिनके द्विरागमन क्या त्रिरागमन को भी तीन वर्ष से अधिक हो चुके हों उनसे स्कूली पढ़ाई में लगने की आशा कैसे सार्थक हो सकती है। मैंने बहुत से उपन्यास, जीवन चरित्र और यात्रा के इतिहास खरीदे और छुट्टी के दिन समीप आने पर पिताजी के पास चला गया। वहां मैं तो अपने आपको उपन्यासों का नायक कल्पना करके हवाई किले बनाता रहा, परन्तु पिताजी ने यह समझा कि बरखुरदार परीक्षा की तैयारी में दृढ़ता से लगा हुआ है। अपनी असाधारण आँखों की ज्योति पर

अभिमान करके मैंने पूर्णिमा के दो तीन दिन पहले और दो तीन पीछे चन्द्रमा के शीतल प्रकाश में अँधी टाइप के उपन्यास पढ़ने में लगाया। गर्मियों के दिनों में रात को दिये के प्रकाश पर पतँग बलि चढ़ते हैं और गर्मी भी सताती है। दोनों से बचने का यह इलाज था। यह अभ्यास १० वर्ष तक जारी रहा जिससे दर्शनशक्ति को हानि पहुंची।

स्कूल खुलने के दिनों में मैं फिर बनारस पहुंचा। लौटते ही विचार किया कि दूसरे स्कूल में प्रविष्ट होकर द्वितीय कक्षा की परीक्षा दूँ। इसी उधेड़बुन में अक्तूबर व्यतीत हुआ और दशहरा दिवाली भी मनाई गई। इतने में पिताजी, कमिश्नर की कोठी पर मिलने जानेवाले थे। भोजन के पश्चात् पिताजी ने पूछा कि स्कूल कब जाओगे। आज तक झूठे अमल करते हुये भी पिताजी से असत्य भाषण नहीं किया था। उस समय भी सारी सच्ची कहानी सुनाने का विचार हुआ, परन्तु लज्जा ने रोक दिया और मैंने कह दिया कि स्कूल में छुट्टी है। पिताजी एक बजे चले गये। लौटते हुए उनको मेरी कक्षा के लड़के मिले, जिन्होंने मेरे नाम कट जाने का समाचार उन्हें सुना दिया। पिताजी को कितना शोक हुआ होगा, उसका समझना मेरे लिए मुश्किल न रहा, जब उन्होंने ठंडी साँस भरके कहा-" बेटा! मैं तुम पर इतना विश्वास करूँ और तुम मेरा ऐसा अविश्वास करो। यदि दिल न लगता था तो मुझे क्यों न लिख दिया"। यदि मुझे कोई दण्ड मिलता तो शायद मेरा दिल पत्थर हो जाता। परन्तु पिताजी का प्रेम एक तरफ और मेरी अयोग्यता और विश्वासघात दूसरी ओर। दोनों की तुलना ने मुझे आठ-आठ आँसू रुलाया। पिताजी ने मुझे दिलासा देकर अलग तो कर दिया परन्तु मुझे शांति कहाँ थी, मुझे संसार अंधकारमय दीखने लगा। आँसू तो बन्द हो गये परन्तु आँखें पथरा गईं, न भूख और न प्यास। पिताजी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया और मुझे बिलकुल न छेड़ा। मेरे मन में विचित्र उतराव-चढ़ाव हो रहे थे। क्या मुझ पापी के लिए अब परमेश्वर की ठण्डी पवन चलेगी? क्या जल मुझे शीतलता प्रदान करेगा? क्या प्रकाश मुझे मार्ग दिखायेगा? इसी उधेड़बुन में था कि परमात्मा की अपार दयारूपी नियम ने मुझे सुला दिया। प्रात: काल जब नींद खुली तो चिड़ियों को उसी तरह चहचहाते सुना, गंगा में गोता लगाने पर मन शान्त हुआ और तब झारी डलिया लेकर देवपूजा के लिए चला तो शीतल वायु झकोलों ने हृदय फिर प्रफुल्लित कर दिया। विश्वनाथ की परिक्रमा से लौट पिताजी को प्रणाम किया। वह मुझे मथुरा

मास्टर के पास ले गए उन्होंने नाममात्र परीक्षा लेकर फिर मुझे दूसरे दर्जे में दाखिल कर लिया।

परीक्षा में केवल एक महीना बाकी था। मैंने गणित, भूगोल, इतिहास भुला दिया था। मेरे कृपालु मौलवी साहब ने गले पड़कर फारसी की तैयारी तो करा दी। परन्तु चित्त जो चंचल हो चुका था, उसने शेष विषयों की तैयारी न करने दी। केवल अंग्रेजी और फारसी की तैयारी से कुछ हो भी न सकता था। ऐसी अवस्था में अनुत्तीर्ण होना निश्चित था, इसलिए परीक्षा में बैठा ही नहीं और बनारस कालिजिएट स्कूल से नाम कटवाकर अलग हो गया।

रेवड़ी तालाब के स्कूल में एक वर्ष का स्वतन्त्र जीवन (१९३२ संवत)

अब भरती होने के लिए नये स्कूल की तलाश हुई। मेरी ही कोटि के तीन और विद्यार्थी या यों कहो कि सुखार्थी- भी इसी ढूँढ में लगे हुए थे। लण्डन मिशन 'ईसाई' स्कूल तो न जाने क्यों, हमारी नजरों में जँचा ही नहीं। जयनारायण कॉलिज पहुँचकर हमारी मनोकामना सिद्ध होती प्रतीत हुई। इन चारों बिगड़े दिलों का मैं ही नेता था और मुझ उपन्यासों के कल्पित नायक को आकर्षित करने के लिए वहाँ सब सामान मौजूद थे। इस कॉलिज की बेतरतीब खुली इमारत, इसके पास ही जंगल का रास्ता और सड़क के दूसरी ओर पुरानी इमारतें मुझे स्वभावत: अपनी ओर खींच रही थीं। सबसे बढ़कर यह कि कॉलिज कहलाते हुए भी हम सबसे उच्च श्रेणी के विद्यार्थी समझे जा सकते थे। इस संस्था का नाम तो कॉलिज था, परन्तु कॉलिज की सब श्रेणियाँ टूट चुकी थी और सबसे ऊँची कक्षा एन्ट्रेंस की थी। पादरी हबर्ड इसके प्रिंसिपल थे जो केवल इन्ट्रेस को ही इंगलिश साहित्य पढ़ाया करते थे। यह संस्था तो ईसाईयों के अधिकार में थी, परन्तु कॉलिज की कोठी अहाते सहित बंगाली राजा जयनारायण घोषाल ने दान में दी थी इसलिए कॉलिज के साथ उनका नाम चला आता था। स्कूल के चालक तो लकीर पीटते हुए इसे कॉलिज ही कहते चले जा रहे थे, परन्तु सर्व साधारण ने इसका गुणकर्मानुसार नामकरण संस्कार कर छोड़ा था। इमारत के समीप जंगल की ओर एक तालाब था जिसका नाम था 'रेवड़ी तालाब'। जनसाधारण ने इसलिए इसका नाम रक्खा था 'रेवड़ी तालाब का स्कूल' और

कोई–कोई संक्षेप से 'रेवड़ी स्कूल' कहते थे। न तो स्कूल में ही रेवड़ी बंटती थी और न तालाब से निकलती थी। परन्तु नाम यही था।

अच्छा, तो हम पौष संवत् १९३२ के आरम्भ में 'रेवड़ी स्कूल' में प्रविष्ट हो गए। एन्ट्रेंस की शिक्षा में लगभग तीस विद्यार्थी थे। प्रिंसिपल हबर्ड ने दो तीन दिन पीछे हम सबकी अंग्रेजी भाषा में परीक्षा ली। हम चारों बिगड़े दिलों की अंग्रेजी में योग्यता सबसे बढ़कर निकली। यदि गणितादि में भी परीक्षा होती तो शायद हम में से एक भी इस कक्षा में न रहता। परन्तु प्रिंसिपल हबर्ड का सम्बन्ध अंग्रेजी के साथ ही था। हमारे लग्गे के पांच विद्यार्थी ही और निकले। इसलिये एन्ट्रेंस की कक्षा के दो विभाग किये। 'क' विभाग में हबर्ड साहब के चुने हुए नौ और शेष सब 'ख' विभाग में।

अब हम चारों को एक वर्ष के लिए रेवड़ी स्कूल की मशीन के पुर्जे समझ लीजिए। इससे बढ़कर विश्रामघाट मुझ आवारागर्द को इन दिनों कहाँ मिल सकता था। प्रिंसिपल साहब हमें नित्य अंग्रेजी पढ़ाते थे जिसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता था। एक मास पीछे इनके स्थानापन्न होकर पादरी ल्यूपोस्ट आये, अर्थात् बूढ़े शाँत पादरी हबर्ड का स्थान जवान कट्टर पादरी ने लिया। वह अधिकतर अपने सम्प्रदाय के प्रचार में लगे रहते और हमारी कक्षा को सप्ताह में केवल दो बार पाठ पढ़ाते हुए शेष दिन के लिए उस अन्तर में स्वतन्त्र छोड़ देते। मुझसे वह अधिक प्रसन्न थे, क्योंकि मैं उनके बतलाए प्रमाणों को अपने विस्तृत स्वाध्याय के कारण शीघ्र समझ लेता था। हमारे गणित के अध्यापक काली बाबू अपने विषय के योग्य ग्रेजुएट थे परन्तु इनकी आँखे लज्जा से नीचे रहतीं। अपने शिष्यों से कभी लज्जा के मारे कुछ न पूछते और इसलिए हमारी उन्नति व अवनति का उन्हें कुछ भी पता न लगता। क्लास में कौन उठ गया, कौन आया और कितने उपस्थित हैं, इसका काली बाबू को ज्ञान न होता। इतिहास और भूगोल की तैयारी प्रिंसिपल साहब ने हम पर छोड़ दी थी। कुछ परिश्रम की आवश्यकता तब होती यदि द्वितीय भाषा फारसी लेता।

मैंने इसका भी झगड़ा मिटा दिया और उर्दू को द्वितीय भाषा स्थिर किया। उर्दू के उस्ताद एक शौकीन हकीम साहब थे जिनकी बजादारी की एक दुनिया में धूम थी। इलाज न जाने कोई उनसे कराता था या नहीं और उससे उनको क्या मासिक आय

होती थी इसका किसी को ज्ञान न था। स्कूल से अलबत्ता उनको ४० रु० मासिक मिलते थे। आप हंसोड़ तो थे ही कुछ शायरी की टाँग भी तोड़ा करते थे। हकीम साहब थे आदमी को समझने वाले, इसलिए मुझसे पढ़ने-पढ़ाने की बात तो छेड़ते न थे, सारा घण्टा मनोरंजक बातचीत में ही व्यतीत होता। यदि मैं किसी अन्तर में कभी अनुपस्थित न हुआ तो वह हकीम साहब का घण्टा था।

इतना स्वतन्त्र समय जो हमारे पास था उसका व्यय हम कैसे करते थे? प्रथम तो सारी इमारत का दो-तीन चक्कर काटकर किसी न किसी अध्यापक को तंग करते और अधिक समय मिलता तो पास के जंगल का पत्ता-पत्ता छान मारते। जब हम जंगल की सैर को जाते तो मास्टरों को बड़ी प्रसन्नता होती, क्योंकि हम लोगों की अनुपस्थिति के समय उनके पढ़ाई के काम में विघ्न न पड़ता, ऐसी अवस्था में स्कूल से अनुपस्थित होने की जरूरत ही क्या थी? स्वतन्त्रता सीमा उल्लंघन कर चुकी थी, परन्तु एक और घटना इस समय हुई जिसने स्वच्छन्दता को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया।

अन्धविश्वास के जीवन की समाप्ति

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जघन्यानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

जहाँ प्रातःकाल गंगास्नान से पहिले कुश्ती का फिर प्रारम्भ हो गया था और डलिया झारी लेकर विश्वनाथादि की पूजा अर्चन करके जलपान करना नित्य कर्म विधि का एक अंग बनाया गया था वहाँ सायंकाल भ्रमण के पीछे मैं रात्रि का ब्यालू करता था। पौष १९३२ के अन्त में एक दिन भ्रमण करने ऐसी ओर गया जहाँ से मेरा निवास स्थान समीप न था। दूर चले जाने से लौटना ७ बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनों के लिए चला। विश्वनाथ का मन्दिर एक ही गली में है जिसके दोनों ओर पुलिस का पहरा था। मैं विश्वनाथ की ओर से फाटक पर पहुँचा तो पहरेवालों ने मुझे रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि रीवा की रानी दर्शन कर रही हैं उनके चले जाने पर द्वार खुलेगा। मुझे कुछ खिसियाना-सा देख पुलिसमैन ने, जो मेरे पिता की अर्दली में रह चुका था, मोढा बैठने को रख दिया। मैं एक पल को बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गए। इस रुकावट से मेरे दिल पर ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी

नहीं कर सकती। जी घबरा गया और मैं उठा और मैं उलटा चल दिया। पहरेवाले ने बहुत पुकारा परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मैं कपड़े पहिरे ही बिस्तरे पर लेट रहा हूँ। कह दिया कि भोजन नहीं करूगाँ। नौकर मेरे आग्रह करने पर स्वयं खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्न पर प्रश्न उठते थे–क्या सचमुच वह जगत् स्वामी का दरबार है जिससे एक रानी उसके भक्तों को रोक सकती है? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है या वे देवता कहला सकते हैं जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो? परन्तु मूर्ति को देवता किसने बनाया? नित्य मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तिया बनाते हैं........" कभी व्याकुल होकर दस मिनट टहलता, फिर बैठ जाता। फिर दूसरी ओर प्रश्नावली की लहर पर लहर उठी–" जब सांसारिक व्यवहारों में पक्षपात है तो देवताओं के दरबार में उसका दखल क्यों न हो। क्या मनुष्यों ने भी पक्षपात देवताओं से ही सीखा?" गोस्वामी तुलसीदास के दोहे और चौपाइयां याद आने लगीं। जब नीचे लिखे दोहे का स्मरण हुआ तो अश्रुधारा बह निकली–

बार-बार वर मांगहूं, हर्ष देहू सि रंग।
पद सरोज अनपायनी, भक्ति सदा सत्संग।।

एक घण्टे तक आँसुओं का तार बँधा रहा, अपने इष्टदेव महावीर से प्रकाश के लिए प्रार्थना की। परन्तु उस समय बालयति के ध्यान से भी कुछ न हुआ। अन्त में रोना–धोना बन्द हुआ और प्राचीन यूनान रोम की मूर्तिपूजा के इतिहास पर मानसिक दृष्टि दौड़ गई। पहिले जो लेख मूर्तिपूजा में रुचि दिलाते थे, उस पर नया प्रकाश पड़ने लगा। हिन्दू मूर्तिपूजा के विरुद्ध ईसाइयों की जो दलीलें पढ़ी थीं उन्होंने मुझे हिन्दू देवमाला से बेगाना बना दिया और आधी रात पीछे यह निचश्य करके सो गया कि अपने प्रिंसिपल पादरी ल्यूपोल्ट से संशय निवृत करूंगा।

दूसरे दिन पादरी ल्यूपोल्ट को मैंने जा घेरा। वह प्रसन्न हुए और मुझे अपनी कलीसिया में लाने के लिए बहुत मगजपच्ची की। मेरे तीन दिनों के प्रश्नों से ही पादरी साहब घबरा गए और मुझे निराशाजनक मामला समझकर उन्होंने छोड़ दिया। नास्तिकपन से मेरा चित्त अभी तक घबराता था। मुझसे अंग्रेजी पढ़ने बनारस संस्कृत

कॉलेज के एक विद्यार्थी आया करते थे। वह दर्शनों का अभ्यास करते और योग्य विद्वान् थे। अंग्रेजी इसलिए पढ़ते थे कि उसके कारण उसकी छात्रवृत्ति तिगुना हो सकती थी। इन्होंने मुझे लघु कौमुदी पढ़नी आरम्भ करा दी। व्याकरण में भी इनकी अच्छी गति थी। उनसे भी एक दिन स्वाभाविक बातचीत हुई। उनकी युक्तियों ने मुझे शान्त तो न किया, उल्टी संस्कृत में कोई अकल की बात ही नहीं और इसलिए अब मैं कौमुदी न पढूंगा। परन्तु पण्डित जी मुझसे सरेस की तरह चिपक गए और थोड़ा बहुत व्याकरण बोध कराके ही मुझे छोड़ा। अस्तु!

यह तो आगे की बात है। सारांश यह कि हिन्दू मूर्तिपूजा से मुझे घृणा हो गई, प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों की दलीलें पोच मालूम हुईं, हिन्दू शास्त्रज्ञ मेरी शान्ति न कर सके, इसलिए कुश्ती और गंगास्नान का नियम स्थिर रखते हुए भी दर्श स्पर्श से मुक्ति मिल गई। परन्तु अश्रद्धा की ओर सर्वथा जाने में झिझक बाकी थी।

एक दिन सिकरौर छावनी की ओर घूमने जाते हुए एक रोमन कैथोलिक पादरी मिल गये। बातचीत करते हुए उन्हें प्रोटेस्टेण्ट पादरी ल्यूपोल्ट की अपेक्षा अधिक विनयशील, शांत और सहिष्णु पाया। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि खृष्टीयत का तत्त्व जानना हो तो कैथोलिक कलीसिया के सिद्धान्तों को समझना चाहिए। उनके चर्च में मेरा आना जाना शुरू हुआ। उनकी धार्मिक संस्थाओं तथा प्रार्थना सभाओं का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। मेरे श्रद्धासम्पन्न चित्त पर फादर लीफ के आचार व्यवहार का भी असर हुआ। मैं यहाँ तक उन पर मोहित हुआ कि रोमन कैथोलिक विधि से बप्तिस्मा लेने को तैयार हो गया। मेरे एक ही मित्र को मेरे निश्चय का पता था परन्तु उन्होंने मुझे रोकने की कोशिश ही न की। फाल्गुन १९३२ संवत् में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बप्तिस्मा लेने की तिथि नियम करने के लिये मैं एक शाम को फादर लीफ की ओर गया। स्वाध्याय के कमरे में वह थे नहीं, मैंने अन्दर कमरे का पर्दा उठाया। पादरी साहब तो वहाँ थे नहीं परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्यवस्त्रधारिणी को ऐसी घृणित दशा में पाया कि मैं उल्टे पाँव लौट गया और फिर उधर जाने का नाम न लिया।

मुसलमानी मत की ओर से पहले ही उदासीन था क्योंकि पिताजी से जो उन लोगों के मुकदमे हुये उनमें आचार व्यवहार कुछ उच्च न देखे गये। मुझे माला और

तस्बीह दोनों से ही और "ईसाई तस्बीह" तीनों से ही घृणा हो गई और कबीर भक्त का गीत कण्ठ हो गया जिसे मैं स्वर सहित गाया करता–

आउंगा न जाउंगा, मरूंगा न जीउंगा।
गुरू के सबद प्याला, हरि रस पीउंगा।।
कोई आवे मक्के लै कोई जावे कासी।
देखो रे लोगो दोहूं गल–फांसी ।।
कोई फेरे माला लै कोई फेरे तसबी।
देखो रे लोगो ये दोनों ही कसबी।।
यह पूजें मढ़िया लै यह पूजें गौरां।
देखो लोगो ये लुट लई चोरां।।
कहत कबीर सुनो री लोई।
हम नाहि किसी के हमरा न कोई।।

मजहब सम्प्रदाय से मेरा विश्वास उठ गया। मेरा मत यह हुआ कि मजहब एक ढकोसला है जो चालाक बुद्धिमानों ने आँख के अन्धों और गाँठ के पूरों को फाँसने के लिये गढ़ छोड़ा है। मैं अपने आपको पक्का नास्तिक समझकर अपने स्वभाव अनुसार उस पर भी वेग से बह निकला।

पूजा, दर्शन का अंकुश दूर हो चुका था, अब श्रद्धाहीन होने के कारण गंगा–स्नान पर क्यों निष्ठा रहनी चाहिये थी परन्तु नहीं, जो स्वभाव बन चुका था उसका प्रभाव कैसे दूर होता? प्रातःकाल का उठना, कसरत, कुश्ती और गंगा–स्नान बराबर जारी रहे।

माताजी की प्रेमभरी गोद से सदा का बिछोड़ा

शायद वैशाख मास में माताजी तलवन से बलिया जाती हुई मेरे पास ठहरी थी। उस समय उनके सिर में एक भयंकर फोड़ा था। ज्येष्ठ के मध्य में छुट्टी होते ही मैं बलिया पहुँचा और माताजी के दर्शन किये। बलिया उपनगर को गंगा काट रही थी। हमारा पुराना मकान गंगाजी की भेंट हो चुका था और नया मकान नगर के अन्तिम सिरे पर किराये पर लिया था उसके साथ टकराकर गंगा बह रही थी। इन दिनों माताजी ने मेरे साथ अत्यन्त प्रेम का परिचय दिया। अधिक समय मुझे उन्हीं के पास रहना

पड़ता था। फोड़े में फिर से पीप भर आई थी और उन्हें अपने बचने की आशा नहीं रही थी। चलते समय मुझे उस निर्बल अवस्था में ही गोद में बिठाकर चूम लिया, आशीर्वादपूर्वक सकुन पल्ले में डाल मुझे विदा किया। मेरे आँसू निकल पड़े और मैं बड़ा उदास बनारस लौटा।

परन्तु युवकों को उदासी देर तक नहीं सताती। मैं माताजी की बीमारी को भूल गया और रेवड़ी स्कूल के कमरे और आंगन फिर हमारी खिलखिलाहट से गूँजने लगे। मास्टरों का फिर नाक में दम होने लगा। अब तुलसीदास रामायण तो तह करके रख दी गई और उर्दू साहित्य में प्रवेश होने लगा। उर्दू शाहनामा कई बार समाप्त किया। फिसाना ए अजायब की भी सैर की, हातिमताई की कहानी और उर्दू शायरों के कलामों में गोते लगने लगे। कविता सम्मेलनों, मुशायरों में भी जाने लगे।

श्रावण मास के अन्तिम सप्ताह में प्रसिद्ध भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के यहाँ एक दक्षिणी मार्तण्ड नामी पण्डित आये। वह शतावधानी थे। एक ओर दस बारह लम्बे चौड़े हिसाब, दूसरी ओर बीज गणित और त्रिकोणमिति के कठिन प्रश्न, तीसरी ओर विविध प्रश्न और साथ-साथ बातचीत। यह सब कुछ करते हुए क्रमानुसार सबके ठीक उत्तर देना। बाबू हरिश्चन्द्र कवि भी अद्वितीय समझे जाते थे। सारस्वत ब्राह्मण कक्कूजी के पुत्र ने मेरा उनसे परिचय कराया और उनके यहाँ मेरा आना जाना आरम्भ हुआ। उर्दू शायरी से प्रेम हो चुका था, हिन्दी कविता का भी रस मिलने लगा। परन्तु इन दोनों का मेरे जीवन पर अच्छा असर नहीं पड़ा।

रामचरितमानस के स्वाध्याय ने मेरे आचार-व्यवहार की आवारगी के दिनों में भी रक्षा की थी। परन्तु उर्दू कवियों और भारतेन्दु की संगति में मानसकि पवित्रता का भाव ढीला पढ़ने लगा। सामने से कोई सुन्दरी आ रही है। उसको देखते ही उसके शरीर, वस्त्र, चाल, ढाल पर भारतेन्दु जी ने कविता कहना आरम्भ किया और उसके सामने पहुँचने तक पूरा हो गया। कविता का तो यह आदर्श समझा जाता था परन्तु ब्रह्मचर्य, सदाचार और मानसिक पवित्रता पर कुल्हाड़े की चोट लगाई जाती थी। आश्विन के आरम्भ में मेरी अवस्था कुछ डाँवाड़ोल हो चुकी थी, हाँ स्काट के उपन्यासों का पढ़ना मैंने आरम्भ कर दिया था। रात को न पढ़ने के नियम को मैं तोड़ चुका था और सचमुच इन उपन्यासों को आधी रात तक चिराग जलाकर पढ़ता रहता।

स्काट के आचारसम्बन्धी विचारों ने उस अपेक्षा या अन्धकार के समय में भी मेरी रक्षा की। ऐसी अवस्था में एक और घटना हुई जिसने मुझे बचाया।

आश्विन का दूसरा सप्ताह आ पहुँचा और मैं एन्ट्रेंस परीक्षा की तैयारी के लिए हिला तक नहीं। ऐसी अवस्था में मेरे भाई मूलराज, जो मिर्जापुर में नायब कोतवाल थे, माताजी की बीमारी का तार लेकर मेरे पास आये। उसी दिन ४ बजे मेरे नाम तार आया जिससे ज्ञात हुआ कि माताजी का देहान्त हो गया। मैं ऐसा ज्ञानविमूढ हो गया कि न मुँह से आह निकली और न कुछ बोला। आँखें पथरा-सी गई। आँसुओं ने भी मस्तिष्क हल्का न किया। इष्टमित्र गंगास्नान के लिए ले गये, मेरे मित्र सिंह जी ने १५ दिन की छुट्टी के लिए प्रर्थना पत्र लिखकर मेरे हस्ताक्षर करा लिए। मुझे गंगा पार रेलवे स्टेशन पर ले गए, भ्राताजी ने हाथ पकड़कर गाड़ी में बिठा लिया, मुझे कुछ भी सुध-बुध न थी। भाई साहब रो धो चुके थे, इसलिये सो गये। मैं बराबर जागता बैठा रहा। प्रातः डुमरांव उतरे, इक्के पर बैठाया गया, चुपचाप बैठ गया। भाई साहब ने मेरी समाधि को हिलाने का यतन किया परन्तु उनको सफलता न हुई। मार्ग में इक्के का कुछ बिगड़ा और डेढ घण्टा अधिक लगा। दो बजे भाई मूलराज समेत भूख-प्यास से बेसुध बलिया उपनगर से बाहर छप्परों में पहुँचा जहाँ अन्तिम घर गंगा मैय्या की भेंट होने पर पिताजी जा बसे थे। इन्हीं छप्परों में माताजी का देहान्त हुआ था। पिताजी को अन्य दो भाईयों और मित्रों सहित शोकगृह में बैठे देखकर एक आह निकली और रोता हुआ मैं उनके चरणों में गिर पड़ा। आँसुओं का समुद्र उमड़ आया। दो घण्टे पीछे होश आया और शरीर की असाधारण खैंच दूर होकर हलका हो गया।

माताजी की अन्तिम इच्छा का ज्ञान होते ही मुझ में गम्भीरता आ गई। अन्तिम श्वास के दो घण्टे पहिले पिताजी का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा- "एक ही इच्छा मन में रह गई। अपने मुंशी का विवाह मैं अपने हाथों से करती। आप भूलना मत मेरे प्यारे बच्चों का विवाह उसी हौसले से करना जैसे मैं करना चाहती थी। मैं तो उस दिन प्रतीक्षा कर रही थी जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मैं अपनी पुत्रवधू सहित उसका ऐश्वर्य देखूँगी। अच्छा भगवान् की यही इच्छा है तो यही सही।" इसके पश्चात् पिताजी गीता का पाठ करते रहे और माताजी ने बिना कोई और बात किये, प्राण त्याग दिये।

जब क्रिया-कर्म से निवृत होकर माताजी की इच्छानुसार ब्रह्मभोजन और कंगालों को अन्नदान भी दिया जा चुका तो मैं काशी लौटने को तैयार हुआ कि १० अक्तूबर के पीछे परीक्षा की फीस न ली जाएगी तो घड़ियाँ मुहूर्त शोधकर मुझे आशीर्वादपूर्वक विदा किया।

परीक्षा की सरतोड़ तैयारी

बानरस लौटते ही मैं स्कूल में गया और प्रिंसिपल साहब के कमरे के साथ लगता जो पुस्तकालय का कमरा था वह हम चार कालीजिएट स्कूल से आये हुओं ने परीक्षा की तैयारी के लिए माँग लिया। जिन मास्टर साहब के पास पुस्तकालय की ताली थी वह खिसियाने होकर बोले-"साल भर तो नाक में दम कर दिया अब भी नहीं मानते। फेल होकर मुँह काला होगा तो हम तमाशा देखेंगे। हम चारों ने यह सुनते ही दृढ़निश्चय् कर लिया कि परीक्षा में उत्तीर्ण अवश्य होना चाहिए।"

हमारी तैयारी कुछ भी न थी और घरू परीक्षा की आज्ञा हो गई। हमें भय हुआ परन्तु प्रिंसिपल महोदय को हमारी योग्यता पर इतना विश्वास था कि परीक्षा ही न ली और हमारी फीस रजिस्ट्रार को भिजवा दी। तब तो हम दृढ़ता से तैयारी में लग गए। इस तैयारी में मेरे केवल १९ दिन लगे। मेरा उन दिनों का समय विभाग यह था-सांझ को एक घण्टा घूमकर ब्यालु "सांझ का भोजन" करना। पूरे सात बजे पढ़ने के लिए बैठकर दो बजे तक बराबर इतिहास के घोटने और रेखागणित के प्रश्न में लगते थे। फिर सोकर छः बजे उठना, कसरत करके घर में स्नान और डेढ़ दो घंटे तक रात के याद किए इतिहास पर एक दृष्टि घुमा जाना-इतने नित्य नियम के पीछे भोजन करके स्कूल ठीक १० बजे पहुँच जाया करता था। दस बजे से पुस्तकालय के कमरे में अंक तथा बीजगणित के प्रश्न चारों मिलकर हल करते। जहाँ कहीं कठिनाई होती, कृपालु काली बाबू उसे हल कर देते। अंग्रेजी तो सारा ही साल करते रहे थे-आवश्यकता से बढ़कर उसकी तैयारी थी। उर्दू के दोहराने की कुछ जरूरत ही न थी। भूगोल तो नक्शे के सामने आधा घण्टा नित्य परिश्रम करने से अपना बन गया। पुरानी परिक्षाओं के प्रश्न भी हमने हल किये बिना न छोड़े।

जब परीक्षा में चार दिन शेष रह गये तो हमारे प्रिंसिपल महोदय ने एक व्याख्यान दिया जिसमें परीक्षा के सब नियम बतलाकर कहा कि परीक्षा से एक दो

दिन पहले परिश्रम छोड़कर आराम लेना चाहिए जिससे उत्तर लिखते समय शरीर स्वस्थ रहे। मैंने अपने प्रिंसिपल की शुभ सम्मति का इतना आदर किया कि परीक्षा से तीन दिन पहले ही पढ़ना-लिखना छोड़ व्यायाम, मटरगश्ती, भोजन और आराम में सारा समय व्यतीत किया किया। मेरे साथियों ने अन्तिम घण्टे तक पढ़ना नहीं छोड़ा। फल यह हुआ कि जहाँ मैं सैकण्ड डिविजन में प्रथम रहा, वहां मेरे मित्र सिंहजी तो थर्ड डिविजन में निकल गये, परन्तु शेष दो साथी अनुत्तीर्ण रहे। जब हम दोनों रेवड़ी स्कूल के अध्यापकों से मिलकर विदा हुए तो दोनों ओर से बड़े उत्तम भावों का प्रकाशन हुआ था।

कुइन्ज कॉलिज में पहिले छः महीने
(माघ से आषाढ़ संवत् १९३३ तक)

कॉलिज की प्रथमवर्षीय कक्षा में प्रवेश से पहले ही कुछ परिवर्तन आ चुके थे जिन्होंने मुझे उन दिनों के खयाल के अनुसार कॉलिज जीवन के योग्य बना दिया था। परीक्षा के पीछे जब बड़े दिन की छुट्टियों में बलिया गया तो तलवन के नत्थूमल रोजगार की तलाश में पिताजी के पास आये हुए थे। उन्होंने मुझको हुक्का पीना सिखलाकर पिताजी की कृपा का प्रत्युपकार किया। १५ दिनों में ही सारी घृणा दूर हो गई जो पहिली कश खींचते हुई थी और कॉलिज में दाखिल होने से पहिली ही मैंने फर्श पर शानदार पेचवान लगावाकर अकेले ही महफिल गरमाना शुरू कर दिया। मित्रमण्डल के लिये भी गौरइए मट्टी के हुक्के अलग-अलग नाम लिखे रहने लगे और धीरे-धीरे मेरी बैठक का कमरा हुक्काइयों का अड्डा बन गया और शाम को दरबार होने लगा।

इन्हीं दिनों एक रात किसी मित्र के यहाँ सहभोज था। भोजन और हाँ! हूँ! करते रात अधिक व्यतीत हो गई। दस बजे घर की ओर लौटा। आधी मील तेज चलते हुए भी पाव घण्टा और लग ही जाना था। मैं अपने मकान की ओर जब अन्तिम गली की मोड़ से निकला तो आगे छती हुई गली थी उसके नीचे एक गुण्डा छुरी लिये किसी पर वार करने की घात में खड़ा था। मुझ पर शायद उसी व्यक्ति का उसे सन्देह हुआ। बढ़कर उसने एक हाथ मेरे सिर के पीछे रखा और दूसरे हाथ से माथे की बांई ओर छुरी भूंक दी। गुण्डे का हाथ गर्दन पर जाने की देर थी कि मेरा हाथ भी अपनी

कमर की छुरी पर पड़ा और अभी उसकी छुरी मेरे माथे पर आधा काम ही कर सकी थी कि मेरी छुरी उसकी छाती पर जोर से पड़ी। गुण्डा मुझे छोड़कर भाग खड़ा हुआ। मेरे माथे से लहू बहने लगा। मकान समीप था पहुंचते ही पण्डित जी ने रेशम जलाकर मेरे घाव में ठोसा और मुझे गरम दूध पिलाकर सुला दिया।

यह पण्डित जी कौन थे? यह बतलाना आवश्यक है। मेरे मकान की मालकिन एक धनाढ्य खत्री साहूकार की विधवा थी। पति के मरने पर कोई सन्तान न थी और अपनी युवावस्था। जायदाद, सम्बन्धियों की आर्थिक सहायता और गुप्त भोग-विलास में बेचकर समाप्त की। अब भी बुढ़ापे में अपने रहने का बड़ा और मेरे पास किराये पर छोटा-दो मकान शेष थे और बहुमूल्य आभूषण थे जिनको बेच बेचकर गुजारा करती थी। मेरी मरहम-पट्टी करनेवाले इसी विधवा के कारिन्दे थे, पण्डित रामधीन। मैथिल ब्राह्मण थे और कुछ चिकित्सक होने के अतिरिक्त जादूगर भी प्रसिद्ध थे। आगे इनका भी प्रसंग आयेगा।

कुछ तो ऊपर लिखित कारणों और कुछ रेवड़ी स्कूल में एक गुण्डे से, कुछ बंगाली विद्यार्थियों की रक्षा करने के कारण, मैं कालिज में प्रविष्ट होते ही एक विशेष दल का नेता बन गया। इस समय अंग्रेजी के स्थानापन्न प्रोफेसर डाड ने नियमपूर्वक डिग्री न ली थी। वे लेभज्ज ही थे। एक समय पाठ में एक ऐतिहासिक घटना का जिक्र आया जो साधारण ऐतिहासिक पुस्तकों में न मिलता था। डाड साहब ने उस संकेत की व्याख्या दूसरे दिन पर छोड़ी। मैंने उसी समय एक ऐतिहासिक उपन्यास लाकर वह घटना दिखला दी। कॉलिज में मुझे अंग्रेजी में कुछ परिश्रम नहीं करना था। शेष इतिहास, न्याय और फारसी मेरे लिए कठिन न थे। गणित में विशेष परिश्रम करने लगा। बीज और रेखागणित का तो ऊपर से ही अभ्यास करता रहा परन्तु त्रिकोणमिति से मेरी आरम्भ में ही अनबन हो गई। मैंने अंक, बीज, और रेखागणित के द्वारा ही एफ.ए. पास करने का निश्चय लिया।

मेरे कॉलिज के मित्र

पहिली छमाही के अन्दर ही गाढ़ी कम्पनी की बुनियाद पड़ गई थी। उसके सभासदों का परिचय यहाँ ही करा देता हूँ। पशुपति शरणसिंह तो रेवड़ी स्कूल से ही मेरे साथ आये थे। उनके पिता नेपाल रेजिडेंसी के हेडक्लर्क थे। वह पीछे स्वयं पिता

के स्थान में नियत हुए। उन्नति करके अलवर के नायब रेजिमेंट और रायबहादूर तथा सी.आई.ई. बनकर उनका देहान्त हुआ। जब संवत् १९५१ में मैं अलवर गया था तो वह मुझे मिले थे और अपने बंगले पर ले जाकर पुरानी मित्रता को ताजा किया था। इनका नाम सिंहजी रखा हुआ था। दूसरे पक्के सभासद् दयाशंकर जी थे। सिंहजी राजपूत और दयाशंकर जी कायस्थकुलभूषण। इसके पितामह तथा पिता महाराजा बनारस के यहाँ नौकर थे, इसलिए उनको दीवान जी की उपाधी दे छोड़ी थी। सिंह जी साँवले और लम्बे थे, दीवान जी नाटे और गौरे। सिंहजी की दाढ़ी लम्बी काली। दीवान जी की चौगिर्द भूरी। सिंहजी का मुख गम्भीर, दीवान जी का शरीर सुडौल, दृढ़ और बड़े हँसमुख और धार्मिक दिल्लगीबाज। उनके मजाक में कभी अश्लील विचार व शब्द की गन्ध नहीं होती थी। बी.ए. पास करके यहाँ तक बढ़े कि महाराज बनारस के यहाँ सचमुच के दीवान हो गये और फिर बनारस के स्पेशल मजिस्ट्रेट। बिछुड़ने के पीछे संवत् १९५२ में भागलपुर जाते हुए मैं उन्हें मिला था। हमारा तीसरा सभासद् हरिपद मुकर्जी था। रेवड़ी स्कूल में एक अक्खड़ विद्यार्थी के अत्याचारों से मैंने कुछ बंगाली लड़कों को बचाया था, उनमें हरि मुख्य था। वह मेरा मित्र बन गया और एक दिन मकान पर ले गया, उसके पिता कलकत्ता में कारोबार करते थे और पितामह काशी निवास के लिए बंगाली टोला में टिके हुए थे। उन्हीं के कारण हरि काशी में रहता था जैसे लाहौरी टोला पँजीबियों का मुहल्ला था वैसे ही बंगाली टोली बंगालियों का मुहल्ला था। हरि के वृद्ध पितामह ने जब सुना कि उसके पौत्र की मैंने रक्षा की थी तो मेरे साथ उनका स्नेह हो गया। हरि हमारा कोषाध्यक्ष था क्योंकि घर से अधिक धन इसी को मिलता था और इसलिये हमारा "गाढ़ी कम्पनी" का शेष कभी खाली नहीं रहता था। पुरानी मित्रता को नवजीवन देकर मेरे पास दो-तीन महीने के लिए गुरुकुल आने को ही थे कि उनका देहान्त हो गया। चौथा एक परचून के दुकानदार खत्री का भाई था जो रेवड़ी स्कूल में सहपाठी होने के कारण परिचित हुआ। दुकान में दोने बनाते और साथ-साथ इतिहास रटते और इस पर भी भाई की लातें खाते देखकर मेरी दृष्टि में इनका मान बढ़ा। एन्ट्रेंस परीक्षा की फीस के दस रुपये तक भाई ने न दिये। तब हम दोनों, मैं और सिंहजी ने चन्दा करके उसकी फीस दाखिल कर दी। संस्कृत में अभी से इतना योग्य था कि श्लोक बना लिया करता था। इस विचित्र व्यक्ति का नाम

रामकृष्ण था और हम लोग इसको आपस में मलवा कहकर पुकारा करते थे, परन्तु गाढ़ी कम्पनी से बाहर में मल्लजी की उपाधी दे रक्खी थी। बी.ए. में फेल होकर क्योंकि अंग्रेजी में सदा कच्चे ही रहे, इन्होंने अकाउण्टेण्ट बनने के लिये परीक्षा दी और अनुत्तीर्ण रहे गणित में जिसके वह उस्ताद थे। चाकरी से घृणा हुई और तब व्यापार की ओर लगे। आप भी धनी बने और भाई को भी अमीर बना दिया। इन्हीं ने पहिले ताश शतरंज पर पुस्तकें छपवाई थीं और फिर प्रेस खोलकर 'भारत-जीवन' अखबार चलाया। इनको अन्तिम बार मैं सन् १८८६ में मिला था। अब वह भी भौतिक शरीर को त्याग चुके हैं।

पाँचवें गंगाप्रसाद थे जो घर पर बी.ए. की तैयारी कर रहे थे। उनका परिचय सिंहजी द्वारा ही हुआ था और वह हमारे नित्य के साथी भी न थे। यह ग्रेजुएट होकर मुन्सिफ बन गये थे और फिर कभी मुझे नहीं मिले। सिंहजी छुटकी छोटी पियरी में रहते थे, गंगाप्रसाद भी उसी मुहल्ले के निवासी थे। इसके सिवाय पण्डित रामजसन का घर भी उसी पियरी में था और उनका हमारे सिंहजी के पिता से बहुत गाढ़ा सम्बन्ध था इसलिये उनके यहाँ मेरा जाना भी हुआ।

पण्डित रामजसन के तीसरे पुत्र रमाशंकर मिश्र उन दिनों एम. ए. की तैयारी कर रहे थे। उनका विषय गणित था। सिंहजी से गाढ़ी कम्पनी का हाल सुनकर वह भी उत्सुक हुये और उन्हें भी अस्थिर सभासद् बनाया गया, अस्थिर सभासद् इसलिये कि वह नित्य हमारे भ्रमण में शरीक न होते थे। रमाशंकर एम.ए. होते ही बनारस कालिज में गणित के स्थानापन्न प्रोफेसर बने। वहाँ से सर सैय्यद अहमद ने उन्हें अपने मुहम्मदन एंग्लो ओरिएण्टल कॉलिज में पूरा प्रोफेसर नियत करके बुलाया। फिर वह स्कूलों के बड़े निरीक्षक बनाये गये और अन्त में रियायती हिन्दुस्तानी सिविल में लिये जाकर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटी तक पहुँचे थे। इन्हें मैं सन् १८७९ में अलीगढ़ मिला था। फिर भेंट न हुई और अब उनका भी देहान्त हो चुका है।

वह थी गाढ़ी कम्पनी जिसका निर्माण सन् १८७६ की पहली छमाही में हुआ। हम लोगों ने अपनी नई सांकेतिक भाषा गढ़ी थी, जिसमें 'चंगत-मंगत और पंगत' आदि शब्दों के प्रकरणानुकूल बीसियों प्रयोग होते थे। हम सबमें दो उपन्यास लेखक बने, एक दीवान साहब और दूसरा मैं। दीवान साहब ने तो अंग्रेजी उपन्यास

लेखक डिकेन्स को पथप्रदर्शक बनाया और मैंने सर वाल्टर स्काट को गुरु धारा। आदित्यवार को दिन में मेरे घर पर दरबार लगता जहाँ हुक्का पीते हुए केवल ताश और शतरंज के ही सांमुख्य न होते, हमारी शतरंज क्लब, जिसके प्रधान प्रसिद्ध अम्बिकादत्त व्यास और मंत्री बाबू रामकृष्ण थे, केवल लन्दन के चित्रमय पत्र में दिए शतरंज के प्रश्नों के हल करके कभी-कभी पारितोषिक प्राप्त न करती, प्रत्युत हम दोनों नाविल नवीसी में कलम घिसने वालों की करतूतों की भी पड़ताल होती। उस दिन चक्कर भी लम्बा लगता। पहली छमाही समाप्त हुई। अब मैं कॉलिज में था इसलिये एक के स्थान में दो मास का बृहदावकाश मिला और मैं पिताजी के पास बलिया चला गया।

बलिया में अन्तिम दो मास

बलिया में गया तो था अपने पास पुस्तकों की जबरदस्त तैयारी के मन्सूबे बाँधकर और उपन्यास के लेख पूरा करने का विचार भी था। परन्तु यह सब तो कुछ नहीं उल्टी आवारगी बढ़ गई। जाते ही दारोगा हाफिज अली के बुलाये पहलवानों के दंगल देखता रहा। फिर गणित को ताक पर रखकर केवल ऐतिहासिक पुस्तकों और उपन्यासों के देखने में ही समय नष्ट होने लगा। शाम को चक्कर काशी की अपेक्षा भी लम्बे लगे। बलिया में हिन्दुस्तान मुन्सिफ और तहसीलदार के अतिरिक्त एक अंग्रेज जन्ट साहब की कचहरी थी। रिचार्ड इवन्स उन दिनों जन्ट साहब थे और उनको भी सायंकाल के भ्रमण का व्यसन था। मेरी उनसे मार्ग में भेंट होती। मेरे साथ अंग्रेजी साहित्य की बातचीत कर उन्हें प्रसन्नता होती। क्योंकि वहाँ उन दिनों अन्य कोई भी उनके विचारों के साथ सहानुभूति रखने वाला नहीं मिल सकता था। स्काट के वह भी भक्त थे और मेरी तरह ही अविवाहित। परस्पर औपन्यासिक भंग गाढ़ी छनती थी और शायर का यह कहना ठीक घटता था-"खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।"

इस बार बलिया में आनन्द तो बहुत रहा, हवाई किले भी आश्चर्यजनक बनाता रहा, परन्तु दो प्रकार की हानि भी हुई। एक तो मुन्सिफ साहब के साथ घोड़ा गाड़ी में सैर के लिये जाने से प्रातःकाल का व्यायाम बन्द हो गया और दूसरे बलिया से चलते समय मुझ पर उदासी छा गई। ज्वर की ऋतु भी आ गई थी और बनारस पहुंचकर कोई मित्र न मिला। सिंहजी बीमारी के भ्रम में फँसकर अपने गाँव चले गये

थे, हरि कलकत्ते चला गया था और दीवान साहब के साथ बहुत गाढ़ा सम्बन्ध नहीं हुआ और मल्लजी तो शुष्क चीनी आटे का भाव बतलाने वाले ही थे। मुझे ज्वर के कारण कुछ निर्बलता हो गई और मैं दशहरे की छुट्टियों से एक सप्ताह पहले ही अवकाश लेकर फिर बलिया चला गया।

इस बार आनन्द के स्थान में कुछ मानसिक कष्ट ही रहा और मैं उकताकर लौटना चाहता था कि पिताजी के नाम लार्ड लिटन वाले दिल्ली दरबार के पुलिस कमान अफसर के पास जाकर काम करने का हुक्म आया। उन दिनों शिक्षा विभाग की प्रान्तीय परीक्षाएँ नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में होती थीं। पिताजी ने मुझे आज्ञा दी कि परीक्षा से निवृत्त होकर मैं भी उन्हें दिल्ली मिलूँ और यदि मेरी यह इच्छा पूरी हो जाती तो शायद उस जादूगर (ऋषि दयानन्द) के पंजे में फँस जाता जिससे दस बरस पहले माताजी ने मुझे बचाने का प्रयत्न किया था। परन्तु मुझे तो अभी बहुत ठोकरें खानी थीं, इसलिये डुमरांव पहुँचते ही पिताजी को तार मिली कि वह दिल्ली न जायें क्योंकि एक डाके के मुकदमे में उनसे सहायता लेने की आवश्यकता है। पिताजी बलिया लौट गए और मैं काशी पहुँच गया।

काशी में अन्तिम बार (सन् १८७६ के दशहरे से जून १८७७ ई० तक)

पापसागर में डूबने की कहानी

निवास स्थान पहुँचते ही मित्रों के यहाँ चक्कर लगाया। सिंहजी अब तक गाँव में थे और कोई मिला नहीं क्योंकि दशहरे की छुट्टियां बाकी थीं। मैंने अखाड़े में जाना और गंगास्नान फिर आरम्भ कर दिया। उसी स्थान में उस सरल पवित्र भाव के नाश के समान पैदा हुये जिसे माता के स्मरण और पिता के जीवन दृष्टान्त ने नास्तिकपन और आवारगी के भयानक समय में भी सुरक्षित रक्खा था। अभी दो दिन कुश्ती की थी, तीसरे दिन प्रातः नियत समय पर गया तो अखाड़े में सुनसान थी पूछने पर पता लगा बृहस्पति का अनध्याय है। मैंने सोचा कि गंगा किनारे ही एक आध मील टहलूँ तो स्नान करके घर लौटूँगा। धोती आदि घाटिये के पास रख दी और राजघाट की ओर चल दिया। मनिकर्णिका से आगे बिन्दासिंह पहरेवाला मिला। उसके पूछने पर आगे जाने का कारण बतला दिया। कुछ दूरी पर सेंधिया घाट है। वह गंगा की बाढ़ से हिल चुका था और उसके नीचे एक गुफा-सी बन गई थी। उसमें कुछ काल से एक

नंगा साधु रहता था जो एक समय ही भोजन करता था। और वह भी नियम से जो पहले भोजन लाता उसी को स्वीकार करके फिर शेष किसी की भेंट स्वीकार न होती। इसलिये सैकड़ों स्त्री–पुरुष उत्तम भोजन तैयार करके ले जाते। अस्तु! सेधिया घाट के पास पहुँचा था कि चीख की आवाज सुनाई दी। दौड़कर गुफा के पास गया तो किसी स्त्री का सिर बाहर धरती से लगा और उसकी दोनों बाहें द्वार के दोनों ओर गड़ी हुई दिखाई दी। अन्दर कोई उसको खींच रहा था और वह बाहर निकलने का यत्न कर रही थी। मैंने जाकर लातें चट्टान में मजबूती से लगाई और दोनों बाहुओं को दोनों हाथों से पकड़कर खींचने लगा। परन्तु अन्दर का पिशाच बड़ा बलवान् और कामान्ध प्रतीत होता था। बेचारी अबला का दम घुट रहा था। मैंने बिन्दासिंह को पुकारा। उसने आकर मुझे दृढ़ता से पकड़ लिया और मैंने दुष्ट को डाँट बतलाते हुए उस विवश पीड़ित देवी को बाहर खींच लिया। उसकी आयु १६ वर्ष से अधिक न थी। मैंने उस मुर्छित देवी को अलग किया तो एक अधेड़ स्त्री पास आ गई। मैंने उसे पहचाना कि हमारे कुल के परिचित एक खत्री ऐजुएट की भौजाई है। मेरे परिचित ग्रेजुएट का कल्पित नाम देवीप्रसाद समझ लीजिये पता लगा कि जिस देवी के सतीत्व की रक्षा की गई वह देवीप्रसाद की दूसरे विवाह की स्त्री है। यह पीछे से पता लगा के पति महाशय तो वकालत परीक्षा की तैयारी में अलग लगे रहते और भौजाई को यह फिक्र है कि उनकी देवरानी के सन्तान होनी चाहिए। इसलिए ३ बजे तड़के ही खोए की मिठाई और पूरी आदि का थाल हाथ में देकर सरल हृदय राजरानी को गुफा में भेजकर बाहर खड़ी हो गई। राजरानी के कपड़ों के चिथड़े उड़ गये थे, शरीर में रगड़ों से लहू बह रहा था और वह काँप रही थी। मैंने बानात की चादर ओढ़ी हुई थी। उससे देवी का सारा शरीर ढक दिया और भीड़ जमा हो रही थी, उससे बचा दोनों देवियों को घर पहुँचाकर देवीप्रसाद को चौकन्ना कर आया।

घाट पर लौटा तो उस नंगे पिशाच को जूतों की मार पड़ रही थी और पुलिस के जमादारादि आ गये थे। एक भली देवी की इज्जत का सवाल था। मेरे कहने पर उस पिशाच से नाक रगड़वा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नहीं लौटेगा, पुलिस वाले उसे राजघाट से पार पहुँचा आए। परन्तु समाज की विचित्र अन्धी श्रद्धा का मुझे पता उस समय लगा जब सन् १८८१ ई० के अगस्त मास में गाजीपुर

जाते हुए मैंने बनारस ठहरकर उसी दुष्ट पिशाच को घाट मार्ग में नंगे बैठे और स्त्री–पुरुषों को उसकी उपस्थेन्द्रिय पर जल–पुष्पादि चढ़ाते देखा। प्रयागदत्त जमादार से जब पूछा तो उत्तर मिला अरे बाबू! धर्म का मामला ठहरा। अंग्रेज हाकिमों कतरा जात बाटैं।

इस घटना को मैंने सरल पवित्र भाव नाश का सामान क्यों लिखा। घटना तो मेरे मन और आत्मा को उच्च बनाने वाली थी, परन्तु नास्तिकपन की लहर और पुराने अंग्रेजी उपन्यासों के विचित्र आचारशास्त्र ने मन की अवस्था बदल छोड़ी थी। मैंने अपने आपको एक वीर रक्षक समझ लिया जिसने एक पीड़ित देवी की रक्षा की। अब उस अबला देवी को अपनी प्रिया की उपाधी मन ही मन में दे ली और अपने आपको उसका सदा का रक्षक कल्पना कर लिया। उन्हीं दिनों मेरे मामू महाशय ने मुझे कुछ–कुछ मद्यपान का अभ्यास शुरू करा दिया था। अब तो मैंने मद्यवीर का पूरा रूप धारण कर लिया। यदि उस रामायण पर से श्रद्धा न गई होती जिसमें सीता के आदर्श पतिव्रत पर मैंने बार–बार अश्रुधारा बहाई थी। तो मुझे निश्चय है कि उस गड्ढ़े से बच जाता जिसमें गिरने के पीछे मुझे घोर प्रायश्चित करने पर ही शांति प्राप्त हुई थी।

यदि अपने प्राचीन इतिहास पर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्रीजाति का रक्षाबन्धन भाई बनकर उनकी रक्षा का व्रत लेता। परन्तु मैंने तो अपनी सभ्यता जङ्गलीपन और अपने साहित्य को मूर्खता का भण्डार समझ रखा था, फिर उनसे मुझे सहायता कब मिल सकती थी।

दो तीन दिन बीत गये। मेरे पास के मकान में, भोई बीबी के यहाँ, एक सम्बन्धी अपनी युवा पत्नी सहित ठहरा हुआ था। दशहरे के प्रातः विजय दशमी का नहान था। चार घड़ी रात रहते ही मैं धोती उपरना बगल में ले गंगा जाने के लिए निकला। दो कदम नहीं था कि एक युवा स्त्री भीड़ से घबड़ाकर दूसरी ओर से इधर हुई एक दुष्ट ने इधर उस पर हाथ डाला। मैंने देखते ही जोर से उसके मुँह पर थप्पड़ मारा और वह दीवार के आश्रय गिरता–गिरता बचा। वह स्त्री घबराई हुई आगे जाने से डरती थी। मैं उसे अपने मकान में ले आया और तब पता लगा के उसके पति आगे निकल गए हैं। मैं उसे छोड़कर गंगा तीरे गया। उसका पति उसे तलाश कर रहा था। मैंने उसे शान्त किया और नहा–धो उसको साथ लाकर उसकी पत्नी से मिला दिया।

मेरा नौकर दो दिन से छुट्टी पर था। मैं पूरी लाकर खाना चाहता था। दोनों पति-पत्नी भोई बीबी के यहाँ से मेरे मकान में आ गए। भोजन उसी महिला ने बनाया और हम सबने खाया। मेरे मकान के नीचे बड़ी बैठक थी जहां आदित्यवार का विशेष और नित्य साधारण दरबार लगता था। उसके ऊपर मंजिल में उतना ही बड़ा कमरा था जिसमें सोया और पढ़ा करता था। तीसरी छत पर एक ओर रसोईघर और दूसरी ओर चौबारा था। मैं अपनी बैठक में चला गया। तीसरे पहर उस सधवा स्त्री का पति दशहरा देखने चला गया। मैं सिंहजी को लेकर दशहरा देखने जाना चाहता था, परन्तु उनको अभी बीमारी का भ्रम था और वह फिर गाँव को जा रहे थे। उन्हें गाँव के लिए विदा करके उदासीन हो, ६ बजे के लगभग घर लौट आया। उस समय प्रलोभन में फँस गया। हाँ! बरसों की कमाई एक घण्टे में डूब गई। उस रात मैंने भोजन नहीं किया। रात को व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रात: रामचरितमानस का फिर स्मरण आया। गंगास्नान के पीछे कह दिया कि मैं अपने मित्र के ग्राम को जाता हूँ।

बड़ी से बड़ी आवारगी में भी जो मन और शरीर शुद्ध रहे थे वे अशुद्ध हो गये। धोती कुर्त्ता पहिने था ही, सिर पर टोपी रक्खी, गले में दुपट्टा छोड़ा और हाथ में धोती उपरना समेट बैग लेकर चल दिया। सिंह जी के घर से मार्ग दिखाने के लिए उनके भृत्य को साथ लिया। वह सीधा मार्ग दिखाकर लौट गया। ग्राम चार कोस था। बारह बजे पीछे, बिना अन्न-जल किये, अपने मित्र से जा मिला और जाते ही अपनी गिरावट की कहानी सुनाई। मित्र को अपनी बीमारी भूल गई, मुझे शान्त करने में लग गये। सब सुनकर मुझे निर्दोष बतलाया। इस बार तसल्ली कठिन थी। सिंहजी स्वयं विवाहित थे और गम्भीर भाव के सदाचारी। उन्होंने विवाह से पूर्व की अपनी व्यवस्था सुना और पाप का प्रायश्चित बतलाकर मुझे शान्त किया मेरे आत्मिक रोग की चिकित्सा में धर्मभाई का शारीरिक रोग आप दूर हो गया। दूसरे दिन इक्ट्ठे ग्राम में रहे, तीसरे दिन हम दोनों लौट आए। फिर कॉलेज जाना आरम्भ किया और गाढ़ी कम्पनी के लम्बे भ्रमणों में सब कुछ भुला दिया।

काशी लौटने के दूसरे दिन देवीप्रसाद मिले। मालूम हुआ कि मेरे पीछे दो तीन बार आ चुके हैं। उन्होंने बतलाया कि उनकी धर्मपत्नी मुझे भोजन के लिए निमन्त्रण देती है। मैं झिझका तब उन्होंने कहा कि अपनी भौजाई की करतूत देखी वह

भाई से जुदा हो गए हैं और अब अपनी माता के साथ रहते हैं। असल मतलब परिवार का यह था कि मेरा धन्यवाद करे। मैं दूसरे दिन उनके यहाँ गया, परन्तु कुछ फल लेता गया। प्रात: सीताहरण की कहानी फिर से पढ़ आंसू बहा, हृदय को शुद्ध कर चुका था। जाते ही फल रखकर कहा–"बहिन राजरानी! तुम्हारे लिए फल लाया हूँ।" राजरानी पर इसका क्या असर हुआ उसका वर्णन उसके पति ने किया। फिर दीवाली के पीछे भाईदूज आई। मेरी यज्ञोपवीत के समय धर्म बहिन उस समय काशी में न थी। वह प्रत्येक भाईदूज पर मेरे माथे में टीका लगा, हाथ में मौली बांध, पल्ले में मिठाई डाला करती थी। मुझे धर्म बहिन का कुछ ख्याल आया और काम लग गया कि इतने में अपनी सास सहित राजरानी पहुंच गई–"भैया! भाईदूज पर टीका करने आई हूँ।" यह शब्द सुनते ही मैंने सिर पर टोपी रख, गले में दुपट्टा ले लिया। नई धर्म बहिन ने टीका लगाया, रक्षा का व्रत दिया और मिठाई आगे की जो मैंने श्रद्धा से ग्रहण की। फिर दो रुपये भेंट देकर भगिनी को विदा किया। मानसिक प्रायश्चित अभी से शुरू हो गया। उसके पश्चात् मैंने स्त्रियों के मिलने से बचना आरम्भ कर दिया और माताजी के परिचित परिवारों में जाना भी त्याग लिया।

इस बार दीवाली पर मैथिल पण्डित की प्रेरणा से मैं उसके बैठाए जुए के फड़ पर जा पहुँचा। काशी में उन दिनों दिवाली के सम्बन्ध में सरकारी ढिंढोरा पिट जाता और चार दिन खुले बन्दों जुआ खेला जाता। फड़ पर प्रत्येक सोलह गण्डे की जीत पर तो दो पैसे 'नाल' के लेकर बर्तन में डाल ही लेता परन्तु नाल से तिगुनी चौगुनी जमीन बढ़ जाती। जमीन कैसे बढ़ जाती? फड़दार ने पैसों का ढेर लगा दिया। उसी में से पैसे काटकर बाजी लगानी पड़ती। सोरही (सोल्ही), अर्थात् सोलह कौड़ी बारी वाले के हाथ में है। 'तीनजी, पाँचजी, चारजी, छ:जी' कहकर बाजी बदी जा रही है। सोरही फैंकी और शोर मच गया–"वह मारे पाँच" चार छ: वाली पैसों की ढेरियां तो फड़ में डाल दी गई, परन्तु तीन–पाँच वालों का हिसाब होने लगा। फड़दार ने शीघ्रता से पैसे गिने, कई स्थान में तीन पैसे का आना गिना और एक आध गण्डा वैसे हाथ की चालाकी से बढ़ा दिया। गिनकर ढेर तो जीते हुए जुआरी के आगे धकेल दी और हार के नाम उतने गण्डे लिख लिये। पहिले दिन तो मुझे केवल जुआरियों को फँसाने के लिए बैठाया गया था और मुझे भी गधे की योनि से बचाने के लिए अपने

परिवार के साथ कौड़ियों और रेवड़ियों से जुआ खेलने का अभ्यास था, परन्तु दूसरी रात मुझे भी प्रलोभन ने आ घेरा और रात को मैंने डेढ़-डेढ़ दो-दो सौ गण्डों के दांव तक खेल डाले। कभी पचास रुपये तक जीत लिए कभी साठ-सत्तर तक हार दिए। तीसरी दीवापली की रात थी। पिताजी की शिक्षा थी कि जब हाथ ऊपर अर्थात् जीत हो तो उठ खड़े होना चाहिए। उस रात पहले मैं २०० रुपये हार गया फिर पासा बदला। सब उतारकर शायद चार रुपयों से कुछ ऊपर जीते थे कि मैं उठ खड़ा हुआ। मैथिल जादूगर पण्डित ने बहुतेरा समझाया कि हाथ ऊपर है दो-तीन सौ लेकर उठो। परन्तु मेरी प्रकृति और स्वभाव विचित्र है। मुझे अपने जुए के गिने हुए दुराचारी साथियों की गंदी बोलचाल से उसी रात घृणा हो गई और मैंने एकदम किनारा कर लिया।

ऊपर की घटना पढ़कर भ्रम होगा कि मुझ नास्तिक को गधे की योनि मिलने पर विश्वास कैसे बना रहा। परन्तु मैं भी विचित्र प्रकार का नास्तिक था। उस नास्तिकपन के संवत् १९३२ से संवत् १९४१ तक दस वर्षों में भी जहाँ मेरा पुनर्जन्म पर विश्वास बना रहा वहाँ योग पर भी इतनी श्रद्धा बनी रही कि हठयोग के प्रयोग मैंने उसी समय साधे थे। परन्तु अन्य अंशों में भी पैतृक तथा बाल्यावस्था के संस्कार बड़ी कठिनाई से दूर होते हैं।

मनोरंजक सैर

अस्तु! अपने पाठ्य-विषयों और पाठ्य-पुस्तकों में परिश्रम करते हुए भी अंग्रेजी साहित्य के भण्डार के कण चुनता रहा और अब उपन्यासों को छोड़ इंगलिश पद्य का मैदान नापने लगा। इंग्लिस्तान के कालिदास शेक्सपियर के कवितापूर्ण नाटकों का इन्हीं दिनों स्वतन्त्र अध्ययन किया। जब वर्ष के अन्त में परीक्षा हुई तो अंग्रेजी में मेरे लब्धांक ९७ प्रतिशत थे।

छुट्टियों में बनारस ही रहा क्योंकि प्रिंस ऑव वेल्ज उन दिनों आने वाले थे और उनके स्वागत की बड़ी तैयारियां हो रही थी। उन सात दिनों में गाढ़ी कम्पनी ने खूब सैर किए और सर्वसाधारण के बड़े-बड़े जमघटे देखे परन्तु उनमें से एक ही मनोरंजक बात सुनने के योग्य है। उन्हीं दिनों बनारस में एक बड़े हस्पताल की बुनियाद पड़ने वाली थी। उसकी आधारशिला प्रिंस से रखायी जानी थी। मार्ग सारे शहर में से जाता था, इसलिए जलूस निकलना था। सड़क के दोनों ओर दर्शकों की

प्रात:काल से ही भीड़ थी। प्रिंस के आने में अभी कुछ घण्टे थे। देखा-देखी सब आ गए परन्तु अनपढ़ों को इतना भी पता नहीं कि किसकी सवारी देखने आए हैं। एक ने हम लोगों से पूछा हमने बतला दिया कि शाहजादा आता है। प्रश्न हुआ "कौन शाहजादा?" उत्तर मिला-"महारानी विक्टोरिया का बेटा।" अब तो चौधरी कड़ककर चलने लगे और गोल में जा धमके। वहाँ यही अनुमान हो रहे थे कि कौन आता है। चौधरी जी अकड़कर बोले,"अरे! तू का जानत हम बतलाइत हैं। अरे! विस्तुइआ के बेटवा आवत बाटै।" हम सुन रह थे। हंसते-हंसते पेट में बल पड़-पड़ गए। 'बिस्तुइआ' बनारसी बोली में कहते हैं 'छपकली' को। कहाँ ताज पहिने हाथ में शाही शासक दण्ड लिए मोटी-ताजी महारानी विक्टोरिया और कहाँ छपकली।

प्रिंस एडवर्ड (पीछे बादशाह एडवर्ड सप्तम) आए और चले गए। मैं फिर पढ़ाई में लगा। जो थोड़ी शराब पीने की आदत मामूजी ने अपना मद्य पीने का व्यसन पूरा करने को लगा दी थी वह छूट गई और मैं मित्रों सहित फिर से ऊँचे मानसिक वायुमण्डल में विचरने लगा। संवत् १९३४ के आरम्भ से ही पदार्थ-जीवन की पढ़ाई शुरू हो गई। न्याय के साथ रसायन शास्त्र को जोड़ दिया और प्रोफेसर लक्ष्मीशंकर मिश्र ने बिना रस क्रिया सेवन के रसायन पढ़ाना आरम्भ कर दिया। पढ़ाई नियमपूर्वक चलती रही।

माघ में समाचार आया कि पिताजी की बदली बलिया से मथुरा को हो गई है। फिर सारा समान बलिया से किश्त में मेरे पास आ गया जो सब नीलाम कर दिया गया। केवल वह सामान रह गया जो सीधा अपने घर तलवन भेजना था। मेरा विवाह जुलाई के अन्त में होनेवाला था। पिताजी ने नई बैठक बनवाई थी। उसके लिए एक दस बत्ती का झाड़ू, चार हांड़ियाँ और आठ दीवारगीर खरीदकर रख दिये थे और उनको घर भेजना मेरे सुपुर्द कर गए। इधर होली आई और गाढ़ी कम्पनी ने उसे बड़े समारोह से मनाया। धुलहंडी के दिन शाम को यह सूझी कि गुण्डों का रूप धारण करके चलना चाहिए। हम चार थे। दो पटनिये बांके इक्के किराये किये। जंघा तक धोती पहिन, दोनों मोढ़ों पर दोनों और दुपट्टा डाल, सिर की चुन्दी (शिखा) खड़ी बांध, नंगे सिर, कमर में छुरी लगाए और हाथ में डंडा लिए, एक-एक इक्के पर दो दो बैठकर चल दिए। इक्के छन-छन करते पहुँचे। इक्के से उतरकर एक मौनहारियों के

गिर्द की भीड़ में घुस चले। धक्का लगते ही एक गुण्डों की टोली टर्राई और हमें धक्के देने लगी। हम में से दो अच्छे लाठी चलाने वाले थे। मार-पीट शुरू हो गई। हम लोगों ने उन्हें अधिक मारा। पुलिस के आते ही हम चारों चम्पत हुए और इक्कों पर पैर रखते ही हवा की तरह उड़ गए। भागकर घर पहुँचे और बहुरूप उतारकर फिर सभ्य विद्यार्थी बन गये। हमारा तो किसी को पता न लगा परन्तु दस पन्द्रह गुण्डे पकड़े गए जो कि पुलिस की भेंट पूजा करके छूट गए। प्रण तो किया कि आगे को ऐसा बहुरूप धारण न करेंगे परन्तु दो दिन पीछे ही कुछ और सुझी।

बनारस में होली के पीछे जो मंगल आता है उसे बुढ़वा मंगल कहते हैं। उस रात से शुरू होकर बृहस्पतिवार की सारी रात तक गंगा में किश्तियाँ छूटी रहती हैं। उन्हीं में नाच तमाशे होते हैं। सात-सात किश्तियां बांधकर बड़े कमरे सजाये जाते हैं जिसमें रण्ड़ी-लौंड़ों के नाच और भांड-भंडेलों के तमाशे होते हैं-(उस समय होते थे अब मालूम नहीं क्या हाल है) मंगल के सवेरे सूझी कि तमाशा देखने को एक बड़ी किश्ती सजाई जावे। हरि ने और मैंने रुपये दिए किश्ती किराये पर ली गई। सजाने को समय थोड़ा था, सामान खरीदने का काम मलजी के सुपुर्द किया गया। लट्ठे लेकर चारों बढ़ई से गड़वा लिए, ऊपर बल्लियाँ बाँध लीं, बल्लियों के ऊपर नीचे किराये पर लेकर दोहरी दुसूती लगा दी गई। इर्द-गिर्द कागज काटकर झालर लग गई। मेरे यहाँ झाड़ादि टाँग दिए। लट्ठों को सफेद रंग से रंगकर उस पर कागज की बेल लपेटी गई जो वाफते की बेल को मात करती थी, दरियाँ और गलीचे दीवान साहब माँग लाये। ३० वा २५ कुर्सियाँ प्रोफेसर रमाशंकर कॉलिज से उठवा लाये और सजावट पूरी हो गई। पियरी के एक कायस्थ मुखतार साहब के साहबजादे सितार में वाजपेयी जी के शागिर्द थे। उन्होंने एक तमोटी लाकर कमरे के पीछे लगा दी थी और सितार तबले का भी रंग जम गया। नौ बजे रात को न केवल गाढ़ी कम्पनी का मित्र दल ही पहुँच गया प्रत्युत एक-एक दर्शक सब साथ लाये। प्रोफेसर रमाशंकर मिश्र एम.ए. स्वयं पँजाबी बंधेज का पग्गड़ बांधकर आये जो उन्होंने कलकत्ते में प्रेमचन्द रायचन्द छात्रवृत्ति की परीक्षा दी थी और कृतकार्य हुए थे। रमाशंकर तो जैसे ग्रांडील जवान थे, वैसे ही पग्गड़ से दुगने रुआबदार बन गए। एक ओर लिखा था-"विद्या ही बल है" और दूसरी ओर लिखा था 'गाढ़ी कम्पनी'। फिर क्या था, जिधर हमारा शानदार दरबार

हाल पहुँचा सब किश्तियाँ हट जातीं, यहाँ तक कि कोतवाल की गश्ती नाव को चीरता हुआ हमारा कच्छा अच्छे से अच्छे तमाशों के समीप पहुँच जाता। बृहस्पतिवार की रात भर आवारागर्दी की गश्त करते हुए शुक्रवार की प्रातःकाल हम सब उतर गये और सब समान अपनी-अपनी जगह चला गया। इस बार मुझे मेले के पीछे उदासी ने घेर लिया क्योंकि मेरे आत्मा के अन्दर से उसके विरुद्ध आवाज उठ रही थी। बुढ़वा मंगल को समाप्त कर भंग पीने का अभ्यास सारे मित्रमण्डल को हो गया। एक सप्ताह पीछे मेरे प्यारे मित्र हरि की भगिनी का कलकत्ते में विवाह था। वह आग्रह करके मुझे ले गया परन्तु वहाँ रहना दो दिन ही हुआ। विवाह के घर और बंगाली धनाढयों के सहभोज के और कुछ न देख सका।

इस स्थान में एक घटना संकेत मात्र करके उसके विस्तार में नहीं जाऊँगा। माघ संवत् १९३४ के आरम्भ में मैथिल पण्डित द्वारा हसन खां जिन्नी से भेंट हुई थी। उसके विषय में जो चमत्कार प्रसिद्ध थे उनमें कुछ मैंने भी देखे थे। उस समय उनका (हल) मुझे नहीं सूझा था। परन्तु अब उनकी तथा मैथिल पण्डित की जादूगरी की असलियत मेरे लिए स्पष्ट हो गई है।

पिताजी ने मुझे ज्येष्ठ के अन्त में ही बुलाया था इसलिए आषाढ़ के प्रथम दो सप्ताह की छुट्टी लेकर चल दिया। विचार यह था कि विवाह से निवृत्त होकर काशी लौट जाऊँगा और वहाँ ही एफ.ए. की परीक्षा दूँगा, इसलिए मेरे मित्र मुझे सदा के लिए विदा करने नहीं चले थे, गंगा पार जाकर मित्रमंडल ने रेल में बैठाया। चलते हुए सबके आँसू भर आये, मैं मार्ग में उदास रहा। परन्तु रात बीतने पर जब प्रातः मैं मेंडू के स्टेशन से ट्रेन बदलकर छोटी ट्रेन में बैठा तो नए दृश्यों को देख मित्रों का बिछोड़ा भूल गया। इंजन बग्घी की चाल चल रहा था, ड्राइवर और गार्ड दोनों हिन्दुस्तानी थे- जहाँ गाँव आया ट्रेन खड़ी करके रोटी खाने लग गये। फिर ट्रेन जरा तेज चला ली। आम के वृक्ष दिखाई दिये तो कच्ची अम्बियां तोड़ने की सुझी। ट्रेन मथुरा पहुँची और पिताजी की भेजी गाड़ी में बैठकर मैं डेरे पर पहुँचा।

मथुरा में दस दिन और विवाह की धुन

मथुरा में पिताजी छुट्टी पर गये हुए असिस्टेंट सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस के स्थानापन्न होकर आये थे और आषाढ़ के पीछे उन्हें बरेली की कोतवाली का चार्ज

लेना था। इसलिए उन्हें मेरे विवाह के लिए दस दिन की छुट्टी मिल सकती थी। मेरे सब भाई अपने परिवार सहित तलवन में इक्ट्ठे थे। मुझे भी दस दिन मथुरा में रख और विवाह का सब समान देकर तलवन को विदा कर दिया।

मथुरा में नये दृश्य और नए मिलने वाले। नई बोली भी कुछ-कुछ बोलने लग गया था। मथुरा वृन्दावन के मन्दिारों की खूब सैर की। द्वारिकाधीश की मूर्ति मथुरा में लाने वाले सेठ लखमीचन्द के पुत्र सेठ (पीछे राजा) लछमनदास, सी.एस. आई. ने मुझे खूब सैर कराई। दोपहर उन्हीं के खस की टट्टियों और पंखोंवाले कमरे में व्यतीत किया करता। कारण यह कि सेठजी अपने अंग्रेज परिचितों को पत्र मुझसे लिखाया करते थे। विशेष परिश्रम मैंने भारत के बड़े लाट के नाम ब्रज की परिक्रमा की सीमा में गोरों का शिकार बन्द कराने के लिए प्रार्थना पत्र तैयार करने में किया था। मैं नास्तिक था, परन्तु मंदिरों में जाकर मूर्ति को भी प्रणाम कर लेता था। मेरा अमल अंग्रेजी की इस लोकोक्ति पर था-"गंगा गए गंगादास यमुना गए यमुनादास।" किसी का दिल दुखाने से क्या लाभ? परन्तु मन्दिर में ही और वह भी पुजारियों के सामने समालोचना भी पूरी कर डालता।

मथुरा की दो बातें नहीं भूलेंगी। एक तो चौबों का ब्रह्मभोज(नहीं, चौबे भोज) और दूसरी गोकुलिये गुंसाई जी की लीला। चौबे भोज का मेरे जाने पर पिताजी ने विचार किया। हमारे चौबेजी बोले- यजमान मन के दस निमन्त्रित किये जायें वा मन में के चार। ऐं! क्या तौल में चार-चार और दस-दस सेर के चौबे भी होते हैं? नहीं, मतलब यह कि मन भर उत्तम भोज्य पदार्थ दस बांटकर खायें या चार ही चट्टम कर जायें। यही ठहरी कि मन के चार निमन्त्रित हों। चारों की जुण्डी थी और उनके नाम थे-सोटा-मोटा-सोटा-लंगोटा चौबे। निमन्त्रण के साथ ही एक-एक दतवन और छटाँक-छटाँक भर भंग भेज दी गई। इसलिए प्रात: विश्राम घाट पर पहुंचते ही चौबेजी पत्थर पर भंग का रगड़ा लगा गोली बाँध कंठ से नीचे करलें। इस भंग का नाम था कागाबासी। आठ चौबे कृष्ण गोपी लीला गाते और नाचते कूदते हुए हमारे डेरे पर पहुंचे। उनके चरण पखारकर आसन दिए। आज्ञा हुई-"लाओ यजमान भोगविलासी।" डेढ़ पाव भंग भिगो रखी थी। चौबेजी ने धोई। खूब रगड़ा लगाया, फिर उसमें बादाम और इलायची मिलाकर पीस डाला, दूध छोड़ दो लोटे पानी में गड्ड-गड्ड करके

पहिले द्वारिकाधीश को भोग लगाया। एक छोटी कटोरी भर हमें मिली जो पिताजी, मैं, पाचक,कहार और अर्दली बांटकर पी गए। शेष चारों चौबों ने चढ़ा ली। ११ बजे भोजन तैय्यार हुआ-" चलो चौबेजी! बाल भोग तैयार है।"

चौबेजी की आँखे बन्द हैं, बोले-"यजमान! आसन पर ले चल।" हाथ पकड़ उठाया, चरण धोए और आसन पर बैठा दिया। पहिले डेढ़-डेढ सेर लच्छेदार मलाई अन्दर गई, आँखे खुली और माँग शुरू हुई। दो-दो सेर पेड़े, उन पर भाजी पकोड़ी आदि के साथ-साथ तीस-तीस पूरियों की तह, फिर खुर्चन, फिर उतनी ही पूरियों की तह, फिर हलवा और अन्त में मलाई की पूर्णाहूति। हाथ धुलाकर हथेलियों पर एक-एक रुपया दक्षिणा रखी गई और चौबेजी को प्रणाम मिला। परन्तु चौबे अभी खड़े हैं-"यजमान! अब सत्यानाशी भी मिल जाय।" छटाँक-छटाँक भर भंग और दी गई। तब चौबेजी हिले। पिताजी को भ्रम था कि कहीं इन चौबों के पेट न फट जायें और ब्रह्महत्या का पाप उन्हें लगे, परन्तु जब शाम को मैं विश्रान्तघाट पहुँचा तो सत्यानासी के रगड़े में सब कुछ भस्म करके चारों चौबे कुश्ती लड़ रहे थे और इस प्रतीक्षा में थे कि कोई "लडुआ खिलाने वाला यजमान मिल जाये।"

दूसरी गुसाईं जी की लीला थी। दक्षिण के एक डिप्टी कलेक्टर ब्रजयात्रा को आए थे, उनकी धर्मपत्नी और लड़का और एक लड़की साथ थे। पुत्र ६ वा ७ वर्ष का और लड़की १४-१५ वर्ष की। यह कुमारी देवी अंग्रेजी भी पढ़ी हुई थी। मुझसे उनका परिचय हो चुका था, क्योंकि काशी तीर्थसेवा करके वह मेरे साथ ही मथुरा में पहुँचे थे। एक दिन गोपाल मन्दिर की झांकी थी। मैं भी गया था। पाँच बजे शाम का समय था। मेरे साथ सफेदपोश पुलिस का हेड़ कांस्टेबल था। उससे गुसाईं जी दबते थे, क्योंकि वह था उनके घर का भेदी। मुझसे उसने कहा-" चलो बाबू। गुसाईं के अन्दर के महल की सैर करा लाऊं।" मैं साथ हो लिया। दरबान ने यह कहकर रोका कि विशेष चेले दर्शन कर रहे हैं, आने की आज्ञा नहीं। परन्तु 'संन्यासी, गुरु, चपरासी' कौन रोकने वाला था। हम दोनों अन्दर गये। बहुत कमरे और उतनी ही भूल-भुलइयाँ वाली गलियाँ। अभी पाँच मिनट ही घूमे थे कि चीख की आवाज सुनाई दी। पास वाले कमरे का दरवाजा झटके से खोलकर अन्दर गये। एक अबला कुमारी को गुसाईं जी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास में एक

अधेड़ स्त्री खड़ी थी। गोसाई ने कुमारी को छोड़ कृष्णमूर्ति की ओर इशारा करके कहा–"भगवान् के दर्शन से यह घबरा गई थी, मैं चुप कराता था।" कुमारी बोली–"इसका विश्वास न कीजिए। मैं इसके चरणस्पर्श कर ही रही थी तब इसने मुझे पकड़ लिया। तब मैं चिल्लाई। आह! मुझे पिता के पास ले चलो।" जमादार साहब को तो गुसाईं जी से समझौता करते छोड़ा और मैं उस कुमारी को सीधा उसके पिता के पास ले गया जो उसे नीचे न पाकर ऊपर तलाश कर रहे थे। मालूम होता है कि ये सब फैले हुए घूम रहे थे कि वह अधेड़ स्त्री कुमारी को कृष्ण पूजा के लिए अन्दर ले गई, स्वयं गुसाईं जी के चरणस्पर्श करके अलग हो गई और कुमारी को चरणस्पर्श के लिए आगे बढ़ा दिया। यह वही दक्षिणी डिप्टी कलेक्टर थे जो मेरे साथ आये थे। उनको बड़ा दुःख और क्रोध हुआ। उसी समय गुसाईं जी के यहाँ से उठकर दूसरे मकान में चले गये। मुझसे उन्होंने कहा कि मूर्तिपूजा से ही उनका विश्वास उठ गया है और वह अब अन्य किसी तीर्थ पर न ठहरकर सीधे अपने देश चले जायेंगे।

विवाह में उत्सुकता और निराश लौटना

मथुरा से चलते ही विवाह की धुन ने सब कुछ भुला दिया। इंगलिश कवियों और उपन्यासलेखकों का सत्संग साथ था। मैंने अपनी भविष्य की धर्म-पत्नी के विषय में उत्तम से उत्तम उपन्यास की नायिका की कल्पना कर ली। मैंने अपनी धर्मपत्नी के लिए बहुत से सामान इकट्ठे किये थे और समझ लिया कि आगामी प्रेममय जीवन आनन्द का कटेगा। जन्मभूमि में पहुँचकर माताजी का स्मरण आया। मेरे आँसू भर आये। मेरी सबसे बड़ी भौजाई मुझसे ३० वर्ष बड़ी थी। उन्होंने आँसू पोंछे और माथे को चूमकर मुझे शान्त किया। मैंने उनको माता के रूप में स्वीकार किया। वधू की आयु बारह वर्ष की थी। कहारिन के संरक्षण में उसे जालन्धर से तलवन लाया गया। मैं उससे गाँठ जोड़े नाई, ब्राह्मण, मुसलमान पीर कबर और देव मन्दिरादि में शकुन और आशीर्वाद प्राप्त करने की खातिर लिए फिरा। मुझे उसका मुख देखना भी नसीब न हुआ और ससुराल का बूढा सिर्त उसे विदा करा के ले गया। पिताजी तो चले गए थे और मुझे डेढ़ मास पीछे बरेली पहुँचाने को कह दिए।

मैं विवाह के धूमधड़क्के से निवृत्त होकर बहुत ही निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी। परन्तु वह अभी बाल्यावस्था में ही थी फिर यह निश्चय

किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और विचार ने मुझे संतोष दिया। परन्तु उसे मुझसे मिले बिना विदा होना पड़ा। फिर कुछ धैर्य बँधा जब सुना कि महिने पीछे मुकलावा (द्विरागमन) होगा। उस बार भी दो दिन घर रखकर बिना ही मुझसे परिचय कराये ही बड़े भाई साहब ने विदा कर दिया।

मैंने उसी समय बालविवाह की कुप्रथा के भयंकर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिए आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता तो काशी से ग्रेजुएट बनकर मैं किसी अन्य ऊँची दशा में चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु १६ वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आँखें खोलकर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता जिसमें आगामी दो अढ़ाई वर्ष गिरा रहा।

बरेली में अढ़ाई साल का घोर अन्धकारमय जीवन

बरेली में संवत् १९३४ के आश्विन में मैं पहुँचा और चैत्र संवत् १९३७ में पिताजी के साथ खुर्जा चला गया। इस अढ़ाई साल के जीवन पर पर्दा ही पड़ा रहता तो मैं सन्तुष्ट होता। परन्तु मुझे देश के युवक उससे शिक्षा पाकर संसार यात्रा के अंदर गढ़ों और ठोकरों से बच सकें। पहिले तीन महीनों में ही बरेली की हवा ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। मैंने चाहा था कि देश से सीधा बनारस का रास्ता पकडूँ, परन्तु पिताजी ने बरेली बुला लिया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने कहा कि दस दिन और ठहरकर जाना इस अन्तर में मेरे कई मित्र उत्पन्न हो गये। बरेली के रईसों का उस समय विश्लेषण यह था के चाहे कितना ही धनाढ्य क्यों न हो जब तक उसके यहाँ कम से कम दो घोड़ों वाली एक चौपाहिया गाड़ी, घर में डाली हुई एक वेश्या नहीं और कुछ हजार रुपया ऋण न उठा चुका हो तब तक सेठ साहूकार जमींदार भले ही कहलावे, रईस पदवी का अधिकारी नहीं बनता था। मेरे पहिले मित्र राय छदम्मीलाल साहब कायस्थ बने जिनके यहाँ चार-पाँच फिटनगाड़ियाँ थी, दो हाथी बंधे रहते थे और जिन्होंने घर में एक के स्थान में दो वेश्याएँ डाल रक्खी थीं। उस समय अभी ऋणी नहीं हुए थे परन्तु पीछे लाखों का ऋण उठाकर भरने से पहले बहुत-सी जायदाद (ग्राम और महल) ठिकाने लगा गये। और भी साधारण रईस मित्र बने, परन्तु सबसे

अधिक गाढ़े मित्र हकीम लल्लाजी थे जिनका मकान और बगिया (वाटिका) हमारे दर्जी चौक वाले घर के साथ लगे हुए थे। रईसों के यहाँ तो रुपया खर्च कर नाच मुजरे होते और शराब के दौर उड़ते परन्तु लल्लाजी सब रामजनी (हिन्दुस्तानी) वेश्याओं का बिना पैसा कौड़ी लिए इलाज करते थे, इसलिए वह जब आज्ञा देते तो उनके यहाँ मुफ्त मुजरा ही न होता प्रत्युत मिठाई आदि भेंट भी पहुँचती। एक और बात थी। लल्लाजी की बगिया में अनार का पेड़ था जिसके साथ नई वेश्या का विवाह कराने को लाते थे। साठ बरस की उमर, ठिकना कद, बदन सुर्ख और सफेद डण्ड चढ़े हुए कसरती बदन और उमंगे सब जवानों की-सी। नाम नन्दकिशोर था, परन्तु छुटपन से लल्लाजी ही प्रसिद्ध थे। मैं बहुत बीमार हो गया था, वैद्य और डाक्टर ने अपनी दवाईयों से और बिगाड़ दिया। काढों और अंग्रेजी दवाईयों से मुझे पहले ही घृणा थी। मैंने जुएखाने में आदमी भेज हकीम लल्लाजी को बुलाया। आये और नाड़ी देखी, तो तीन खरी खोटी वैद्य डाक्टर को सुनाई, गुलाबजल में बिही का शर्बत मिला और एक आध माशे की पुड़िया उसमें घोल पिला दी। दूसरे दिन मैं साफ हो गया, निर्बलता रह गई थी, उसके लिए एक स्वादिष्ट चटनी बना दी जो एक दिन में छः-सात बार चाटने से दूसरे दिन उठकर स्नान किया और चटनी चाटकर बाहर घूमने चला गया और तीन मील का चक्कर लगाकर लौटा।

हकीम लल्लाजी के जुए की फड़ को संवत् १९१९ में पिताजी ने पकड़कर सजा कराई थी। अब तक जुए की लत ऐसी लगी रही कि जुएखानों का दरवाजा नहीं छोड़ते थे। प्रातःकाल के पीछे लोग बीमारों को लेकर जुएखाने पहुंचा करते थे। हकीम साहब के एक हाथ में "कापतैन" और दूसरे हाथ में बीमार की नब्ज। उधर पौ बारह की गूंज उठी नुस्खा लिया गया। हकीम मार्के का, दिल्ली के प्रसिद्ध हकीम महमूद खां का सहपाठी था, परन्तु था पक्का लठैत बदमाश और जुएबाज। बदमाशी तो दूर हो गई, जुए की लत ने अभी तक पीछा न छोड़ा। मैंने कहा कि यदि मेरे साथ सम्बन्ध रखना है तो जुए को अन्तिम प्रणाम कर लो। बहादुर लल्ला ने मुझसे प्रतिज्ञा की और निभाई भी। फल यह हुआ कि उससे सैकड़ों उन बीमारों को लाभ पहुँचा जो उसके इलाज से वंचित रहते थे और उसकी स्थिर आय भी बहुत बढ़ गई।

इलाहाबाद कॉलिज में एक वर्ष

(संवत् १९३५ वि०)

ऊपर लिखी अवस्था हो चुका थी। पहिले पिताजी ने मोहवश जाने न दिया और अब मैं हिलना नहीं चाहता था। राय साहब की फिटन नित्य सवारी के लिये हाजिर, नाच रंग बिना कोई सप्ताह खाली न जाता और फिर पिताजी के मातहत पाँचों थानों पर हुकूमत ऐसा चढ़ा हुआ नशा मुश्किल से उतरता है। गुसाईं जी ने सच कहा है-

"उस नर को उपज्यो जगमाहीं। प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं॥"

दिसम्बर ऐसे बीता। संवत् १९३५ वि० को पौष मास आ पहुँचा। मैंने काशी में निचली श्रेणी के साथ पढ़ने में संकोच किया। इलाहाबाद (प्रयाग) को प्रस्थान कर दिया। पिताजी ने वहाँ के कोर्ट इंसपेक्टर मुंशी भैरोदयाल के नाम पत्र दिया था। वह कटरा में रहते थे। मुझे भी उसी शहर से अलग मुहल्ले में स्थान किराये पर ले दिया और मैं म्योर सेण्ट्रल कॉलिज इलाहाबाद में दाखिल हो गया। उस समय कॉलिज का अपना भवन न था, एक कोठी में कॉलिज लगता था जिसे लाउदार कासल कहते थे। अब वह कोठी अहाते सहित महाराजा दरभंगा ने खरीदी हुई है।

मैं म्योर कॉलिज में दाखिल हो गया। फिर जीवन में परिवर्तन आ गया। मद्यपान से एकदम मुक्त हो गया। नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू हो गई। मैं कॉलिज की द्वितीय वर्षीय कक्षा में फिर सम्मिलित हुआ। अंग्रेजी प्रिंसिपल हैरिसन पढ़ाते थे। गणित के अध्यापक प्रोफेसर वूफलावर थे जिनकी नजाकत की धूम थी। उनका रेशमी रुमाल लेवेण्डर की सुगन्ध से पूरित रहता था प्रोफेसर हिल रसायन पढ़ाते थे। उन्होंने संयुक्त प्रान्त में पहले रस क्रिया भवन खोला था। फारसी के प्रोफेसर मौलवी थे, जकाउल्ला देहलीवाले और संस्कृत के पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, जो पीछे हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रोवाइस चांसलर हो गये थे। उपाध्याय मण्डल बड़ा उत्तम था। छः महीनों तक जीवन समावस्था में चला। वाग्वर्धिनी सभा में भी विशेष भाग लिया। प्रत्येक सप्ताह किसी विषय पर एक भाई निबन्ध पढ़ता और शेष विद्यार्थी विवाद में भाग लेते। मिस्टर सैय्यद महमूद और पण्डित अयोध्यानाथ के बड़े विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान भी अपनी सभा में कराए। प्रोफेसर हिल मुझसे विशेषतः प्रसन्न थे क्योंकि मैं न केवल रसायन की क्रिया प्रयोग में ही कॉलिज के समय से पीछे उनका सेवक

रहता, प्रत्युत कंकड़ालोजी में भी उनका साथ देता।

मेरे पाठक पूछेंगे कि और लोजी तो बहुत सुनी हैं, यह कंकड़ालोजी क्या बला है। मैं बतलाए देता हूँ। प्रो॰ हिल छुट्टियों में चुनार आदि पहाड़ों में जाते और विविध प्रकार के पत्थर कंकड़ जमा करते और सबके जुदे-जुदे गुण लिखकर एक अलमारी में रखते जाते। मैंने भी अपने भाई मूलराज जी थानेदार जिला मिर्जापुर को लिखकर कई प्रकार के पत्थर मँगाये थे। उन्हें प्राप्त करके मेरे विद्याप्रिय प्रोफेसर मुझ पर बड़े प्रसन्न थे और रसक्रिया भवन का एक सहायक मैं भी समझा जाता था। अपने अधिकार का लाभ अपने मित्रों को भी पहुंचाया करता। सोडावाटर भरने की छोटी मशीन तजुरबे दिखाने को मँगाई थी। हिल साहब के आने से पहले कई बार सोडावाटर खींचकर मित्रों को पिलाया। इस प्रकार सारा समय विद्या की चर्चा में ही व्यतीत होता था। प्रतापचन्द्र मोजुमदार आए, अन्य व्याख्याता आये, कोई भी व्याख्यान सुने बिना न छोड़ा। पढ़ाई भली प्रकार चली।

गर्मियों की छुट्टी होते ही बरेली को चल दिया। मार्ग में कानपुर उतरकर ऊँट गाड़ी में हमीरपुर पहुँचा। उस जिले के एक थाने में भाई आत्माराम थानेदार थे। घोड़े की सवारी ले वहाँ पहुँचा और पाँच-छः दिन उनके पास काटकर फिर कानपुर लौट आया। कानपुर से लखनऊ और बरेली पहुँचकर एक महीना पिताजी के पास काटा। इस बार अंग्रेजी के मनोविज्ञान शास्त्र का स्वाध्याय शुरू किया था और कुछ प्रारम्भिक पुस्तकें साथ ले गया था। कॉलिज में रसायन के साथ न्याय का विचित्र मेल था, इसलिए न्याय को सार्थक करने के लिए मनोविज्ञान का उसके साथ मेल कर दिया।

बरेली में इस बार मद्यप नाच रंग के प्रेमी मित्रों से अधितकर किनारा ही था। प्रातः भ्रमणार्थ पैदल जाकर छः वा सात मील का चक्कर लगा आता और सायंकाल को अपनी वेगनट गाड़ी में छावनी की ओर हवा खाने जाता। पिताजी ने अपने लिये बरेली, कोर्ट और परिवार के लिये वेगनट गाड़ी बनवा ली थी। वेगनट में जो मुश्कन घोड़ी जुतती थी वह बड़ी जबरदस्त थी। नौ सवारियां बैठा और एक रईस पीछे खड़ा करके मैं अपनी गाड़ी कई बार तेज जोड़ियों से भी आगे निकाल ले जाता। एक बार बग्घियों की दौड़ में भी मुश्कन ने इनाम लिया था। वेगनट का नाम कुलघसीटन रख

छोड़ा था क्योंकि कई बार जब परिवार के सात वा आठ प्राणी विद्यमान थे, उन सबको चढ़ाकर हवा खिलाई थी। छुट्टियां समाप्त करके मैं प्रयाग लौटा। फिर चढ़ाई चल पड़ी परन्तु मैं मनोविज्ञान की पुस्तकों में ऐसा निमग्न हुआ कि परीक्षा की तैयारी की सुध भी भुला दी। परीक्षा दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में होनेवाली थी, नवम्बर आ पहुँचा और मैं अभी अन्य उधेड़बुन में लिप्त था। उससे कैसे छुटकारा पाकर मैं परीक्षा की तैयारी में लगा–इसकी कहानी शिक्षादायिनी है।

अहिंसा की प्रबल विजय

मैं बतला चुका हूँ कि मैं विचित्र नास्तिक था जो योगाभ्यास और उसकी विभूतियों पर विश्वास रखनेवाला था और साथ ही हठ प्रक्रियाओं का प्रयोग भी करता था। बरेली में और वहाँ से लौटकर प्रयाग में कुछ विशेष परिश्रम किया, परन्तु कुपथ्य के कारण बीमार हो गया। मैंने सुना कि त्रिवेणी पार सूँसी के जंगल में एक महात्मा रहते हैं जिनके वश में एक शेर है। दिन को अन्तर्धान रहते हैं, रात को उनके दर्शन हो सकते हैं। मैं अपने मित्र बुद्धसेन तिवारी सहित जिनको मेरी संगत ने ही योग की ओर झुकाया था, सिदौसी भोजन से निवृत होकर शाम को पार उतर गया। इधर–उधर घूमते हुए दस बजे आश्रम के समीप पहुँचे। एक वृद्ध केवल कोपीनधारी महात्मा को समाधिस्त मैदान में बैठे देखा। तीन बजे तक न उनकी समाधि खुली और न हमारी आँख झपकी। तीन बजे के लगभग शेर की गरज सुनाई दी, फिर वह सीधा महात्मा की ओर आता दिखाई दिया। समीप पहुँचने पर उनके पैर चाटने लगा। महात्मा ने आँखें खोली, शेर के सिर पर हाथ फेरा और कहा–'बच्चा! आ गया, अच्छा अब चला जा।' शेर ने सिर चरणों में रख दिया, और उठकर जंगल की राह ली। उस समय हम दोनों ने पैर छूकर महात्मा को प्रणाम किया और इस अद्वितीय विभूति पर आश्चर्य प्रकट किया। महात्मा का उत्तर कभी नहीं भूलता–'यह कोई विभूति नहीं है बच्चा! इस शेर को किसी शिकारी ने गोली मारी थी। इसके पैर में ऐसा घाव लगा कि यह चल नहीं सकता था और व्याकुलता से हृदयभेदक शब्द कर रहा था। शायद प्यासा था। मैंने लाकर पानी पिलाया और जंगल से अपनी जानी एक बूंटी लाया और रगड़कर इसके पैर में लगाई। घाव अच्छा होने लगा। जब तक मैं दवाई लगाता रहता यह नित्य मेरे पैर चाटता रहता। जब सर्वथा नीरोग हो गया तब भी इसका व्यसन नहीं छूटा। नित्य

मेरी उपासना की समाप्ति पर आ जाता है।' सुनो बच्चो! अहिंसा का अभ्यास और सेवा व्यर्थ नहीं जाते। यह सुनकर हम पर जो प्रभाव पड़ा वर्णन नहीं किया जा सकता। मैंने अपने साधनों और बीमारी की कहानी सुनाई। महात्मा ने बतलाया कि हठयोग की क्रियाएं शरीर के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं और कैवल्य के मार्ग से विमुख कर देती हैं। तुम राजयोग का अभ्यास करो और इनको छोड़ दो। बीमारी के दूर करने को उन्होंने ब्राह्मी बूटी का एक विशेष सेवन बतलाया। उन्हें मालूम हो गया कि मेरी परीक्षा समीप है और इसलिए आज्ञा दी कि जब मैं परीक्षा से निवृत्त होकर उनकी सेवा में उपस्थित हूँगा तब वह मुझे राजयोग का उपदेश करेंगे।

परीक्षा का परिणाम

परीक्षा आरम्भ होने में एक पूरा महीना बाकी था। फिर इण्ट्रेन्सवाला प्रयोग दोहराया गया। इस बार एक घण्टे पहिले भी पढ़ना न छोड़ा। व्यायाम बन्द हो गया था। रात को तीन घण्टों से अधिक नींद नहीं लेता था। तबीयत गिरी हुई सी रहने लगी। पहले तीन दिनों के पर्चे बहुत अच्छे किए। अंग्रेजी, फारसी, गणित में उत्तम परिणाम निकलने की आशा हूई। तीसरी रात प्रत्यक्ष ज्वर हो आया। प्रातः उसे दबा और स्नान भोजन करके फिर परीक्षा भवन को चल दिया। प्रातः न्याय का प्रश्न पत्र मिला। ९ में से ५ प्रश्नों के ही उत्तर लिखे थे कि ज्वर जोर कर आया। आंखे बन्द हो चलीं। मैं उठकर रसक्रिया भवन के बरामदे में बेंच पर जा लेटा। प्रोफेसर हिल ने देखा तो ले जाकर पुस्तकालय की मेज पर डाल दिया। डॉक्टर को बुला कर यत्न कराया कि मैं किसी प्रकार रसायन का पर्चा कर सकूँ। परन्तु–'मरज बढ़ता गया ज्यों–ज्यों दवा की'

मुझे सरसाम हो गया था। चार बजे हिल साहब की बग्घी में डेरे पर लाया गया। मुंशी भैरोंदयाल जी से इलाज कराया। तीसरे दिन ज्वर उतरा और मैं निर्बल अवस्था में ही बरेली को चल दिया। महात्मा से राजयोग की शिक्षा प्राप्त करने का मामला बीच में ही रह गया। परिणाम जब निकला तो प्रथम तीन विषयों में ७० प्रतिशत लब्धांक निकले, न्याय में ५० से २५ और रसायन में शून्य। इन दोनों में इकट्ठे उत्तीर्ण होना चाहिए था। यदि रसायन के ५० में से ८ भी मिल जाते तो एफ.ए. में पास हो जाता। हिल साहब ने यूनिवर्सिटी के साथ व्यवहार भी किया, परन्तु कुछ हो नहीं सकता था।

बरेली में घोर अन्धकारमय जीवन

प्रयाग का वर्ष मेरे लिए कलियुग में त्रेता की लड़ी के समान बीत गया। जनवरी १८७९ में फिर अच्छा स्वास्थ्य लेकर प्रवेश किया परन्तु परीक्षा की अकृतकार्यता का 'गम गलत' करने के लिए शराब के प्याले में उसे बहाने की कोशिश की। पहले पहल नाचादि से तो किनारा ही रखा परन्तु रात को एक्स नम्बर वन 'ब्रांडी' की बोतल खोल और गिलास मेज पर रखकर बारह बजे तक लुक आन ह्युमन अण्डरस्टैण्डिंग और बेकन्स एडवांसमेंट ऑफ लरनिंग एण्ड ऐस्सेज' ऐसी मस्तिष्क को हिलाने वाली पुस्तकों के पाठ में बिताया। इधर सिद्धान्त पर सिद्धान्त योजना और उधर गिलास पर गिलास को गले से नीचे उतारता। एक सप्ताह के पश्चात् ही शयन समय तक पूरी बोतल समाप्त हो जाने लगी। उधर छावनी के पारसी का बिल बढ़ने लगा और इधर फिर रईसों की महफिलों में शरीक होने लगा। पिताजी प्रातः पूजा पाठ करके कोतवाली को चले जाते। दिन का भोजन वहीं जाता। रात को ८ बजे लौटकर भोजन से निवृत्त हो ९ बजे सो जाते। पीछे सारी रात मेरे अधिकार में ही होती। मेज पर किताबें पड़ी देख पिताजी यही समझते रहे कि मैं दूसरे वर्ष की परीक्षा के लिए पुस्तकें देखता रहता हूँ। इस प्रकार का जीवन पूरे सात मास तक चला तब मालूम हुआ कि यदि एफ.ए. की पुनः परीक्षा देनी हो तो किसी कॉलेज के द्वारा ही दी सकती है। गाढ़ी कम्पनी के सभासद् रमाशंकर मिश्र एम.ए., सर सैय्यद अहमद के नये मोहम्मडन कॉलिज अलीगढ़ के गणितोपाध्याय थे, उन्हें पत्र लिखा। वह बड़े प्रसन्न हुए और बुला लिया। प्रोफेसर का ही मैं अतिथि बना। वह खूब पीने लग गए थे। उस समय सभी कॉलिज के अमीर विद्यार्थियों का शासन कठिन हो रहा था।

मेरे अलीगढ़ पहुँचने से तीन दिन पीछे कॉलिज खुला। इतने दिन भाई रमा की सितार का आनन्द लिया और एक बार उनके बंगले में मुजरा भी हो गया। कॉलिज तो खुला, परन्तु अलीगढ़ में हैजा (विशूचिका रोग) फूट निकला था। एक मास फिर छुट्टी हो गई और मैं फिर बरेली लौट आया। बरेली लौटकर दो-तीन दिन पीछे एक विवाह की दावत में लाला भाईयों ने निमंत्रण दिया। हमारा मुहल्ला दर्जी चौक में था और उसमें कायस्थों के सिवाय शायद एक दो हमसे ही किरायेदार रहते थे। विवाहवाला घर हमारे साथ लगता ही था। महफिल में जाते ही कुल्हड़ मिला। औरों

के यहाँ जाम (प्याला) चलता है, लाला भाईयों के यहाँ बढ़िया से बढ़िया शराब भी कुल्हड़ों में ही परोसी जाती है। शायर ने उदार लाला भाईयों की प्रशंसा में क्या ही अच्छे शेर कहे हैं–

दादा के लला हैं बड़े आली हिम्मत।
कि थर्रात है जिनसे रुस्तम को दादा।।
वे अपना पियत नाई निसफो कुचरिया।
रफीकन को बखशत हैं मटकन के मटका।।

लगा ठर्रे का दौर चलने। पहिला कुल्हड़ आधा खाली करके मैंने शेष शराब चुपके से गिरा दी। विचित्र दशा देखी। दोनों समधी दावत में शरीक थे। लड़की के पिता की जांघ पर दस वर्ष का दुल्हा बैठा और लड़के के पिता की गोद में नौ बरस की लड़की बैठी। उन दोनों को भी साथ के साथ पिलाते गए। ऊपर ललाइनों में भी दौर चल रहा था। इधर नीचे नाच हो रहा था। वेश्या को भी शराब पीने के लिए मजबूर किया गया। उसने मुँह लगाकर सारंगी वालो की सहायता से पीछे उड़ेल दिया। रण्डी भड़वे घबरा गये और छुटकारे की सोचने लगे। इतने में बुढऊ उठे और पतुरिया (वेश्या) का हाथ पकड़ नाचने लगे। ऊपर छत से ढोलक बजने और ताली पिटने लगी। मुझे अकेले को होश में देखकर रण्डी–भडुओं ने हाथ बाँधकर रिहाई की दरखास्त की। मैंने बुढऊ का दूसरी ओर ध्यान खींचा। हाथ छूटते ही रण्डी भडुए सब निकल भागे। तब एक वमन हुआ और मुझे घृणा हुई। मैं मार्गवालों को डांटकर बाहर निकल गया और चलते हुए बाहर की कुण्डी लगा दी। यह दृश्य बड़ा घृणित था, परन्तु घर में उस रात पिताजी न थे। एक विशेष डाक की खबर सुनकर कोतवाली में सोये थे। मैंने लौटकर एक नई शराब का जाम पिया जो उसी दिन खरीदकर लाया था। उसने अन्धा कर दिया और मैं अपने जीवन में दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावट का संस्कार फिर जाग खड़ा हुआ। छः घण्टे बेहोश सा पड़ा रहा, परन्तु आत्मा में कोलाहल मचा हुआ था। अभी अन्धेरा ही था जब उठकर विवाह वाले घर का कुण्डा खोल दिया। प्रातः काल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त में बैठकर अनुताप करता रहा। उस दिन शाम को लौटकर ही भोजन किया।

दूसरे दिन से ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतों में जाना बन्द

हुआ। रात को फिलासोफी का स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ काल के लिये विदा हो गये।

ऋषि दयानन्द का सत्संग

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

१४ श्रावण संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बाँसबरेली पधारे। ३ भाद्रपद को चले गए। स्वाजी जी महाराज के पहुँचते ही कोतवाल साहब को हुक्म मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बन्दोबस्त कर दें। पिताजी स्वयं सभा में गये और स्वामी जी महाराज के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्संग में मुझे नास्तिक की संशयनिवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया। रात को घर आते ही मुझे कहा-'बेटा मुन्शीराम! एक दण्डी संन्यासी आए हैं, बड़े विद्वान् और योगीराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।' उत्तर में कह तो दिया कि चलूँगा परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जाननेवाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा। दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में पिताजी के साथ पहुँचा जहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख श्रद्धा उत्पन्न हुई, परन्तु जब पादरी टी॰ के॰ स्काट और दो तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया-'यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जायें।' व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ओ३म् पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आनन्द कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था। उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउन हाल मिल गया है, इसलिए कल से व्याख्यान वहाँ शुरू होंगे। स्वामी जी ने उच्च स्वर से कह दिया कि सवारी समय पर पहुँच जाया करेगी तो वह तैयार मिलेंगे।

टाउनहाल में जब तक 'नमस्ते', 'पोप', पुराणी', 'जैनी' 'किरानी', 'कुरानी', इत्यादि परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे तब तक तो पिताजी श्रद्धा से सुनते रहे, परन्तु जब मूर्तिपूजा और ईश्वरोवतार का खण्डन होने लगा तो जहाँ एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहाँ पिताजी ने तो आना बन्द कर दिया और एक अपने मातहत

थानेदार की ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्त की शाम तक मेरा समय विभाग यह रहा कि दिन का भोजन करके दोपहर को ही बेगम की कोठी पहुँच ड्योढी पर बैठ जाता। २ और ४ बजे के बीच में जब ऋषि का दरबार लगता तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य ऋषि को प्रणाम करता वह मैं था। प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उनका आनन्द लेता रहता। व्याख्यान के बाद २० मिनट तक सब दरबारी विदा हो जाते और आचार्य चलने की तैयारी कर लेते। मैं अपनी वेगनट पर सीधा टाउनहाल पहुँचता। व्याख्यान का आनन्द उठाकर उस समय तक घर न लौटता जब तक कि आचार्य दयानन्द की बग्घी उनके डेरे की ओर न चल देती। २४, २६, २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के पादरी स्काट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुए। विषय प्रथम दिवस पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार और तीसरे दिन यह था कि मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किये जाते हैं या नहीं। पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपातज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ९ भाद्रपद(१५ से २५ अगस्त) तक ऋषि जीवनसम्बन्धी अनेक घटनाएँ मैंने देखीं जिनमें से उन्हीं कुछ एक को यहाँ लिखूगाँ जिनका प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक मेरी आँखों के सामने घूम रही हैं।

मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रात: शौच से निवृत्त होकर, केवल कोपीन पहिने लट्ठ हाथ में लिये ३ बजे बाहर निकल जाते हैं और ६ बजे लौटकर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिए कि बाहर वह क्या करते हैं। दबदब-ए-केसरी अखबार के एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। ठीक ३ बजे निकलकर आचार्य चल दिये। हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे-धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझसा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रात:काल हम अढ़ाई बजे से ही घात में उस जगह छिपकर जा बैठे जहाँ से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्र मूर्ति को देखकर हम भागने को तैयार हो गये, वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये एडिटर भी लुढकते-लुढकते आ रहे थे। बीच में एक आध मील दौड़ भी रुद्र स्वामी ने लगाई। परन्तु वहाँ मैदान था मैंने भी उनको आँख से ओझल न होने दिया। अन्त में पाव मील धीरे-धीरे चलकर एक

पीपल के वृक्ष तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधि में स्थित रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गयी। उठकर दो अंगड़ाइयाँ लीं और टहलते हुए अपने तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये।

एक शनिचर के व्याख्यान के पीछे श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्यवार को) नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उसी समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुँचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूँगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हाल (व्याख्यान-भवन) खचाखच भर गया परन्तु आचार्य न पहुँचे। पाव घण्टा, आध घण्टा भी बीत गया परन्तु बग्घी की घड़घड़ाहट न सुनायी दी। पौन घण्टा पीछे दयानन्द की विशाल मूर्ति उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढती दिखाई दी। मध्य की डाट के नीचे वाली एक ओर की दीवार में सोटा टेककर, ईश्वर प्रार्थना के लिए बैठने से पूर्व उन्होंने कहा-'मैं समय पर तैयार था। परन्तु सवारी न आई। बहुत प्रतीक्षा के पीछे पैदल चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली। इसलिए देरी हो गई। सभ्य पुरुषो! मेरा कुछ दोष नहीं है दोष बच्चों के बच्चों का है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।' यह संकेत खजाँची लक्ष्मीनारायण की ओर था जिनके अतिथि होकर उनकी बेगम बागवाली कोठी में स्वामी दयानन्द रहते थे। बाबू लक्ष्मीनारायण सरकारी पाँच खजानों के खजाँची थे और बरेली में उस समय करोड़पति समझे जाते थे।

एक व्याख्यान में वह पौराणिक असम्भव तथा आचारभ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरी स्काट, मिस्टर एडवर्डस कमिश्नर,मिस्टर रीड क्लेक्टर, १५ वा २० अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पंचकुवारिओं की कल्पना पर कटाक्ष किया और एक से अधिक पति रखने वाली द्रोपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुनाकर श्रोतागण के धार्मिक भावों की अपील की। स्वामी जी के कथन में हास्यास्पद अधिक होता था, इसलिए श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हँसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले-'पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनों। यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा पाप करते

हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।' इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुँह क्रोध के मारे लाल हो गये परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही खजाँची लक्ष्मीनारायण को कमिश्नर साहब के यहाँ बुलावा आया। साहब ने कहा–अपने पण्डित स्वामी को समझा दो कि सख्ती से काम न लिया करें। हम ईसाई तो सभ्य हैं, वाद–विवाद की सख्ती से नहीं घबराते परन्तु यदि जाहिल हिन्दू–मुसलमान भड़क उठे तो तुम्हारे पण्डित स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे। खजाँची जी यह सन्देश आचार्य तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा करके लौटे। खजाँची जी चाहते थे कि बात छेड़नेवाला कोई अन्य मिल जाये जिससे वह आचार्य की झाड़ से कुछ–कुछ बच जायें। जब कोई खड़ा न हुआ तो मुझ नास्तिक को आगे किया गया। परन्तु मैंने यह कहकर अपनी पीछा छुड़ाया कि खजाँची साहब कुछ कहना चाहते हैं क्योंकि कमिश्नर साहब ने उनको बुलाया था। अब सारी मुसीबत खजाँची जी पर टूट पड़ी। खजाँची साहब कहीं सिर खुजाते हैं, कहीं गला साफ करते हैं। पाँच मिनट तक आश्चर्ययुक्त रहकर आचार्य बोले–'भाई तुम्हारा कोई काम करने का समय ही नियत नहीं, तुम समय के मूल्य को नहीं समझते। मेरे लिए समय अमूल्य है। जो कुछ कहना हो कह दो।' इस पर खजाँची जी बोले–महाराज! अगर सख्ती न की जाये तो क्या हर्ज है? असर भी अच्छा पड़ता है। अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं, इत्यादि–इत्यादि। बड़ी कठिनाई से अटक–अटक कर ये वचन गरीब के मुँह से निकले। महाराज हँसे और कहा–'अरे! बात क्या थी जिसके लिए गिड़गिड़ाता है। मेरा इतना समय भी नष्ट किया। साहब ने कहा होगा तुम्हारा पंडित कड़ा बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायेंगे, यह होगा वह होगा। अरे भाई! मैं हौवा तो नहीं कि तुझे खा लूँगा। उसने तुझ से कहा, तू सीधा मुझ को कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया।' एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला–'देखो! यह तो कोई अवतार हैं, मन के बात जान लेते हैं।'

उस शाम के व्याख्यान को कौन सुननेवाला भूल सकता है? मैंने बड़े–बड़े वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे–सीधे शब्दों से निकलकर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूँ।

उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्व दिवस के सब अंग्रेज पादरी स्काट के अतिरिकत उपस्थित थे। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुये आचार्य ने कहा-'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलैक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।' इसके पीछे एक श्लोक पढ़कर आत्मा की स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सके, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य अमर है फिर गरजते शब्दों में बोले-यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे। फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा-किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखाओ जो मेरी आत्मा का नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता तब तक मैं यह सोचने के लिए तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊँगा वा नहीं। सारे हाल में सन्नाटा छा गया। रूमाल का गिरना भी सुनाई देता था।

व्याख्यान में कुछ देर हो गई थी। उठते ही ऋषि दयानन्द ने पूछा-'भक्त स्काट आज दिखाई नहीं दिये।' पादरी साहब किसी व्याख्यान से भी अनुपस्थित न होते थे, और अलग भी प्रेम वार्तालाप किया करते थे, इसलिये ऋषि दयानन्द को उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। किसी ने कहा, पास के गिरजे चेपल में आज उनका व्याख्यान था। सीढ़ियों के नीचे उतरते ही ऋषि ने कहा-'चलो, भक्त स्काट का गिरजा देख आवें।' अभी तीन चार सौ आदमी खड़े थे। वह सारी भीड़ लेकर गिरजा पहुँचे। वहाँ व्याख्यान समाप्त हो चुका था। श्रोता सौ के लगभग थे। पादरी साहब नीचे उतर आये, स्वामी जी को वेदी पुलपिट पर ले गये और कहा कि कुछ उपदेश दीजिए। आचार्य ने खड़े खड़े ही बीस मिनट तक मनुष्य पूजा का खण्डन किया।

एक दिन आचार्य को पता लगा के खजाँची जी का सम्बन्ध किसी वेश्या से है। उनके आने पर पूछा-'तुम्हारा वर्ण क्या है?' उन्होंने कहा-'क्या कहूँ आप तो गुण कर्मानुसार व्यवस्था मानते हैं।' आचार्य बोले-'यों तो सब वर्णसंकर हैं परन्तु तुम जन्म के क्या हो?' उत्तर मिला-'खत्री।' महाराज बोले-'यदि खत्री के वीर्य से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे क्या कहोगे?' खजाँची ने सिर नीचा कर लिया। इस पर महाराज ने

कहा–'सुनो भाई! हम किसी का मुलाहजा नहीं करते। हम तो सत्य ही कहेंगे।' खजाँची जी ने उस वेश्या को कहीं अन्यत्र भिजवा दिया।

एक अन्तिम घटना के साथ अपूर्व सत्संग की कथा समाप्त करता हूँ। यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कनाशक्ति का सामना करनेवाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गई। मैंने कहा–'महाराज! आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती (अस्तित्व) है।' दूसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर तैयारी करके गया, परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर वही दिया–'महाराज! आपकी तर्कनाशक्ति बड़ी प्रबल है, आपने मुझे चुप करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।' महाराज पहले हँसे, फिर गम्भीर स्वर में कहा,'देखो, तुमने प्रश्न किए, मैंने उत्तर दिए–यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे।' अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद् वाक्य उन्होंने पढ़ा था–

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।कठ०–२.२.२२

हिन्दू देवी का मातृभाव और आर्यसभ्यता की श्रेष्ठता

दयानन्द सरस्वती स्वामी का अनन्य भक्त सन्निपात ज्वर से पीड़ित बीमारी के बिस्तर पर बेहोश पड़ा ही था कि वह बरेली से विदा हो गये। जब ज्वर से मुक्त होकर होश आया तो पहली इच्छा स्वामी जी के चरणों में उपस्थित होने की प्रकट की। सुना कि वह शाहजहाँपुर को पधार गये। जिस हकीम लल्ला जी के इलाज से बरेली पहुँचते ही बीमारी से मुक्त हुआ था, उसी की बेमालूम औषधि से अब ज्वर

टूटा। हकीम वैद्य और डॉक्टर ४८ घण्टों में कितने ही बदले, जब छः घण्टे हाथ पैर मार और १५० रु० लेकर अंग्रेज सिविल सर्जन भी विदा हो गये तब पिताजी ने विवश होकर आवारागर्द लल्ला को बुलाया। मेरे मित्र को शेष सारी दुनिया भूल गई और सब चिकित्सकों को पाँच सात गालियाँ देकर पाँव की ओर बैठ गया। प्यास लगी थी, घड़े का ठण्डा पानी मंगाया, उसमें मिसरी घोली और ३ माशे की लाल पुड़िया मिलाकर पूरा गिलास शरबत का पिला दिया। फिर नाभि में एक रोगन मला और कांसे के कटोरे से हाथों और पैरों में मक्खन लगा कर मालिश शुरू हो गई। फिर तीन-तीन घण्टों के पीछे दो बार पूर्ववत् ठण्डे पानी में मिसरी घोल और हरी पुड़िया मिलाकर शर्बत पिलाया गया। १२ घण्टों में बुखार उतर गया और मुझे नीद आ गई।

उठने पर लल्ला जी को बुलाया गया-'क्यों भाई! कैसी तबीयत हैं?' मैंने उत्तर दिया-'अब के बहुत कमजोर हो गया हूँ। पहली बार तो चटनी से १३ घण्टों में ठीक कर दिया था।' लल्ला जी बोले-'चटनी की चाट है, बात तो असल यह है। यह लो, अब के और भी मजेदार बनाई है। जितनी बार दिल चाहे एक अंगुली पर लेकर चाटते जाओ' चटनी क्या थी, नमक, मीठे खट्टे, चरपरे सब प्रकार के स्वादों का मिश्रण था। तीसरे दिन मैं प्रातः भ्रमणार्थ पैदल चला गया।

पिताजी को उन घटनाओं का ज्ञान था जिन्होंने मुझे नाच तमाशों से घृणा दिलाई और मद्यपान की आदत कुछ काल के लिये छुड़वा दी। उन्हें यह परिवर्तन पण्डित दयानन्द सरस्वती के सत्संग का फल दीख पड़ा, इसलिए यद्यपि वे हरिहर के निन्दक संन्यासी की बात स्वयं सुनना पाप समझते थे, तथापि पुत्र के काया पलट के लिए उसे धन्यवाद देते थे। मुझे आज्ञा हुई कि स्वदेश जाकर अपनी धर्मपत्नी को विदा करा लाऊँ।

मैं घर पहुँचा, जालन्धर जाकर सम्बन्धियों से मिला और तीसरी बार अपनी धर्मपत्नी को, बिना मुंह देखे विदा करा लाया। तलवन पहुँचकर अपनी अर्धांगिनी से पहली बातचीत हुई। पुराने नावलों के हवाई किले रुखस्त हुए परन्तु एक नया भाव उत्पन्न हुआ। वह यह कि जिस अबला को अपना आश्रय मिला है उसे गुणवती बनाने के लिए शिक्षा दूँ। उस समय मेरे मन में दया और रक्षा का भाव ही प्रबल था।

बरेली आने पर शिव देवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिन का

भोजन तो मेरे पीछे करती है परन्तु रात को जब कभी मुझे देर हो जाती और पिताजी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मँगा लेती और जब मैं लौटता उसी समय अंगीठी पर गरम करके मुझे कराती, पीछे स्वयं खाती। एक रात मैं रात के आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जी चौक के दरवाजे पर छोड़ी। दरवाजे पर ही बरेली के बुजुर्ग रईस मुन्शी जीवनसहाय का मकान था। उनके बड़े पुत्र मुन्शी त्रिवेणीसहाय ने मुझे रोक लिया। गजक सामने रखी और जाम भरकर दिया। मैंने इनकार किया। बोले–'तुम्हारे लिए ही तो आतशा खिचवाई है। यह जोहर है' त्रिवेणीसहाय जी से छोटे सब मेरे मित्र थे, उनको मैं बड़े भाई के तुल्य समझता था। न तो आतशा का मतलब समझा न जोहर का, एक गिलास पी गया। असल में वह बड़ी नशीली शराब थी, उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा करायें। उस समय तक न तो मैं कभी वेश्या के मकान पर गया था और न कभी वेश्या को अपने यहाँ बुलाकर बातचीत की, केवल महफिलों में नाच देखकर चला आता था। शराब ने इतना जोर किया कि पाँव जमीन पर नहीं पड़ता था। एक खूँड मेरे हाथ में था। एक वेश्या के घर मे जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को देखकर सब सलाम करके खड़ी हो गईं। घर की बड़ी नाई को हुकम हुआ कि हमारा मुजरा सजाया जाय। उसकी नौची के पास कोई रुपये देने वाला बैठा था। उसके आने में देर हुई। न जाने मेरे मुँह से क्या निकला। सारा घर काँपने लगा। नौची घबराई हुई दौड़ी आई और सलाम किया, तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा। उसने क्षमा माँगने कि लिए हाथ बढ़ाया और मैं नापाक–नापाक कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियों ने बतलाया। नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिए पर जा गिरा और बूट आगे कर दिए जो नौकर ने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढ़े पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। छत पर पहुँचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बन्द कर लिए और बरामदे के पास पहुँचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय नाजुक छोटी उंगली वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने उलटी खुल के की। अब शिवदेवी के हाथ में मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुँह पोंछ ऊपर का अँगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे–बैठे ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गई। वहाँ पलंग पर लेटा कर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठकर

माथा और सिर दबाने लगी। मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम से भरा मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृशक्ति की छत्रछाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ। पथराई हुई आँखें बन्द हो गईं और गहरी नींद सो गया। रात को शायद एक बजा था जब मेरी आँखें खुली व चौदह पन्द्रह वर्ष की बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी माँगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गर्म दूध अंगीठी पर से उतारा और उसमें मिश्री डाल मेरे मुँह को लगा दिया। दूध पीने पर होश आया। उस समय अंग्रेजी उपन्यास मगज में से निकल गए और गुसाईजी के खींचे दृश्य सामने आ खड़े।

मैंने उठकर और पास बैठ कर कहा–'देवी! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।' उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी।

शिवदेवी ने कहा–'आप के भोजन किए बिना मैं कैसे खाती। अब भोजन करने में क्या रुचि है? उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियाँ सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की परन्तु वहाँ उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था, 'आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुनाकर मुझ पर पाप क्यों चढ़ाते हो? मुझे शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूँ।' उस रात बिना भोजन किए दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

वैदिक आदर्श से गिरकर भी जो सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्य महिलाओं ने किया है, उस के प्रताप से भारत भूमि रसातल को नहीं पहुँची और उसमें पुनरुत्थान की शक्ति अब तक विद्यमान है–यह मेरा निज का अनुभव है। भारत माता का नहीं, उसके द्वारा तहजीब (सिविलिजेशन) की ठेकेदार संसार की सब जातियों का सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्त की पुरानी संस्कृति जागने पर देवियों को उनके उच्चासन पर फिर से बैठाया जायेगा।

स्त्री औदार्य का एक और दृष्टान्त देकर अपनी संसार यात्रा को आगे ले चलूँगा। छावनी के पारसी मद्यविक्रयी का बिल बढ़ता ही जा रहा था। दूसरे ही दिन उसका लगभग तीन सौ का बिल आ पहुँचा। उस दिन उसे तीन चार दिन की छुट्टी

लेकर टाल दिया। मुझे चिन्ता तो थी ही, शिवदेवी जी ने भोजन कराते समय मेरी चिन्ता का कारण पूछा। अब तो कोई बात आपस में गुप्त रह नहीं सकती थी। वेद के उपदेशानुसार मानो मेरा विवाह ही पिछली रात हुआ था। मैंने सब कुछ स्पष्ट कह दिया। देवी ने कुल्ला करवा के हाथ मुँह धुलवाये और अपना भोजन पाने से पहले ही अपने हाथ के सोने के कड़े उतार दिये। मैं चकित रह गया–'देवी यह कैसे हो सकता है? तुम्हें आभूषित करने के स्थान पर मैं तुम्हें आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूँ?'

इस समय मुझे ठीक संस्कृत कवि की कल्पना के अनुसार दृश्य जंचा और मैंने जान लिया कि पतिव्रता देवी पति की स्वास्थ्य रक्षा के समय माता, विपत्ति के समय भगिनी और उसे सन्तान सुख पहुँचाने के लिए धर्मपत्नी का रूप धारण करती है। देवी ने दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा–'एक जोड़ी पिता ने और दूसरी श्वसुर महोदय ने दी थी। इनमें से एक जोड़ी व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है। और जब तन भी आपका है तो इसके लेने में क्या संकोच है। आपकी चिन्ता दूर करने का यह महँगा सौदा नहीं।' शब्द पंजाबी के थे और उसके अनुवाद में कुछ मुझसे बढ़ाया भी गया होगा; प्रलोभन से बचने के लिए शेष रुपये देवी की सन्दूकची में रख दिये और मन में पक्का निश्चय कर लिया कि जब कमाने लग जाऊँगा तो व्यय किये हुए धन को फिर से आभूषणों में मिला दूँगा।

चाकरी का अनुभव

'सर्वं परवशँ दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।' मनु॰

पिता जी ने समझ लिया कि अब मैं कालिज में पढ़ने के योग्य नहीं रहा। मुझे पुलिस के काम से घृणा है, यह पिताजी जानते थे। कमिश्नर एडवर्डस उनके पुराने मेहरबान थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि तहसीलदारी की परीक्षा देकर उस महकमे में काम करना स्वीकार होगा या नहीं। मैंने स्वीकार कर लिया।

मेरे सबसे बड़े भाई तलवन में घर पर भूमि और साहूकारी का प्रबन्ध करते थे। दूसरे और तीसरे पुलिस सब इंस्पेक्टर (थानेदार) बनकर मिर्जापुर और हमीरपुर के जिलों में स्थित थे। चौथा मैं रह गया जिसको काम लगाना पिताजी ने अपना अन्तिम कर्त्तव्य समझा। वे कमिश्नर एडवर्डस के पास मुझे ले गये। साहब मुझसे अंग्रेजी में

बातचीत करके प्रसन्न हुए थे, न केवल मेरा रोल तहसीलदारी के लिए भेजा प्रत्युत बरेली का नायब तहसीलदार तीन महीने के लिए कर दिया, क्योंकि पक्का नायब छुट्टी पर जा रहा था। चारों ओर से इष्ट मित्रों ने बधाई दी और मैंने स्वीकार की।

तहसीलदार मुनीरूद्दीन मेरे पिता जी को अपना बुजुर्ग समझते थे क्योंकि पहले उनके पिता बरेली में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे और सं० १९१७-१८ में मेरे पिता से उनका बहुत मेल था। उन्होंने मुझे काम सिखाया और मैं परीक्षा की तैयारी भी करने लगा। बरेली की तहसील और कोतवाली आमने सामने है इसलिए भी मुझे अपनी व्यवस्था में कुछ भेद न मालूम हुआ। एक महीना भली प्रकार व्यतीत हुआ। फिर पन्द्रह दिनों की छुट्टी पर तहसीलदार गए। मैं उनका भी स्थानापन्न हुआ। पिताजी प्रसन्न हुए कि मैं शीघ्र उन्नति करूँगा, परन्तु उन १५ दिनों में मेरे मन का चित्र बदल गया। कलेक्टर और जण्ट मजिस्ट्रेट के बर्ताव को मैंने अपमानसूचक पाया। अन्दर ही अन्दर कुढता रहा और शेख मुनीरूद्दीन के लौटते ही अपना भाव उन्हें बतलाया। उनके उत्तर ने मुझे निराश का दिया-'अरे भाई' अंग्रेज तो बदमाश हैं। काला कितना ही बढ़ जाय फिर भी महकूम ही है। ऐसी उपजकी लेने से काम न चलेगा। मेरा बोझ फिर तहसीलदार ने संभाल लिया और एक मास मैंने और बिता दिया। अभी नायब साहब लौटने में १५ दिन बाकी थे। हमारी तहसील के एक पड़ाव पर सेना को रात काटनी थी। वह स्थान बरेली से ८ वा १० मील पर था। रसद रसानी के लिए मैं चपरासी जमादार लेकर पहुँचा। फौज गौरों की थी। उन्होंने अण्डेवाले के अण्डे बिना मूल्य दिये लूट लिये। मैंने कर्नल के पास शिकायत की और कहा कि यदि अण्डे बेचनेवाले गरीब के दाम उसी समय न चुका दिए गये तो मैं सब दुकानदारों को लौटा दूँगा। कर्नल साहब आग बबूला होकर बोले, 'तुम ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताखी का मतलब क्या है।' जब मुझे गुस्ताख कहा गया और धमकी दी गयी तो मुझसे भी न रहा गया। मैंने उत्तर दिया। 'मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूँ। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हो करलें।' कर्नल आगे बढ़ा। वह निहत्था था मेरे हाथ में हण्टर था। मैंने हण्टर सम्भाला। कर्नल जरा रुका और मैंने भागकर रकाब पर पैर रखा और जमादार चपरासियों को लौट आने की आज्ञा देकर घोड़े को एड दी। अन्य दुकानदार अण्डे लूटते ही भाग गये थे। मैंने लौटते ही

तहसीलदार को सारी कहानी सुनाई। उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लग गई। मैंने रात को सारी रिपोर्ट उर्दू में लिखी जो तहसीलदार के सुपुर्द कर दी और अंग्रेजी की रिपोर्ट लेकर मैं कलेक्टर साहब के बंगले पर पहुँचा। रिपोर्ट होते ही बुलाया गया। कर्नल साहब पहले ही बैठे थे। शिकायत कर चुके थे। कलेक्टर साहब मुझे देखते ही क्रोधातुर हो कहा–कर्नल साहब की क्यों हतक की। तुम्हें कर्त्तव्य न पालन करने का दण्ड मिलेगा। मैंने अपनी रिपोर्ट कलेक्टर के हाथ में देकर कहा–'इसे पढ़ लीजिए और फिर न्याय कीजिए।' मुझे बैठने को न कहा गया। मैं खड़ा–खड़ा अन्दर ही अन्दर विष घोलता रहा। मेरी रिपोर्ट पढ़कर कर्नल को लेकर अलग कमरे में चले गये। दस मिनट पीछे दोनों लौटे और कलेक्टर साहब ने कहा कि यदि मैं कर्नल बहादुर से क्षमा माँग लूँ तो मेरे विरुद्ध कोई भी महकमे की कार्यवाही नहीं होगी। मेरे मन की दशा तो बहुत टेढ़ी थी परन्तु रुककर मैंने साहब को सलाम किया और एकदम बाहर निकलकर तहसील की राह ली। वहाँ कमिश्नर साहब का सवार मुझे बुलाने आया था। उल्टे पैरों फिर छावनी को लौटा। कमिश्नर साहब मुझे स्थिर करने की फिकर में थे। बाहर की तहसील में स्थान खाली था। वह देना चाहते थे। मैंने कर्नल वाली सारी कहानी सुनाकर निवेदन किया कि सरकारी नौकरी से पेट भर गया, अब मुझे क्षमा कीजिए। मैं उसी दिन विदा चाहता था परन्तु कृपालु कमिश्नर एडवर्डस ने १५ दिन रोक, कलेक्टर के हुकुम को रद्द करके मुझे बिना किसी दाग के विदा किया। छुट्टी से लौट नायब साहब को नियमपूर्वक चार्ज देकर मैं सदा के लिए अंग्रेजों की चाकरी से मुक्त हो गया और जन्मपत्री की यह विधि भी मिलाकर मैंने तहसील से घर की राह ली।

मेरे भविष्य का आंशिक निर्णय

शायद संवत् १९३९ के प्रारम्भ में ही पिता जी की बदली खुर्जा जिला बुलन्दशहर हो गई। खुर्जा सब–डिविजन है। पिताजी वहाँ के सब–डिविजन पुलिस आफिसर नियत हुए। मैं भी शिवदेवी जी सहित उनके साथ ही चला गया। वेतन और भत्तों के २००/–रुपये मैंने बचाये थे। उन्हें उस रकम में मिलाया जो कड़ों को बेचकर बच रही थी और पिता जी के आगे रखकर केवल कड़े बेचने और बिल अदा करने ही कहानी उन्हें सुना दी। पिता जी मेरे स्पष्ट बर्ताव से प्रसन्न होकर बोले–'तुझे नास्तिक

कैसे कहते हैं, नास्तिक तो ऐसा सच्चा नहीं होता।' पिताजी की सहानुभूति से मुझे बड़ा संतोष हुआ। बरेली के अन्तिम डेढ़ मास में कोई विशेष घटना नहीं हुई। खुर्जा में आकर पिताजी ने पेन्शन लेने का विचार कर लिया। उनकी आयु ५४ वर्ष की हो चुकी थी। ५५ वर्ष की समाप्ति पर संवत् १८३९ (१८८२ ईस्वी) में पेन्शन मिल सकती थी। जून में पिताजी के पुराने हितैषी सी.पी. कार्माईकेल बुलन्दशहर आए थे। पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल होते हुए उन्होंने पिताजी को बनारस के मिर्जा रहमतुल्ला बेग वाले मुकद्दमे में से मुक्त कराया था। कमिश्नर होते हुए उन्होंने डाकुओं आदि मुकद्दमों के पता लगाने पर पिताजी की बड़ी प्रशंसा की थी और अब माल के उच्च अफसर सीनियर मेम्बर आफ दि बोर्ड आफ रेव्हेन्यु के अधिकार के निरीक्षण के लिए आये थे। पिताजी शिक्रम पर उनसे मिलने गये। उस समय बुलन्दशहर जाने के लिए चोला स्टेशन पर उतरना पड़ता था। मैं पिता जी के साथ गया। ग्राउस साहब कलेक्टर थे। यह मथुरा बहुत वर्षों तक रहे और तुलसीकृत रामचरितमानस के प्रसिद्ध अनुवादक थे। पिताजी मुझे उनसे मिलाकर कर्माइकेल साहब के पास मिलने, उसी के ठीक दूसरे कमरे में चले गए। मिस्टर ग्राउस भी तुलसीदास के प्रशंसक और मैं, नास्तिक होते हुए भी गुंसाई जी का भक्त। बड़ी मनोरंजक बातचीत हुई। इतने में कार्माइकेल साहब का चपरासी मुझे बुलाने आया। साहब ने मेरे पहुँचते ही कहा–'मैंने तुम्हारे पिताजी से तुम्हें माँग लिया है। तुम्हें १५० से ३५० तक के ग्रेड में ले लूँगा और तुम चार बरस में डिपुटी कलेक्टर बनकर निकल जाओगे। मेरे साथ चले चलो।' मैंने दो महीनों का अवकाश माँग लिया और उसके पीछे इलाहाबाद प्रयाग पहुँचने की प्रतिज्ञा की। कार्माइकेल साहब अपने आदमियों का पूरा पक्ष करने वाले थे और गोरे काले में कोई भेद नहीं जानते थे। शायद बंगाल के प्रसिद्ध गवर्नर लार्ड कार्माइकेल भी इन्हीं के कुल में से थे।

जुलाई में एक खून के मुकद्दमे की तहकीकात करते हुए पिताजी ने रामायण की कथा सुना घातक से जुर्म का इकबाल करा लिया। मकद्दमा सेशन सुपुर्द हुआ। सेशन कोर्ट मेरठ में लगता था। वहाँ पैरवी के लिए स्वयं गये। घातक को निश्चय हो गया कि यदि मैं अब दण्ड भुगत लूँगा तो मुझे आगामी योनि में इस पाप का फल भोगना न पड़ेगा। सेशन जज ने पिताजी को बाहर भेजकर मुलजिम को बहुतेरा

समझाया परन्तु वह यही कहता गया कि अगले जन्म में दण्ड भोगने के लिए मैं इस पाप को नहीं छिपाना चाहता। परिणाम यह हुआ कि घातक को केवल पाँच वर्ष कैद का दण्ड मिला।

मुकद्दमे का जिक्र तो मैंने रामचरितमानस की महिमा दिखाने को किया है परन्तु पिताजी की मेरठ यात्रा का असर मेरे भविष्य पर बड़ा प्रबल पड़ा। मेरठ में वह जालन्धर के लाला डूंगरमल वकील से मिले। मेरे विषय में बातचीत हुई और पिता जी ने निश्चय कर लिया कि पैंशन पाने पर मुझे वकील बनकर उनके साथ रहना चाहिए और इसलिए चाकरी की गुलामी में मुझे नहीं पड़ना चाहिए। पिताजी स्वयं चाकरी से घबरा चुके थे और अंग्रेजों के न्याय पर उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं रहा था। इधर मैं सोच रहा था कि किसी प्रकार मिस्टर कार्माइकेल के साथ की हुई प्रतिज्ञा से मुक्त हो जाऊँ। अस्तु, पिताजी ने मेरठ से लौटते ही अपना प्रस्ताव मेरे सामने रखा। मैंने प्रसन्नता से स्वीकार किया और मुझे जायदाद का प्रबन्धकर्ता बनाकर तलवन भेज दिया गया और समझा दिया कि संवत् १९३७ (जनवरी १८८१ ई.) लाहौर की कानूनी कक्षा में प्रविष्ट हो जाऊँ। सबसे बड़े भाई पिता जी से जुदा होकर अपना व्यापार करने लग गये थे, इसलिए मैं, धर्मपत्नी सहित तलवन पहुँच गया और सारा काम भाई साहब से सम्भाल लिया।

तलवन पहुँचकर एक ओर तीन बहियों का हिसाब चलाने लग गया और दूसरी ओर जमीनों की पैदावार की बटाई शुरू कर दी। पिताजी की आरम्भ कराई हुई बैठक भी ठाकुरद्वारे के साथ बनवा दी और उसमें झाड़ फानूस भी लगवा दिए। पाँच छः महीने तक बराबर ग्राम का साहूकार बना हुआ तद्रूप ही हो गया। अन्य सब अवस्था तो ठीक हो गई, परन्तु मद्य मांस का सेवन न छूटा। पढ़ना लिखना सब छूटा। दिनकटी शतरंज के खेल से होती रही। ठाकुरद्वारे की देवढ़ी शतरंजियों का अड्डा बन गई। मैं नास्तिक भी विचित्र था। मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार तो कहाँ, ईश्वर के अस्तिव पर भी विश्वास नहीं, परन्तु कृष्णजन्माष्टमी पर झाँकी ऐसी बढ़िया बना दी, झाड़ फानूस और लैम्पों की रोशनी ऐसी चमका दी और प्रसाद ऐसा स्वादिष्ट बाँट दिया कि तलवन का कोई व्यक्ति स्त्री पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध ऐसा न रहा जो झाँकी देखने न

आया हो। फिर उस पर तुर्रा यह कि साथ–साथ अन्धी श्रद्धा का खण्डन भी करता जाता। असल बात यह थी कि मैं पिताजी का कारिन्दा था और इसलिए उनके नियम किए हुए सब त्यौहार मनाकर उनकी आज्ञानुसार व्यय कर देता था।

तीन बरसों का अस्थिर जीवन

पौष १९३७ से मार्गशीर्ष १९४० तक

(जनवरी सन् १८८१ से दिसम्बर १८८३ तक)

'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।'

संशयग्रस्त के लिए न यह लोक, न परलोक और सुख भी नहीं है।

पौष, संवत् १९३७ (जनवरी सन् १८८१) के द्वितीय सप्ताह में ही लाहौर पहुँचकर रहने के लिए मकान की तलाश की। इसमें दो सप्ताह लग गये। लॉ–क्लास का नियम था कि ७५ प्रतिशत व्याख्यानों में उपस्थित हुए बिना परीक्षा में सम्मिलित होने नहीं दिया जाता था। अनुपस्थित होने के लिए छुट्टी लेने की कोई आवश्यकता न हुआ करती थी। मैं जनवरी के तीसरे सप्ताह में प्रविष्ट हुआ; उससे पहले आठ–नौ काम के दिन हो चुके थे। प्रविष्ट होकर दो तीन दिन कानून की पुस्तक देखी, उससे पीछे फिर अन्धे टाइप के अंग्रेजी नावल और काव्य खरीदकर पढ़ना और पुरानी इमारतों में मटरगश्त लगाना शुरू कर दिया उधर घर में भी कारिन्दागरी करनी थी। होलियों की छुट्टियों में तलवन गया और कुछ दिन अधिक लगाकर चार पाँच लेक्चर गँवाये। उन्हीं दिनों एक बखशीशसिंह नामी आवारागर्द मिल गया। लाहौर में रईस अताइयों की नाटक सभा बतलाकर, उनके अभ्यास के समय मुझे वहाँ ले गया। फिर मुझे सलाह दी कि यदि सौदागरी की दुकान खोली जाये और साथ शराब का लाइसेंस भी हो तो लाहौर का सारा खर्च निकलकर कुछ बच भी सकता है। मुझे ख्याल हो ही रहा था कि अब पिता जी पर बोझ नहीं होना चाहिए। बखशीशसिंह की सलाह मानकर होलियों के समय तलवन से ५००/– रुपया ले आया। तलवन का सारा कोष तो मेरे ही अधीन था, सोचा कि सौदागरी में लाभ उठाकर रुपया फिर कोष में डाल दूँगा। बखशीशसिंह मैनेजर बने। व्यय ही व्यय हुआ और मुनाफा कुछ नहीं। मेरी शिकायत पर मैनेजर ने उत्तर दिया कि अंग्रेजी शराब का लाइसेंस आते ही बिक्री बहुत बढ़ जायेगी। लाइसेंस के लिए मैंने डिपुटी कमिश्नर के नाम प्रार्थना पत्र लिखना शुरू

किया। उस समय शंका और लज्जा ने आ घेरा और मैंने आधा लिखा हुआ पत्र फाड़ दिया। दुकान अनारकली में ली थी। उस शाम को पास की दुकान वाले ने मुझे आ घेरा और कहा–'मैं बखशीश की दुकान समझता था। आपका यहाँ आना वह दोस्ताना बतलाता था। आज मालूम हुआ कि आप मालिक हैं। यह आवारगर्द है। बाप ने इसे निकाल दिया है। अपना माल सम्भाल लीजिये। मैं दुकान में गया तो बहुत सा माल एक आदमी बाँध रहा था और बखशीशसिंह कुर्सी पर बैठा था। माल रखवा दिया। माल बाँधनेवाले ने ८०/– रुपये बखशीशसिंह को लौटाए। उसकी जेब में ३५/– रुपए और मिले, वह भी रखवा लिए और उसे दुकान से निकाल दिया। शेष सारा माल २५ प्रतिशत घाटा उठाकर साथ वाले सौदागर के हाथ बेचा। मेज, कुर्सी, अलमारी भी सब नीलाम कर दी। दुकान के मालिक को एक मास का किराया दे ही चुका था। उसने १५ दिन में ही एक मास का किराया हजम करके आगे के हरजाने पर आग्रह न किया और मैं केवल २५०/–रुपये का घाटा उठाकर भी यही समझा कि बहुत सस्ते छूटे।'

यह सब करते वैशाख का पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ। इसके बाद कानून का अध्ययन भी शुरू हो गया और दो महीने तक नियमपूर्वक काम हुआ। परन्तु पिता जी की आज्ञा आई कि श्रावण के अन्त में भाई मूलराज जी की पुत्री का विवाह होगा, इसलिए मुझे शीघ्र तलवन पहुँचकर उसकी तैयारी में जाना चाहिए। मुझे छुट्टियों से १५ दिन पहले ही चल देना पड़ा और फिर कुछ लेक्चरों में अनुपस्थिति लिखी गई।

विवाह का काम जारी कर दिया। पिता जी को २५०/– रुपए की हानि का पूरा वृत्तान्त लिख दिया था। वे केवल १५ दिनों की छुट्टी पर आ सके। पिता जी ने ऐसा क्षमा किया कि उस २५० रुपये का पता मेरे भाइयों को भी न लगने पाया। विवाह की समाप्ति पर पिताजी चले गए। भाई आत्माराम जिला गाजीपुर के किसी पुलिस स्टेशन के थानेदार थे। वह विवाह में छुट्टी लेकर नहीं आये थे। पिताजी के पास उनकी शिकायत आयी हुई थी। मुझे आज्ञा हुई कि उनकी धर्मपत्नी को उनके पास पहुँचा दूँ और उनकी अवस्था ठीक करने का भी यत्न करूँ जिससे व्यर्थ धन उड़ाने से वह बच जाये। भाई आत्माराम की धर्मपत्नी अपनी एक भतीजी को साथ लेकर चलीं। मार्ग में खुर्जा, बरेली, और गाजीपुर ठहरते हुए हम सब भाई साहब के थाने पर पहुँच गये। मेरे जाते ही सब अवस्था सुधर गई और मैं उनके पास तीन–चार दिन रहकर और

पिताजी के पुराने अर्दली जमादार को उनके विषय में समझाकर लौट आया। लौटती बार बनारस और बरेली में पुराने मित्रों के पास कुछ अधिक ठहरा। फिर खुर्जे आया तो पिताजी ने ठहरा लिया। पेन्शन की दरखास्त वह दे चुके थे, इसलिए बहुत सा सामान उन्होंने मेरे साथ भेजने के लिए बँधवाया था। अन्त को तलवन सामान छोड़ और वहाँ का सारा प्रबन्ध ठीक करके मैं लाहौर पहुँचा। फिर बहुत से लेक्चरों में अनुपस्थिति लिखी गई।

इस बार मैं अपनी धर्मपत्नी को साथ ले गया। इससे व्यय तो अधिक हुआ परन्तु पढ़ाई खूब हुई। परीक्षा तक मैंने पूरी तैयारी कर ली। परन्तु अन्त को जोड़ने पर ७४ प्रतिशत के स्थान पर मेरी उपस्थिति लगभग ७० प्रतिशत निकली। एक और कारण भी मेरे लिए बाधक हुआ प्रोफेसर महाशय एक मास की छुट्टी पर गए और उसका स्थानापन्न कोई न मिला। यदि उन दिनों लेक्चर बन्द न रहते तो शायद मेरी कमी पूरी हो जाती। परन्तु अब क्या हो सकता था। मैं निराश घर लौट आया। इस अकृतकार्यता ने मुझे निराशवादी बना दिया।

निराशा के भंवर से मुक्ति

पौष १९३८(जनवरी सन् १८८२) के आरम्भ में लॉ क्लास के लेक्चरों में शामिल हुआ। जब ८० प्रतिशत से अधिक उपस्थिति हो गई तब इस विचार से लौट आया कि घर से तैयारी करके परीक्षा दूँगा। तलवन में पढ़े-लिखों की संगत नहीं मिल सकती थी, इसलिए मैं अधिकतर अपने श्वसुरगृह जालन्धर में रहने लगा। उन दिनों मेरा अधिक संग, अपनी धर्मपत्नी के सबसे बड़े भाई लाला बालकराम के साथ रहता था। संवत् १९४१ मार्गशीर्ष तक की संगतों को सत्संग नहीं कह सकता, हाँ कुसंगत की उपाधि तो दे सकता हूँ क्योंकि उनकी बादौलत आचरणों में कुछ गिरावट ही होती रही। मांस का तो उस कुल में प्रचार खूब था ही, मद्यपान को सभ्यता का चिन्ह समझा जाता और फिर जब मुफ्त की शराब मिले तो बिना दृढ़ अभ्यासी सदाचारी के कौन प्रलोभन से बच सकता है। कभी राय शालिग्राम जी के ग्राम राजपुरान्तर्गत भक्तपुरा में और कभी उनकी गढ़रूपी कोट किशनचन्द वाली हवेली में, इसी प्रकार कालयापन होता रहा। फिर श्रावण में पिताजी पेन्शन पर आ रहे थे। खुर्जा पहुँचकर सामान बँधवाने और तलवन लाने का काम किया। फिर जालन्धर में बैठा तो मुखतारी परीक्षा

की तैयारी करने, नावल पढ़ने और फिर उनकी कथा रात के समय लाला बालकराम आदि को सुनाने में फँस गया। अंग्रेजी उपन्यासों ने मेरे जीवन को बहुत अस्थिर बना दिया। इसलिए मुझे पीछे इनसे पूरी उपेक्षा हुई और अपने ब्रह्मचारी शिष्यों को भी इनसे बचने की प्रेरणा करता रहा और उनमें से जिन्होंने मेरे इस उपदेश का आदर किया, वे बतला सकते हैं कि उन्हें कितना लाभ हुआ।

जालन्धर में परीक्षा की तैयारी असम्भव देखकर मैं लाहौर चला गया। भाटी दरवाजे के अन्दर मकान किराये पर लिया। पास ही एक चौबारे पर 'सर्वहितकारिणी सभा' खुली हुई थी। उसके अधिवेशनों में शामिल होने लगा। वहाँ भाई जवाहिरसिंह और भाई दित्तासिंह ज्ञानी से भेंट हुई। ये दोनों सज्जन आर्यसमाज लाहौर से सम्बद्ध थे। भाई जवाहिरसिंह लाहौर आर्यसमाज के मंत्री, दित्तासिंह माननीय उपदेशक थे। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के सप्ताहिक जलसों में भी जाने लगा। लाहौर पहुँचकर मद्यपान का अभ्यास भी कम हो गया, सभा समाज में भी जाने लगा परन्तु परीक्षा की तैयारी में जी न लगता। १५ व २० दिन कुछ देखभाल के परीक्षा में बैठा। दो दिन पीछे ही निश्चय हो गया कि उत्तीर्ण होना असम्भव है। परीक्षा के दिन पूरे करके जालन्धर लौट आया और वहाँ ही परिणाम सुन लिया।

पिताजी पहली ही छमाही की पेन्शन लेने जालन्धर आए तब उन्हें मेरे अनुत्तीर्ण होने का समाचार मिला। मुझे उदास देखकर उन्होंने तसल्ली दी और अपने साथ तलवन ले गए। मेरी धर्मपत्नी भी अपनी तीन चार मास की पुत्री गोद में लिए चली गई। तीन महीने गृह आनन्द में व्यतीत हुए। पुत्री का नाम वेदकुमारी रक्खा और उसके गोद में लेने में दम्पति को स्वर्ग का सुख अनुभव होता था।

परन्तु संसार द्वन्द्वमय है, सुख में दु:ख अवश्य विघ्न डालता है। भाई आत्माराम नौकरी से अलग होकर परिवार सहित घर लौट आये। इस प्रकार पिताजी के साथ दो परिवार हो गए। शिवदेवी जी की अवस्था कुछ ऐसी हो गई जिसे देखकर मुझे क्लेश हुआ। परन्तु उस देवी में ऐसी अपूर्व सहनशक्ति थी कि मुझे भी शान्त कर दिया। अब मुझे यह विचार सताने लगा के मुझे कुछ कमाने योग्य बनना चाहिये। गम गलत करने के लिए शराब की आदत बढ़ती गई। मुझ में एक अवगुण था जिसने अधिक हानि पहुँचाई। यदि मुझे नशा शीघ्र हो जाता और अधिक पीने से मैं बेहोश हो

सकता तो शायद इस बुरी आदत से घृणा हो जाती। परन्तु मेरी हालत यह थी कि बरांडी की पूरी बोतल चढ़ाकर भी अकल की बातें करता और पैर कभी न लड़खड़ाते। इसकी सनद मुझे अपने छोटे साले 'रायजादा हंसराज' के विवाह पर मिली। छिड़कनी का दिन था जब लड़के और लड़की वाले दोनों मिलकर होली खेला करते हैं। बारात समधियाने में जाने को तैयार हुई। पीते-पीते सब मदमस्त हो गए थे। मैं सबसे बढ़कर डेढ़ बोतल चढ़ा चुका था, परन्तु पितातुल्य राय शालिग्राम जी ने मुझे बुलाकर-'मुंशीराम जी! समधियों के घर जाकर कोई नामुनासिब हरकत न हो जाय। जिसको तुम इजाजत दो वही जाय। अगर मुझे भी जाने के लायक न समझो तो मुझे भी रोक देना।' इससे बढ़कर सर्टिफिकेट क्या मिल सकता है। परन्तु यह गुण मेरे लिए विष से भी बढ़कर सिद्ध हुआ। मुझे पीछे देर तक पश्चात्ताप रहा और चिरकाल तक यही आवाज अन्दर से उठती रही कि यदि मैं उस समय इस पाप से पनाह पा जाता तो लोकसंग्रह का कितना अधिक काम कर सकता। परन्तु एक समय आया जब मुझे अपने किए सारे पापों का प्रायश्चित्त करने का अवसर मिला।

आधे ज्येष्ठ से आधे भाद्रपद तक तीन मास इसी उधेड़बुन में गुजरे कि किसी प्रकार अपना गुजारा अपनी कमाई से करने के योग्य हो जाऊँ। श्रावण के अन्त तक ऐसे ही विचारों ने मुझे मुखतारी परीक्षा की तैयारी से रोक रक्खा, पहले कुछ इस ख्याल ने आ घेरा कि यदि कार्माइकल साहब का कहना मान लेता तो आज इस बेबसी का हाल न होता। फिर प्रत्येक दूसरे दिन नौकरी के लिए प्रार्थनापत्र तैयार करता और फाड़ डालता। अन्त को फिर परीक्षा की तैयारी की सूझी। आधी से अधिक पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी कर ली। २० दिनों तक केवल रात के तीन घण्टे सोकर पढ़ते-पढ़ते रात-दिन एक कर दिया। आँखें पथरा गयी। और तीन घण्टे क्या, एक मिनट के लिए भी नींद हराम हो गयी। तब मैं धर्मपत्नी को लेकर दशहरे के पीछे जालन्धर चला गया। वहाँ आज्ञाकारिणी शिवदेवी को मन की सारी अवस्था सुनाकर मैंने उसे बतलाया कि मैं नौकरी की तलाश में चला हूँ। इस पर देवी की सहमति माँगी। वहाँ उत्तर एक ही था-'आप जो उचित समझें कीजिए। मैं सम्मति देने के योग्य नहीं। मेरा धर्म आपकी आज्ञा का पालन करना है।'

मैंने सब तैयारी कर ली। अंग्रेजों की चाकरी को बहुत गिरा हुआ समझता

था। हृदय की तसल्ली के लिए यह निश्चय किया के मेरी ससुराल वालों को हाल मालूम हो। भाई बालकराम मुझे ट्रेन पर चढ़ाने को तैयार हुए। मैंने लाहौर का टिकट ले लिया और ट्रेन में बैठकर चल दिया। मार्ग में विचारतरंग ने फिर आ घेरा–'जिस चाकरी को तू गुलामी कहा करता था उसी की शरण लेने चला है। हिन्दोस्तानी रियासतों में तो और भी अधिक दासता है। अभी परीक्षा में दो मास बाकी हैं। यदि बिना परीक्षा दिये भाग गया तो सम्बन्धी और इष्टमित्र मुझे क्या समझेंगे। एक बार और हिम्मत कर। इत्यादि–इत्यादि।'

मियांमीर पहुँचने तक निश्चय कर लिया मुखतारी की परीक्षा अवश्य देनी है। लाहौर पहुँचते ही एक मित्र मिल गये जो मुखतारी कर रहे थे। उनके साथ पाचक भी था। मैं उनके व्यय में शरीक हो गया और परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी। रामरंग और गुलछर्रे सब भूल गये। दिन को भोजन के पीछे छावनी की सड़क पर निकल जाता और चिड़ियाघर में कोई एकान्त स्थान देखकर बैठ जाता। शाम तक वहीं पढ़ता और बाहर ही दिसा फरागत हो डेरे पर लौट आता, रात को फिर लैम्प होता और मैं। किसी समय स्काट के उपन्यासों पर आधी रात तक तेल जलाता था, अब आँखें प्रात: दो बजे से छ: बजे तक कानून की किताबों की भेट हो रही थी। परीक्षा देकर लौटा और सीधा पिताजी के पास चला गया–कारण यह कि इस बार कृतकार्य होने की पूरी आशा थी।

परीक्षोत्तीर्ण होने का तार भाई बालकराम जी ने फिल्लौर द्वारा दिया। पिताजी के आनन्द की सीमा न रही। ठाकुरों का श्रृंगार कराया गया, ब्रह्मभोज हुआ और यहाँ तक के मौसा रलदूराम जी के आग्रह पर, एक विवाह पर आयी हुई रण्डी के नाच की आज्ञा भी पिताजी ने दे दी। तार द्वारा बालकराम ने मुझे शीघ्र बुलाया था। मैं जालन्धर होता हुआ लाहौर गया, मुखतारी का लाइसेन्स लाया और अपना नाम जिला जालन्धर के कानून–पेशा जमात में लिखाकर अदालतों में जाना आरम्भ कर दिया।

एक विशेष घटना का वर्णन संवत् १९४० के अन्तर्गत ही करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने चान्द्र १३ कार्तिक दीपमालिका की शाम को अन्तिम समाधि लगाकर अपने कार्य का बोझ आर्यसमाजों पर छोड़ा। देश के सब प्रान्तों में शोक सभाएँ हुई और कोई भी समाचार–पत्र ऐसा न था जिसमें उनके काम और विद्वत्ता की प्रशंसा न निकली हो। जब समाचार पत्रों में यह शोकसमाचार मुद्रित हुआ उस समय मैं

जालन्धर में था मेरी प्रेरणा पर शोकसभा पण्डित शिवनारायण वकील के कमरे में की गई। लाहौर से वक्ता माँगे गये। वहाँ से पण्डित गुरुदत्त और लाला हंसराज भेजे गये। हम सब उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर गये। जब एक पिद्दा सा एम.ए. क्लास का विद्यार्थी और बी.ए. क्लास का सुक्कड़सा हड्डियों का पिंजरा दिखाई दिया तो पण्डित शिवनारायण आदि ने कहा कि लाहौरवालों ने हमारे साथ मखौल किया है कि लड़के भेज दिये। परन्तु जब लाला हंसराज उर्दु में और पण्डित गुरुदत्त अंग्रेजी में संशोधक दयानन्द के गुण वर्णन कर चुके तो एक दर्जन से अधिक वकीलों में से किसी का हौसला नहीं पड़ता था कि उनके धन्यवाद के लिए चार शब्द बोल दे। अन्त को सब मौन देखकर पण्डित देवीचन्द्र वकील ने चार पंक्तियाँ बोल दीं।

इतरावस्था की पराकाष्ठा

जिला जालन्धर के कानूनपेशा आदमियों की सूची में नाम लिखाकर वकीलों के कमरे बार रूम में बैठने और गपशप लगाने का अधिकार हो गया। कुछ सम्बन्धियों के मुकद्दमों में बिना उजरत लिए, मुख्तारनामों पर "स्वीकार है" लिखकर अपने नये पद का प्रमाण भी दे दिया परन्तु अभी तक मंगनी की गाड़ी पर ही कचहरी जाता रहा और स्वसुरगृह में भोजन करता रहा। इस प्रकार दस दिन बीतने पर टुण्डे मौलबख्श बीस बरस के चलते पुर्जे युवक को भाई बालकराम जी ने मुंशी रखवा दिया। शर्त यह ठहरी कि यदि काम लाने अर्थात् मुकद्दमे वालों को मेरे पंजे में फँसवाने में कृतकार्य हुआ तो एक महीने पीछे वह स्थिर कर दिया जावेगा। मौलाबख्श उसी साँझ एक फौजदारी वाले मुलजिम अपराधी को फाँस लाया जिसकी पेशी फिल्लौर के तहसीलदार की अदालत में थी। दूसरे दिन प्रातः २५ /– जेब में डालकर मैं फिल्लौर चल दिया। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि तहासीलदार साहब रात को कचहरी करते हैं। सय्यद आबिदहुसैन तहसीलदार थे। वह मेरे पिताजी को अपना बुजुर्ग समझते थे, क्योंकि उनके पिता 'सय्यद हादीहसन' मेरे पिता के साथ ही संवत् १९१७ में बरेली के डिपुटी कलेक्टर रह चुके थे। मैं उन्हीं के यहाँ उतरा। दो मुकद्दमे मुंसफी के ले आया। दोनों की आठ रुपये पेशगी फीस मिली। दिन को मुन्सफी में काम किया, एक का फैसला अनुकूल होने पर आठ रुपये और मिल गये। दूसरे में दस दिन की तारीख पड़ गयी। रात को तहसीलदार साहब के सामने पेशी हुई। वह दीर्घसूत्री थे। आधी

शहादत लेकर मुकद्दमा ७ दिनों के लिये मुतलबी कर दिया। रात को ही तहसीलदार साहब की सम्मति के अनुसार निश्चय हुआ कि फिल्लौर में ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। फिल्लौर में उन दिनों बड़ी रौनक थी। छोटी सी छावनी भी थी, जिले में कुछ गोरे रहते थे, रेल का स्टेशन भी अव्वल दर्जे का था। तहसीलदार साहब की कृपा से रेलवे स्टेशन के समीप यौमुहानी पर एक दो-मंजिला कमरा किराये पर मिल गया। फिल्लौर से ही पिताजी को लिख दिया कि बरेली कोर्ट मुश्कन घोड़ी, बरतन इत्यादि भेज दें। भृत्य भी पिताजी ने तलवन से ही भेज दिया। मैं भी तीन चार दिन में भाई बालकराम आदि से विदा होकर फिल्लौर में जम गया और लगी आकाशवृत्ति की मौज आने। जिस प्रकार सुलफई ब्राह्मण अनिश्चित यजमानों के किए दान पर निर्भर टांग पर टांग रक्खे बैठे रहते हैं और उन्हें कोई दिन भूखे और कोई दिन खीर मालपुए का बीतता है, इसी प्रकार के नये वकील मुखतार की भी गति है। किसी दिन जेबें भर गयी। फिर चार चार दिन आमदनी की फाकामस्ती।

अस्तु, मैं फिल्लौर में जम गया। फाल्गुन में खूब काम चमका। मुझे पिताजी का असीम प्रेम और उनकी क्षमा कभी भूली न थी। संगति के बराबर वाले शराबियों को प्राप्त न थी। मुन्सिफ भी दीनदार सुन्नी मुसलमान थे। सय्यद आबिन हुसैन शिया थे। परन्तु इतने परहेजगार कि सिवाय मेरे पिताजी के और किसी हिन्दू काफिर के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीते थे। कोई दूसरा वकील मुखतार वहाँ था नहीं। मैं भी परहेजगार बन गया, फाल्गुन के मध्य में आदित्यवार को तलवन गया। सारी आमदनी व खर्च का हिसाब पिता जी के सामने रखकर अपनी पहली कमाई के ७५ रुपये उनके चरणों पर रख दिये। पिताजी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे हार्दिक आशीर्वाद दिया। मैंने प्रतिज्ञा की कि प्रत्येक मास आय-व्यय का हिसाब उनके सामने पेश करूगाँ। दूसरे मास में २००/- प्राप्त हुए और ७५/-व्यय शेष १२५/- शेष फिर भेंट किए। तब पिता जी ने कह दिया कि तुम्हारी परीक्षा हो चुकी, अब कमाओ ओर गृहस्थी चलाओ, मुझे संतोष है।

वैशाख के आरम्भ (अप्रैल के मध्य भाग) में निश्चय हुआ कि परिवार भी फिल्लौर आ जावे। एतदर्थ देवी को पुत्री सहित पहले तलवन ले गया। पिताजी का पुनः आशीर्वाद लेकर चलने और उनके मुअत्तल होकर पुलिस लाइन में लाये जाने का

समाचार आया। उसी समय बिहार प्रान्त के भागलपुर शहर से पिताजी के नाम एक मुकद्दमे में गवाही देने के लिए सम्मन आया। यह उन मुकद्दमों में से एक था जिनका, बलिया में रहते हुए ही पता लगाने पर उन्हें विशेष पारितोषिक मिल चुका था। धर्मपत्नी को तलवन छोड़ फिल्लौर गया। जाते ही पता लगा कि "मौलाबखश" मेरे नाम पर सौदागर से अंग्रेजी शराब, दुकानदार से घी और बासमती के चावलादि उधार ले आया है। यह भी पता लगा कि वह रात को बैठक के नीचे नहीं सोता प्रत्युत वेश्या के घर रहता है। उसका अप्रैल 'वैशाख' का वेतन मुझे देना था, वह देकर मैंने दुकानदार को निपटाया और मुन्शी साहब को उसी समय चलता किया। मौलाबखश के जालन्धर जाने के पीछे शराब के सौदागरादि आये, परन्तु फिर क्या हो सकता था। मौलाबखश भोजन मेरे यहाँ करता था, १० रुपये मासिक वेतन मिलता था, ३० वा ३५ मासिक मुकद्दमे वालों से ले छोड़ता था। यह सब कुछ व्यय करने के अतिरिक्त पचास-साठ रुपये लोगों के मारकर भाग गया।

मौलाबख्श से इस प्रकार छुटकारा हुआ। बग्घी, घोड़ी तथा अन्य सामान तलवन भेज और शेष मुकद्दमे निपटाकर मैं पिता जी के साथ मेरठ चल दिया। पिता जी तो एक दिन ठहरकर भागलपुर चले गए और मैं भाई साहब के मुकद्दमे की तैयारी करके वकील को देने के लिए, उनके पास पुलिस लाइन में जा रहा। बीस दिनों पीछे पिता जी लौटे। उनके लिए अलग मकान किराये पर ले छोड़ा था, उसी में मैं भी आ रहा। ज्येष्ठ और आषाढ (मई-जून) मास मेरठ में ही व्यतीत हुए। पिता जी इन्सपेक्टर जनरल पुलिस तथा अन्य हाकिमों के नाम मुझसे पत्र लिखवाते रहे। अन्त में भाई साहब अपनी जगह पर बहाल तो हो गये परन्तु पिताजी ने उन्हें सम्मति दी कि नौकरी छोड़ और इज्जत लेकर घर चले आवें। रिश्वत से धन बहुत कमा चुके थे, उन्होंने भी पिताजी की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर एक मास पीछे त्यागपत्र दे दिया और जन्मभूमि में लौटकर पिताजी से मकानों का हिस्सा बटवा, अपने लिए नया मकान बनवाना शुरू कर दिया। श्रावण (जुलाई) में मैं तलवन लौटा। वहाँ से जालन्धर जाकर वह महीना तो मकान किराये पर लेने और सामान मँगवाने में व्यतीत हुआ। भाद्रपद (अगस्त) में अभी दुकान जमने ही लगी थी कि आश्विन (सितम्बर) की छुट्टियाँ आ पहुँचीं। बग्घी में घोड़ी जोत कर फिर तलवन को चल दिया।

कार्तिक लगते ही फिर जालन्धर पहुँचा। मुखतारी फिर चमकने लगी। शराब ने फिर दबा लिया। फिल्लौर में पिताजी को हिसाब देना होता था। वह सदाचार के पथ डगमगाना रोकने के निमित्त मेरे लिए बड़ी भारी अंकुश था। यदि गृहदेवी की सत्संगति या पुत्री का सहवास नित्य होता तो भी रक्षा होती। परन्तु देवी पितृगृह में रहती थी, मैं दूसरे तीसरे दिन मिलने आया करता था। उर्दू "नजम नसर" (पद्य गद्य) का शौक बार रूम में जोरों पर था और पंजाबियों तथा उर्दू के केन्द्रस्थानों में घूम आनेवालों में प्रामाणिक समझा गया था। हर महफिल में मैं बुलाया जाता। फिर से पूरी बोतली चढाने की आदत पड़ गई। काम तो चला और आमदनी भी बढ़ी, शरीर के सब भोग प्राप्त हो गये परन्तु आत्मा है वा नहीं इसमें भी सन्देह हो गया। और तो क्या, शारीरिक अंग भी दुखदाई हो गए। यह माना कि शरीर के बाह्य परिवर्तन कुछ नहीं मालूम होते थे, चलता भी पुरानी तेजी से ही था, पूरी बोतल चढा जाने पर भी न पैर डगमगाते और न वाणी लड़खड़ाती। परन्तु मस्तिष्क की यह अवस्था हो गई के आध घण्टा पढ़ने के पीछे सिर चक्कर आने लगते और पांच मिनट किसी एक विषय पर विचार न कर सकता। ये सब सामान किसी बड़े परिवर्तन के सूचक थे।

अन्धकार की अन्तिम रात्रि

पौष संवत् १९४१ (दिसम्बर सन् १८८४) में मालूम हुआ कि साधारण शिक्षितों को वकालत की परीक्षा देने के लिए एक वर्ष का समय और दिया गया है। उसके पश्चात् बिना बी.ए. पास किए कोई भी मुखतार वकालत की परीक्षा न दे सकेगा। मुझे वकालत पास करनी आवश्यक थी क्योंकि मुखतार को जिस मुकद्दमें में चाहे अदालत पैरवी करने से रोक सकती थी। मैंने बड़े दिन की छुट्टियों से पहले ही काम बन्द करके लाहौर जा वकालत के लिए व्याख्यान सुनने की तैयारी करली थी परन्तु मद्य-मांस खाने-पीने वाले "हमप्याला हमनिवाला" मित्रों ने दावत देना शुरू कर दिया। प्रत्येक शाम को किसी-न-किसी मित्र के यहाँ मुर्गों के गले काटे जाते, अण्डे भूने जाते और प्याले के दौर चलते। नित्य दिन को तैयारी करता और नित्य ही सायंकाल वह की कराई तैयारी प्याले की लहर में बह जाती।

एक दिन एक बड़े वकील के यहाँ निमन्त्रण था। वहाँ खुला दौर चला। और तो सब अपने-अपने घरों को चले गए, मेरे साथ केवल एक "पांचों ऐब शायरी" बांके

मुखतार रह गये। उन्हें कच्चे घड़े की चढ़ी हुई थी। बाहर निकलते ही उनका पैर लड़खड़ाया, मैं अपने अभ्यासानुसार बराबर होश में था। मेरे साथी का घर शहर की गलियों की भूलभुलैया के अन्दर था। उन्हें घर पहुँचाना मेरा कर्त्तव्य ठहर गया। बग्घी को वहाँ से विदा करके मैं मदमस्त शराबी के साथ शहर के अन्दर घुसा। मेरा एक हाथ साथी की कमर में और दूसरा उसके हाथ को सहारा दे रहा था। मार्ग की गली में मुझ से छूट वह एक घर के अन्दर चला गया। मैं पहुँचा तो वहाँ एक वेश्या बैठी थी। मुझे बहुत लज्जा आई परन्तु मदमस्त को तो घर पहुँचाना था। उसकी गलियाँ सहते हुए भी उसे वहाँ से ढ़केला और उसके घर पहुँचा दिया। तब अपने उस समय के डेरे पर लौट आया। जिस मित्र के यहाँ उतरा हुआ था, वह बोतल खोले बैठे थे। अभी रात के आठ ही बजे थे। फिर दौर चलने लग गया। आधी बोतल शेष थी जो दोनों ने समाप्त की और दूसरी बोतल खुल गई। उसी में से अभी एक-एक पैग ही चढ़ाया था कि मेरे यजमान (मेजबान) भी आपे से बाहर होने लगे। मैंने उन्हें पीने से रोककर सोने को कहा। वह बीच का किवाड़ खोल साथ के कमरे में गये। उनके जाते ही मैंने एक बार और पी ली और दूसरा प्याला भरने की सोच ही रहा था कि साथ के कमरे से चीख की आवाज आई। मैं किवाड़ ढकेलकर अन्दर पहुँचा तो देखा कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्र के हाथों में छटपटा रही है और वह उस पर पाशिवक आक्रमण कर रहा है। यदि मैं दो मिनट और न पहुँचता तो शायद उसके पतिव्रत धर्म की रक्षा न हो सकती। उस समय बिजली की तरह मेरी अन्दर की आँखों के सामने राजरानी का पवित्र चित्र घूम गया और मेरी धर्मपत्नी शिवदेवी जी की मानो मूर्ति स्थित हो गई। मैंने उस नराधम मित्र के दोनों हाथ पकड़कर उसे ढकेल दिया। वह गिरा और देवी कांपती हुई अन्दर भाग गई। पिशाच मित्र को जबरदस्ती पलंग पर लिटाकर मैं बाहर आ गया। मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्टि के आगे घूमने लगा और तब से पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिए उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँ। इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक और पर्दा उठा और यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाए शरीर विभूति रमाये और हाथ में मोटा लट्ठ लिए सामने आ खड़ी हुई। ऐसा लगा मानो महात्मा कह रहे हैं-'क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा

विश्वास न होगा?' आँख मली, मूर्ति कहीं सामने न थी परन्तु हृदय कांप उठा। मेरा कमरा सड़क की एक ओर था, जहाँ किसी दूसरे के घर की दीवार थी, गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फैंकी वह भी दीवार में टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

उठकर मुँह हाथ धोया और बैठकर सोचने लगा। यदि उस समय निन्द्रा न आ जाती तो व्याकुलता का कोई पारावार न रहता। परन्तु दयालु पिता की बड़ी कृपा हुई। एकदम नींद आ गई, छः बजे नींद खुली। उठकर शौच-स्नान से निवृत्त होकर सामान बग्घी में लादा और सीधा रेलवे स्टेशन पहुँचा। प्रातः दस बजे ट्रेन लाहौर की ओर जाती थी उसकी प्रतिक्षा में बैठ गया। मित्र आठ बजे उठकर मुझे लौटा ले जाने के लिए पहुँचे परन्तु अब मैं लौटता कब था? न भोजन की इच्छा, न जल की। ट्रेन आयी और गाड़ी में बैठ गया। सामान, मेज-कुर्सी सहित पहले बुक करा मार्ग में मैं अपने ध्यान में ही निमग्न रहा। मार्ग में ट्रेन का हर्जा भी हो गया परन्तु मेरा ध्यान न उखड़ा और आँखें उस समय बाहर देखने लगीं जब ट्रेन मियांमीर के स्टेशन पर पहुँची, तब तीन बज चुके थे। मुझे प्यास मालूम हुई। सोड़वाटर की एक बोतल लेकर पी और सावधान हो गया।

लाहौर रेलवे स्टेशन पर पहुँचकर सामान ब्रेक से छुड़ाया और सीधा रहमत खाँ के अहाते के एक मकान में पहुँचा जहाँ रायजादा भक्तराम ने मेरे लिए कमरा सुरक्षित कर रखा था। जाते ही भोजन किया और रात के आठ बजे तक पुस्तक वस्त्रादि ठीक प्रकार रख और मेज कुर्सी लगा आध घण्टा कुछ पढ़ा और फिर सो गया। इस नींद के अन्दर मानो नये जन्म की तैयारी थी और लाहौर पहुँचने के दूसरे दिन से ही जीवन में पूरा परिवर्त्तन हो गया।

द्वितीय परिच्छेद

प्रकाश की क्रमशः विजय

आचार्य का आदेश पूरा हो रहा है।

लाहौर में पहली रात सोकर आँखें खोलीं तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी नये जगत् में प्रवेश किया है। शौचादि से निवृत्त होने पर मन में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति का स्पर्श होने लगा। भ्रमण के लिए बाहर निकला और बिना प्रयास ही गोलबाग का रास्ता पकड़ा। दो मील तेज चलकर लौटने के बाद आधे घंटे वाटिका में बैठकर आत्मिक आनन्द लिया। साम्प्रदायिक उपासना-विधियों से मैं परिचित न था परन्तु उस रचना में रचयिता को ढूँढते हुए मुग्ध हो गया। आधे घण्टे पीछे धीरे-धीरे धरती पर पग रखते हुए अपने डेरे पर लौटा।

उसी दिन नियमपूर्वक क्लास (कानून जमात) में नाम लिखवाकर पहले शरीक हुआ, रात को नियमपूर्वक कानूनी किताबों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। तीसरे दिन आदित्यवार था। प्रातः आर्यसमाज मन्दिर में हरिकीर्तन का आनन्द लिया। दो मुसलमान रवाबी भजन गाया करते थे। व्याख्यान क्या था, चाऊचाऊ का मुरब्बा था। कहीं पौराणिक और ईसाई मतों का खण्डन, कहीं नित्य हवन के लिए दलीलें। शाम को ब्राह्म मन्दिर में गया। वहाँ भी रवाबी गा रहे थे। उनके तराने समाप्त होने पर साधारण ब्रह्मसमाज के आचार्य शिवनाथ शास्त्री वेदी पर आये। ईश्वर-प्रार्थना के समय उनकी शान्त मूर्ति, उनके हृदयबेधक उच्चारण और प्रेम रस में पगे हुए शब्दों ने मुझे आकर्षित किया। उनके धर्मोपदेश का विषय था-'भक्ति का महत्त्व' और मैं था बिछुड़े हुए से मिलने का प्यासा। इतना प्रभावित हुआ कि ब्राह्मसमाज के सम्बन्ध में जितनी भी पुस्तकें उस समय मिली सब खरीद लीं और अपने कमरे में पहुँच एक लघु पुस्तक(पैम्फलेट) को उसी रात समाप्त करके सोया।

पाँच-छः दिन इन्हीं पुस्तकों का स्वाध्याय, कानूनी पढ़ाई के साथ आधे समय का हिस्सेदार बनता रहा। सीधी सड़क चलते-चलते एक जगह रोड़ा अटक गया। लाला काशीराम उस समय नव विधान समाज के मुखिया थे। उन्होंने पुनर्जन्म खण्डन में कोई लघु पुस्तक लिखी थी। ब्रह्मसमाज के साहित्य में जीवात्मा की उत्पत्ति अर्थात् उसका आदि परन्तु साथ ही उनकी अनन्त उन्नति का सिद्धान्त, समझ में न

आया। मैं काशीराम जी के मकान पर गया। उन्होंने मेरी शंका सुनकर अपनी लघु पुस्तक पढ़ने को दी। मैंने उसे डेरे पहुँचते मार्ग में ही पढ़ लिया। दूसरी बार फिर उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा और जो-जो शंकायें सूझी उन्हें नोट कर लिया। मुझे चैन कहां था, उसी शाम दफ्तर का समय समाप्त हुआ समझकर लाला काशीराम के घर पहुंचा और आधा घण्टा प्रतीक्षा करने पर भी वह न आये। उनके छोटे भाई भक्त माधोराम आर्यसमाजी थे। उन्हें कह दिया कि अगली सुबह को अवश्य पहुंचूंगा, इसलिए अपने भाई से घर ठहरने के लिये निवेदन कर दें। दूसरे दिन काशीराम जी मेरा इन्तजार कर रहे थे। मैंने अपनी शंकाएं पेश कीं। उन्होंने उत्तर में मुझे बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार निर्मित ग्रन्थों के पढ़ने की सम्मति दी। मैं उन ग्रन्थों को पहले ही पढ़ चुका था। तब उन्हें मेरी शंकाओं को सुनना पड़ा। ब्राह्मसमाजी उत्तरों से मेरी तसल्ली न हुई, उलटा पुनर्जन्म एवं कर्म-फल के सिद्धान्त पर निश्चय और भी दृढ़ हो गया। तब पादरी स्काट के साथ आचार्य दयानन्द के शास्त्रार्थ का स्मरण आया। मैं सीधा बच्छोवाली के आर्यसमाज मन्दिर की ओर सत्यार्थप्रकाश खरीदने के विचार से चल दिया। विक्रय पुस्तक भण्डार बन्द था। चपरासी ने कहा कि लाला केशवराम पुस्तकाध्यक्ष के आने पर पुस्तक मिल सकेगी। मैंने उनके घर का पता लिया और दो घण्टों की आवारागर्दी के पीछे उनका घर ढूँढ निकाला। केशवराम जी घर न थे। बड़े तारघर गये थे क्योंकि वह तारबाबू का काम करके ही आजीविका प्राप्त करते थे। मैं तारघर का पता लगाकर वहाँ पहुँचा। उस समय वह छुट्टी में जलपान के लिए घर गये थे। मैं फिर उनके घर लौटा तो वह तारघर लौट गए थे। पूछने से पता लगा कि डेढ़ घण्टे ड्यूटी से लौटेंगे। मैंने वह डेढ़ घंटा पास की गली के अन्दर मटरगश्ती में बिताया। एक सज्जन बाबू केशवराम जी के घर मे जाते दिखायी दिए। मैंने उन्हें जा घेरा "महाश्य जी! मुझे सत्यार्थप्रकाश खरीदना है।" उत्तर मिला "निवृत्त होकर कुछ खा लूं फिर आपके साथ समाज मन्दिर चलूँगा।" मैंने अपनी सारे दिन का इतिहास सुनाकर बाहर ठहरने की इच्छा प्रकट की। केशवजी का मुख सहानुभूति से चमक उठा और उन्होंने कहा-"महाशय जी चलिये पहले आप को पुस्तक दे दूँ। जब तक आप का काम न कर लूं मुझे इत्मीनान न होगा।"

समाज मन्दिर में पहुँचने पर सत्यार्थप्रकाश मेरे हाथ में रक्खा गया। मैंने मूल्य

दिया और इस प्रकार आह्लाद पूर्वक लौटा मानों बड़ा कोष हाथ लग गया है। मेरे साथी मुझे प्रात:काल के भोजन में सम्मिलित न देख विस्मित थे। जब मैं पहुँचा तो सायंकाल का भोजन परोसा जा रहा था, खूब भूख लगी थी, भोजन रुचिपूर्वक किया। शाम को भ्रमण के लिए गया ही नहीं, लैम्प जला, सत्यार्थप्रकाश की भूमिका समाप्त कर प्रथम समुल्लास के स्वाध्याय में लग गया।

आर्य समाज में प्रवेश

संवत् १९४१ का माघ मास और आदित्यवार का दिन है। नास्तिकपन के गढ्ढ़े से मैं निकल चुका हूँ। धर्म-विषयक गहरे आन्दोलन के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश का पाठ दिन रात आरम्भ कर चुका हूं। अनारकली के पास रहमत खां के अहाते में एक तीन कमरे वाली कोठरी के बाईं ओर के कमरे में प्रात: ६ बजे कुर्सी पर बैठा हूँ। सत्यार्थप्रकाश का आठवाँ समुल्लास सामने खुला पड़ा है, किन्तु मैं हाथ पर सिर रखे किसी गम्भीर विचार में निमग्न हूँ। इतने में कमरे का द्वार खुला और मेरे मित्र सुन्दरदास जी ने अन्दर प्रवेश किया। उनके पैर की आहट ने मुझे विचार निद्रा से जगा दिया। यह सुन्दरदास जी रावलपिण्डी के राजक्रांति के आन्दोलन में फंसे वकील लाला अमोलकराम के भाई आर्यजाति की उन्नति के दृढ़ पक्षपाती थी। सुन्ददास जी जानते थे कि आस्तिक बनने के पश्चात् मेरा अधिक झुकाव ब्रह्मसमाज की ओर हो रहा है। उन्होंने पूछा-"किस चिन्ता में हैं, कहिए कुछ निश्चय न हुआ?" मेरी ओर से उत्तर न मिला-"पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सभासद् बन सकता हूँ।" इस उत्तर ने सुन्दरदास जी के मुख की क्रांति को ऐसा उज्जवल कर दिया कि उसका तत्काल ही मुझ पर प्रभाव पड़ा। मैं अपने ४० वर्ष के आर्यसमाजिक जीवन में जब-जब किसी संशयात्मक व्यक्ति को संशयसागर के किनारे पर पहुँचाकर श्रद्धा और विश्वास की रमणीय वाटिका में विश्राम कराने का साधन बना हूँ तब कई बार मैंने इस प्रकार के आह्लाद का अपने अन्दर अनुभव किया है।

सुन्दरदास जी को हम सब "भाई सुन्दरदास" कहते थे। यद्यपि उनके नाम के साथ इस शब्द का प्रयोग उनके मित्रों ने हँसी दिल्लगी से किया था, किन्तु जिस प्रेम से वे अपने मित्रों की सेवा किया करते थे और जिस प्रकार का भ्रातृभाव उनके

अन्तःकरण को पवित्र कर रहा था उनके बाह्य बर्ताव ने उन्हें सचमुच अपने मित्रों का भाई ही बना दिया था। भाई जी वहीं जम गये। मेरे स्थान में ही स्नानादि नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर मुझे साथ ले आर्यसमाज की ओर चल दिए।

लाहौर आर्यसमाज मन्दिर में पहिली वक्तृता

भाई सुन्दरदास जी के साथ मैं शह-ए-आलमी दरवाजे से नगर के अन्दर प्रवेश करके सीधा आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचा। बच्छोवाली का वर्त्तमान मन्दिर ही पुराना समाज मन्दिर है। इस समय बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी उसकी पुरानी दशा आँखों के आगे स्पष्ट घूम रही है। द्वार के अन्दर जाते ही बाईं ओर बड़े आँगन के पासवाले दालान में मेज रहता था। उसके नीचे आँगन में बड़े तख्त पर ईश्वरोपासना करनेवाले के लिए स्थान था। दालान के सामने होकर बाईं ओर की छोटी सी कोठरी में पुस्तकालय था।

संवत् १९४१ के माघ में मैं लाहौर पहुँचकर प्लीडरी की परीक्षा की तैयारी कर रहा था। तब से यह नियम था कि प्रत्येक रविवार को प्रातः आर्यसमाज और सायंकाल ब्रह्मसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होता। किन्तु इस दिन कुछ भाव ही और था और आर्य मन्दिर की छवि भी कुछ निराली ही दिखाई देती थी। वही दोनों रवाबी (गायक) जिनको हर सप्ताह ब्राह्म आर्य मन्दिरों में बिहारीलाल की संगीत माला तथा नानक और कबीर के ग्रथों में से भजन गाते सुनता था, मन्दिर में सारंगी के अलाप और तबले की थाप के साथ भैरवी की तान तोड़ रहे थे।

" उतर गया मेरे मनदा संसा जब तेरा दरसन पायो" कैसे समय के अनुकूल शब्द थे जो मेरे कानों में पड़े।

मैं सामने वाली दीवार के पास बैठ ही रहा था कि आर्यसमाज लाहौर के प्राणदाता स्वर्गीय लाला साईंदास जी के कान में भाई सुन्दरदास जी ने कुछ कहा,शायद यह बतलाया कि मैं ऋषि दयानन्द की शरण ग्रहण कर चुका हूँ। उस शक्तिशाली मूर्ति को कौन भूल सकता है? जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर विदेशी सभ्यता की लहर ने प्राचीन सभ्यता को छिपाना आरम्भ किया था, उस समय ऋषि दयानन्द के उपदेश पर जिन कुछ महानुभावों ने स्वदेशी का आदर आरम्भ किया उनमें लाला साईदास जी अग्रणी थे। किसी के सिर पर स्वदेशी पटका, किसी का कुर्ता

स्वदेशी गवरून का, किन्तु लाला साईंदास सिर से पैर तक स्वदेशी रंग में ही रंगे होते थे। सिर पर लुधियाने की सादी लुंगी, जिसके नीचे तीक्ष्ण मर्मवेधक आँखें, जो दूसरे के अन्तःकरण के भावों को समझ लेतीं। गले में सादा गबरून का कुरता जिस पर जोड़ी का सादा चोगा पड़ा होता और उस चोगे की घुण्ड़ी में गबयन का रूमाल बंधा हुआ, कुजियों के गुच्छे को आश्रय देता, जो कंधे के ऊपर पीछे को लटक जातीं। लाला साईंदास जी के पैर में मैंने सदैव सादा पंजाबी जूता देखा। लाला जी पंजाब चीफ कोर्ट में अनुवादक (ट्रांसलेटर) थे। आर्यसमाज मंदिर तथा चीफकोर्ट की पोशाक में भेद केवल इतना होता की जहाँ मंदिर में स्वदेशी मोटी धोती पहनकर आते वहीं चीफकोर्ट जाते हुए स्वदेशी जोड़ी का पाजामा पहन लेते।

लाला साईंदास जी उपासना की चौकी की बाईं ओर बैठा करते थे। उनकी दृष्टि मुझ पर देर से पड़ी थी। भाई सुन्दरदास जी की बात सुनते ही लाला जी ने दो–तीन बार जोर से मुझे अपने पास बुलाने का इशारा किया। ऐसे समय में लाला जी की मूछों का फड़कना उनके अन्दर एक विचित्र प्रकार के तेज की सूचना दिया करता था। मैं खिसककर लाला जी के पास जा बैठा और उन्होंने बड़े प्रेम से पीठ पर हाथ धरकर मुझे आशीर्वाद दिया। उसी समय भाई दित्तासिंह जी ने पंजाबी भाषा में बड़ा रोचक व्याख्यान आरम्भ कर दिया। भाई दित्तासिंह उन दिनों लाहौर आर्यसमाज के बड़े उत्साही सभासद् थे और आदित्यवार प्रायः व्याख्यान दिया करते थे। भाई दित्तासिंह जी ने अपने व्याख्यान की समाप्ति पर मेरे आर्यसमाज में प्रवेश का जिक्र करते हुए मुझ से अपने तथा भाई जवाहिरसिंह जी मंत्री के पुराने सामाजिक सम्बन्ध का वर्णन किया। उसके पश्चात् जवाहिरसिंह जी उठे। वह उस समय लाहौर आर्यसमाज के मन्त्री थे। यह वही भाई जवाहिरसिंह थे, जो पीछे आर्यसमाज के नेताओं की भूल से अमृतसर के हर मन्दिर के प्रबन्धकर्त्ता बनने की धुन में आर्यसमाज के शत्रु तथा अपने पूर्व गुरु ऋषि दयानन्द के निन्दक बन गये थे। किन्तु उस समय भाई जवाहरसिंह जी ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के ऐसे भक्त थे कि जहाँ श्री साईदास जी तथा राय मूलकराज एम.ए. अंग्रेजी तथा उर्दू में ऋषि से पत्र व्यवहार करते वहाँ भाई जवाहिरसिंह सदैव आर्य भाषा में अपने गुरु को पत्र लिखा करते, अस्तु।

भाई जवाहिरसिंह जी उठे और मेरे आर्यसमाज प्रवेश के विषय में कुछ कहकर समाप्ति पर कह दिया कि ये अपने कुछ विचार उपस्थित सज्जनों के समक्ष प्रकट करेंगे। इस घोषणा ने मुझ पर मानो वज्रपात कर दिया। इससे पहले मैं विद्यार्थियों की वाग्वर्धिनी सभाओं में तो बोला था, न्यायालयों में न्यायाधीशों के सामने मुकदमों में भी वक्तृताएं की थीं, किन्तु सर्वसाधारण के किसी बड़े समूह के सामने व्याख्यान नहीं दिया, पहले से कुछ सोचने का भी अवसर नहीं मिला था, इसलिए हैरान था कि क्या बोलूं। उठते-उठते यही सूझी कि अन्दर के भाव प्रकट कर दूँ। मुझे उस समय की वक्तृता का पूरा स्मरण तो है नहीं किन्तु २० वा २५ मिनटों में मैंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि हम सबके कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिएं और इसलिए जो वैदिक धर्म के एक-एक सिद्धान्त के अनुकूल अपना जीवन नहीं ढाल रहा है। उसे उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिए। मुझे याद है कि मैंने समाप्ति पर यह भाव भी प्रकट किया था कि भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता, इस पवित्र कार्य के लिए स्वार्थत्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।

जिस दिन मैंने व्याख्यान दिया उस दिन आर्य मन्दिर में अमृतसर निवासी हीरासिंह जी भी विद्यमान थे वह लाहौर के ट्रेनिंग स्कूल में अध्यापकों की शिक्षा पाने के लिए गये हुऐ थे। जब दो तीन वर्षों के पश्चात् मास्टर हीरासिंह जी जालंधर अध्यापक बनकर आये तो उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरी पहली वक्तृता सुनकर जब लाला साईंदास जी अपने घर आये तो उस वक्त मास्टर जी तथा अन्य तीन चार आर्यसमाजिक सभ्यों के सामने इन्होंने कहा-"आर्यसमाज में नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आयी है। देखें आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" मुझे अपने प्रवेश से पहले का प्रत्यक्ष कोई हाल तो मालूम नहीं, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि उस समय एक वैतनिक उपदेशक के और कोई उपदेश का काम नहीं करता था और सिवाय दोनों मुसलमान रवाबियों के लाहौर आर्यसमाज का कोई सभासद् भी स्वयं ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना के भजन गायन नहीं किया करता था।

जो स्पिरिट स्वर्गीय श्रीमान लाला साईंदास ने आर्यसमाज के अन्दर नई समझी थी उसका परिणाम अच्छा निकला या बुरा, इसका पता पाठकों को इसी लेखमाला के अन्दर बिना मेरी किसी टीका-टिप्पणी के मिल जायेगा।

जालन्धर आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध का आरम्भ

रहमतखां के अहाते में तीन-तीन कमरे वाले दो मकान हम लोगों ने इकट्ठे लिये थे। उनमें छः साथी एक साथ रहते थे, मेरे अतिरिक्त और पाँच रहते थे, उनकी सूची यहीं दिए देता हूँ-(१) मेरे भाई रायजादा भक्तराम, जो इस समय जालंधर के प्रसिद्ध बैरिस्टर हैं। (२) म॰ मुकुन्दराम जी, रायजादा भक्तराम के साथ ही बैरिस्टरी की परीक्षा के लिए इंग्लैण्ड गए थे, जहाँ समुद्र में नहाते समय उनकी अकाल मृत्यु हुई। यह बड़े स्पष्टवक्ता और दृढ़ आर्य तथा सन्ध्या वन्दनादि के पालन में बड़े पक्के थे। (३) स्वर्गीय म॰ रामचन्द्र जी होशियारपुर आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रधान। इनका नाम ही महाशय था और यह उस समय भी बड़े कट्टर आर्यसमाजी समझे जाते थे। (४) महाशय फकीरचंद जी श्याम चौरासी (जिला होशियारपुर) के प्रसिद्ध वजीर रामदित्तामल जी के भतीजे जो यद्यपि उस समय स्वतन्त्र विचार रखते थे किन्तु पीछे से हमारे कॉलिज वाले भाइयों की प्रादेशिक सभा के प्रधान हो गए थे और (५) रायबहादुर सुखदयालु एडवोकेट लाहौर के भाई मुखदयालु। इनमें से एक मैं ही प्लीडरी की तैयारी कर रहा था, शेष सब लाहौर के गवर्नमैन्ट कालिज में पढ़ते थे। यद्यपि हम सब जुदे-जुदे रहते थे तथापि भोजन सबका एक ही स्थान में बनता था और भोजन जीमने के लिए भी सब एक ही छोटे कमरे में और निमन्त्रित अतिथियों के आने पर किसी बरामदे में इकट्ठे हुआ करते थे। इतनी भूमिका आवश्यक थी, क्योंकि आगे के चार-पाँच महीने मैंने उसी स्थान में व्यतीत किए और इसलिए प्रबन्ध की ओर कई बार संकेत करने की आवश्यकता होगी।

लाहौर के आर्य मन्दिर से लौटकर हम सब इकट्ठे डेरे पर आये। मेरे कथन ने मेरे साथियों पर भी असर किया। भोजन के समय भाई सुन्दरदास, महाशय मुकुन्दराम आदि ने यह निश्चय किया कि वैदिक धर्म का सन्देशा सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए हम सब सप्ताह में कम से कम एक बार नगर के किसी भाग में बिना विज्ञापन दिए पहुँचा करें। इस प्रतिज्ञा पर उस वर्ष के बड़े हिस्से में अमल होता रहा।

भोजन के पश्चात् कुछ कानूनी किताबें पढ़कर मैं टहल रहा था कि तीसरे पहर की डाक आयी। उसमें जालन्धर कन्या महाविद्यालय के प्रसिद्ध वर्तमान प्रधान श्री महाशय देवराज जी का पत्र था। मालूम होता है कि मेरे नास्तिकपन के गढ्ढे से

निकलकर आस्तिक होने का समाचार भक्तराम जी ने अपने बड़े भाई को लिख दिया था। इन दोनों ने पहले से ही जालन्धर में आर्यसमाज स्थापित कर छोड़ा था। इस पत्र में देवराज जी ने जो कुछ मुझे लिखा उसका सारांश यह था कि अत: मैं जब नास्तिक नहीं रहा इसलिए मैं जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया हूँ और उन्होंने स्वयं मंत्री पद ग्रहण किया है। मैंने पत्र भक्तराम जी को दिखलाया और छूटते ही मेरे मुख से निम्न शब्द निकले-

"भाई देवराज भी बड़े भोले हैं। केवल यह सुनकर कि मैं ईश्वरवादी हो गया, उन्होंने कैसे समझ लिया कि मैं आर्यसमाज में भी प्रविष्ट हो गया हूँ। बिना यह निश्चय किए और बिना मेरे परीक्षण के मुझे प्रधान बनाना बड़ा ही आश्चर्यजनक है।"

भाई भक्तराम जी ने कहा-"बाल की खाल नहीं निकालनी चाहिए और जालन्धरी आर्यों को निराश नहीं करना चाहिए। मेंने सोचने के लिए समय मांगा और विचार करने लगा।"

सायंकाल के भोजन के पश्चात् अन्य साथियों को छोड़ अकेले भक्तरामजी को साथ लेकर मैं भ्रमण के लिए चल दिया और मैदान में बैठकर हम दोनों ने इस विषय पर कि मुझे प्रधान पद ग्रहण करना चाहिए या नहीं गम्भीर विचार आरम्भ कर दिया। मुझे जहाँ तक स्मरण आता है मैंने अपनी निर्बलताओं की स्पष्ट समालोचना की और साथ ही प्रधान पद के उत्तरदायित्व को भी बहुत कुछ बढ़ाकर सामने रखा। जब अन्त तक में मैंने यह भाव प्रकट किया कि आर्यसमाज के प्रधानत्व का उत्तरदायित्व एक राजा के शासन से भी बढ़कर कठिन है, भाई भक्तराम जी खिलखिलाकर हँस पड़े-'

" मुंशीराम जी! चार टोटरू तो मेम्बर हैं और अभी लड़कों का खेल है, आपने विचित्र उधेड़ बुन लगा दी।"

इस पर मुझे हँसी आयी और मैंने भी मान लिया कि मैं कुछ अधिक विचार करके उत्तर लिख दूँगा। हम लोग डेरे पर लौट आये। इस छोटी सी साधारण घटना का वर्णन मैंने इसलिए किया है कि जिस भाव से विशेष समयों में, मैं प्रेरित होता रहा हूँ, वह सर्वसाधारण के सामने आ जाए।

बहुत से मनुष्यों के लिए मतपरिवर्तन का निर्णायक कोई विशेष सामाजिक

प्रलोभन या अन्य गौण बात हुआ करती है किन्तु मेरे लिए यह मत–परिवर्तन जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। इस समय तक भी मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी ओर है कि मैं साधारण से साधारण सिद्धान्त के प्रश्न को जीवन और मृत्यु का प्रश्न बना लेता हूँ। मेरे जीवन की बहुत सी घटनाओं को समझने में यही एक बात सहायता दे सकती है। इस घटना पर दीर्घदृष्टि डालने से यह भी पता लग सकेगा कि दूसरों के गुणों तथा योग्यता का मान करते हुए तथा वास्तव में उनके प्रति प्रेम और आदर का भाव मन में रखते हुए भी क्यों मैंने ऐसे बहुत से पुरुषों को शत्रु बना लिया है जिनका मेरे साथ मिलकर काम करना वैदिक धर्म तथा आर्य जाति की उन्नति का साधक होता।

मैं तो अभी विचार सागर में ही गोते लगाता रहा किन्तु भाई भक्तराम जी ने जालंधर सूचना दे दी कि मुझे निःशंक होकर आर्यसमाज जालंधर का प्रधान बना दिया जावे। मैंने आर्यसमाज का सभासद् बनने पर आठवें समुल्लास को समाप्त कर सत्यार्थप्रकाश के पाठ को दो दिनों से विराम दे छोड़ा था, किन्तु जब यह पता लगा कि मुझे निश्चय रूप से एक आर्यसमाज का प्रधान बना दिया गया है तो मैंने फिर नियमपूर्वक प्रतिदिन दो घण्टे सत्यार्थप्रकाश के पठन व मनन के लिए अर्पण करना शुरू कर दिया। नवें समुल्लास ने मुक्ति विषय में बहुत से संशयों की निवृत्ति करके मनुष्य जीवन के परमोद्देश्य के रहस्य को खोल दिया। पश्चात् मैंने दशम समुल्लास को हाथ लगाया। उस समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य के विषय ने जीवन में एक और हलचल डाली जिसका सविस्तार वर्णन आवश्यक है।

मांसभक्षण का परित्याग

लाहौर में जबसे मैं इस बार आया तब से ही दोनों काल भ्रमणार्थ बाहर जाया करता। सायंकाल को तो भोजन के पश्चात् अपने कानूनी सहपाठियों के साथ बातचीत करते हुए मैं धीरे–धीरे घूमा करता था, किन्तु प्रातःकाल नित्य लम्बा चक्कर लगाता, जिसमें थोड़ी दूर तक दौड़ना भी शामिल था। एक दिन होली से चार पाँच दिवस पहले, मैं दूर से भ्रमण करता हुआ अनुमान ५ बजे अनारकली में पहुँचा। बाहर स्वच्छ वायु का सेवन करते हुए वाटिकाओं के सुन्दर दृश्य देखे थे, अनारकली में सामने से सिर पर मांस का टोकरा दिखाई दिया। टोकरे को उठाने वाला मनुष्य बोझ के दबाव से बचने के लिए भागा जाता था और टोकरे में भेड़–बकरियों और बकरों की खाल

उधडी़ हुई बाहर लटकती हुई टांगे एक भयानक दृश्य उपस्थित कर रही थी। न जाने क्यों उस दिन इस दृश्य ने मेरा दिल दहला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि वह लटकती हुई टांगें, मेरे अन्दर के तिरोहित करुणरस को अपील कर रही हैं। मैं बाल्यावस्था से ही मांसाहारी था, पिताजी क्षत्रिय के लिये मांसभक्षण स्वाभाविक समझते थे। फिर इस आकस्मिक करुणरस का मतलब उस समय कुछ भी समझ न आया। उस टोकरे की ओर मेरी टकटकी बंध गई। कुछ सोचता हुआ मैं खड़ा हो गया और उस समय तक टोकरे पर दृष्टि लगी रही जब तक कि वह आँखों से ओझल न हो गया। तब धीरे-धीरे पैर बढ़ाते हुए चिन्ता में निमग्न रहमत खां के अहाते वाले डेरे में पहुँचा।

स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सत्यार्थप्रकाश को हाथ में लिया ही था कि अपना एक और कर्त्तव्य याद आ गया। सप्ताह में एक रात हमारे ही डेरे के एक बड़े कमरे में संगत समाज(यूनियन क्लब) का अधिवेशन हुआ करता था। जिसमें विविध विषयों पर परस्पर विचार होता था। उस रात के अधिवेशन में आरम्भिक वक्तृता मेरी थी। उसकी तैयारी में प्रातःकाल का दृश्य भूल गया। तीसरे पहर तक कानून की पढ़ाई में लगा रहा, जिसके पश्चात् सत्यार्थप्रकाश की बारी आयी। उस दिन दशम समुल्लास में से भक्ष्याभक्ष्य के विषय का आरम्भ था। ज्यों-ज्यों मांसभक्षण के दोष पढ़ता गया त्यों-त्यों प्रातःकाल का दृश्य मूर्तिमान् होकर मेरे समक्ष खड़ा होता गया। एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक पढते-पढते भोजन का समय आ पहुँचा। अपने विचार में निमग्न हाथ पाँव धोकर मैं भी भोजनगृह में आ बैठा। अन्य खाद्य वस्तुओं के साथ ही मांस भी कटोरे में आया ही था कि उसे देखकर उस दिन ऐसी घृणा हुई कि कटोरे को उठा दीवार पर फेंक मारा। कटोरा टुकड़े-टुकड़े हो गया। मेरे साथी सब घबराये-है! है! क्या तरकारी में मक्खी पड़ गयी? क्या था? ओ मिश्शर! कमबख्त यह क्या किया-मैंने सबको रोक कर कहा-"मिश्शर बेचारे को कुछ मत कहो, एक आर्य के मत में मांसभक्षण भी महापापों में से एक है, मैं मांस का अपनी थाली में रक्खा जाना सह नहीं सकता। उस समय तो सब भाई ऐसे प्रभावित हुए की चुप ही रहे किन्तु पीछे से कहते रहे कि कटोरा टुकड़े-टुकड़े करने के स्थान में उसे मैंने केवल उठवा ही क्यों न दिया। उन्हें तो मैंने कुछ उत्तर न दिया किन्तु मन में समझता था कि मैंने

अपने कायरपन के कारण ऐसा किया। बचपन से पड़े हुए अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शान्ति से काटने की शक्ति किन्हीं बिरले बहादुरों में ही होती है। शाम भोजन बहुत कम कर सका। दूसरे दिन से निरामिषभोजियों की संख्या बढ़ गयी क्योंकि होशियारपुर के महाशय रामचन्द्र तथा लाला मुकुन्दराय, दोनों निरामिषभोजी थे। उसके पश्चात् ही मांस भोजन की रुचि तक नहीं हुई और कुछ दिनों के पश्चात् ही मांसभक्षण से ऐसी घृणा हुई कि मेरे लिए न केवल उस पंक्ति में बैठना असह्य हो गया जिसमें मांस परोसा जाय, अपितु मांसाहारियों के चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा।"

होली की छुट्टियों के लिए मुझे भाई देवराज जी का निमंत्रण मिला। मेरे आर्यसमाजी बनने के पश्चात् सभी जालन्धरी भाई मुझसे मिलना चाहते थे। इसलिए मैं होली से एक दिन पहले ही जालंधर पहुँच गया।

जालन्धर आर्यसमाज में पहिला व्याख्यान

देवराज जी यद्यपि आयु में मुझसे छोटे हैं किन्तु आर्यसमाज में पहिले प्रविष्ट होने के कारण वह मेरे ज्येष्ठ आर्य भाई हैं। फिर भी उस समय उनका समाज, लड़कों का समाज समझा जाता था। मैं मुखतारी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक वर्ष तक काम भी कर चुका था। मैं इसीलिए बुलाया गया था कि मेरे व्याख्यान को सुनकर सर्वसाधारण यह समझ लेंगे कि अब गृहस्थ व्यावहारिक पुरुष भी समाज में सम्मिलित हो रहे हैं।

मेरे व्याख्यान का विज्ञापन दिया गया। कपूरथला राज के वकीलखाने के सामने से जरा आगे चलकर मुरलीमल पुरी की धर्मशाला प्रसिद्ध थी, उसी को किराये पर लेकर आर्यसमाज के अधिवेशन प्रति आदित्यवार को हुआ करते थे। मेरा व्याख्यान भी वहीं हुआ। व्याख्यान का विषय था 'बालविवाह के दोष और ब्रह्मचर्य की महिमा।' भाई देवराज जी की मनोकामना सिद्ध हुई। बाबू मदनगोपाल, बाबा सलामतराय आदि वकील तथा अन्य बहुत से प्रतिष्ठित शिक्षित पुरुष व्याख्यान सुनने के लिए आये। स्थान ऊपर से नीचे तक श्रोताओं से खचाखच भरा पड़ा था। व्याख्यान भी कामयाबी से समाप्त हुआ किन्तु जब व्याख्यान के पश्चात् चौमुहानी पर पहुँचे और कुछ वकील खड़े होकर मुझे व्याख्यान पर 'मुबारकबाद' दे रहे थे, उसी

समय देवराज जी के "सिर्त" ने दूसरी ओर से मुझे बधाई दी। सुखी रहो जजमान! देवराजजी दे पुत्तर गन्धर्वराज दी कुड़माई लाला भवानीदास मुन्साफ दी पुत्री नाल हो गई है। थुआनु बहुत-बहुत बधाइयाँ। सिर्त विचारा अभी बधाई दे ही रहा था कि बाबू मदनगोपाल प्लीडर बड़े जोर से खिलखिलाकर हँस पड़े! वाह महाशय जी! मुझ पर तो आप के व्याख्यान का खूब असर पड़ा। वाह! वाह!! वाह!!!

बाबू मदनगोपल की हँसी रुकती ही न थी। उनकी हँसी ने केवल 'सिर्त' जी को ही अचम्भे में न डाला प्रत्युत रास्ते चलतों को भी रोक दिया।

पाठक हैरान होंगे कि बाबू मदनगोपाल जी की हँसी पागलपन की हद तक क्यों पहुँच गयी? बात यह थी कि उस समय देवराज जी के बड़े पुत्र चि॰ गन्धर्वराज की आयु शायद एक वर्ष की थी और लाला भवानीदास बी॰ ए॰ मुन्सिफ की पुत्री की आयु सवा वर्ष की। मैं और देवराज जी तो इधर बाल विवाहों को रोकने और ब्रह्मचर्य का प्रचार करने में लगे हुए थे और उधर उनके पिता राय शालिग्राम जी एक वर्ष की आयु के अपने पोते की सगाई सवा वर्ष की लड़की के साथ करने के शुभ कार्य में निमग्न थे। इस पर किसी दर्शक को जितनी भी हँसी आती थोड़ी थी। बाबू मदनगोपाल तो हमारी हँसी उड़ाते हुए और मैं तथा देवराज जी बहुत लज्जित और उदासीन होकर घर को लौट आये किन्तु हो क्या सकता था, उस समय मौनावलम्बन ही करना पड़ा।

यहाँ कालक्रम की विधि का अनुसरण छोड़कर मैं इतना लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि जब लड़के और लड़की दोनों की आयु १४ वा १५ वर्ष तक पहुँची और समधी ने विवाह पर जोर दिया तो देवराज जी के दृढ़ रहने पर और यह कहने पर कि मैं अपने पुत्र का विवाह २५ वर्ष की आयु से पहिले कदापि न करुँगा, वह नाता टूट गया और चिरंजीव गन्धर्वराज का विवाह पूर्ण युवावस्था में ही एक सुयोग्य विदुषी देवी के साथ हुआ।

उपर्युक्त पहला व्याख्यान देकर मैं फिर वकालत परीक्षा की तैयारी के लिये लाहौर चला गया।

एक दृढ़ आर्यसामाजिक मित्र

लाहौर में उन दिनों शिवनारायण अग्निहोत्री (वर्तमान देवसमाज के गुरु) के

उर्दू व्याख्यानों की धूम थी। उन्हीं दिनों आलाराम भी आर्यसमाज की शरण में आया था और कवित्तों, सवैयों और दोहों में अपने व्याख्यान लिखकर दिया करता था। हमारे डेरे में इन दिनों के व्याख्यानों के सम्बन्ध में बड़ा मनोरंजक विवाद हुआ करता था। महाशय रामचन्द्र तो कट्टर आर्यसामाजिक होने के कारण आलाराम को आसमान पर चढ़ाते थे और अग्निहोत्री को अपने धर्म का विपक्षी होने के कारण अयोग्य बतलाते थे और रायजादा भक्तराम अधिकत: महाशय रामचन्द्र को खिझाने के लिए अग्निहोत्री की बहुत प्रशंसा करके आलाराम को तुकबन्द की उपाधि दिया करते। यह विवाद यहाँ तक बढ़ा कि महाशय रामचन्द्र जी की संज्ञा ही आलाराम हो गयी।

सांसारिक यश की ऊँची कामनाएँ

मद्य-मांस का सेवन सर्वथा त्याग करने के कारण मेरी बुद्धि में स्थिरता फिर से दृढ़ होने लगी थी, इसलिए वकालत की तैयारी शुरू करते ही विचार अधिक उच्च होने लगे। लॉ कालिज (कानून की शिक्षा का विद्यालय) उस समय अलग न था। गवर्नमैंट कॉलिज के ही एक कमरे में डिस्ट्रिक्ट जज मिस्टर ई० डब्ल्यु पारकर प्लीडरी परीक्षा के उम्मीदवारों को व्याख्यान दिया करते थे और मुख्तारी क्लास लाला लालचन्द्र जी के सुपुर्द था। पारकर साहब का नाम तो कुछ विद्यार्थियों ने पाड़ खाँ अर्थात् फाड़ खानेवाला रक्खा था, क्योंकि हर आदमी के गले ही पड़ जाया करते थे और कुछ उन्हें पाटे खाँ की उपाधी देते थे, क्योंकि साहब बहादुर अपनी योग्यता के दिखावे में भी एक थे। लाला (पीछे रायबहादुर) लालचन्द्र, एम० ए० बड़े सुशील तथा सादे आदमी थे, यहाँ तक कि सिवाय नीची आँखें करके व्याख्यान देते जाने के वह कभी भी किसी विद्यार्थी पर दृष्टि डालते नहीं देखे गये। तीसरे लाला सरदारीलाल गवर्नमेंट कॉलिज के क्लर्क थे, जिनको डॉक्टर लाइटनर की कृपा से मुख्तारी क्लास की रीडरी के लिए ५०/-रुपये मासिक मिलते थे। इनकी कहानी विचित्र थी। तहसीलदारी इन्होंने पास की, प्लीडरी भी इन्होंने हस्तगत की किन्तु रहे जन्मभर क्लर्की मेज पर कलम घिसते। एक बार ये डिविजनल जज के कलर्क आफ दि कोर्ट बनाकर भेजे गये थे, जहाँ से शीघ्र मुन्सिफ बन जाने की सम्भावना थी, किन्तु अपनी कॉलिज वाली मेज और चपरासी के कमरे वाला नलेरा (तम्बाखू पीने का नारियल) ऐसा याद आया कि १५ दिनों के पश्चात् मुन्सिफी आदि को जवाब देकर लौट आये।

इन्हें कानून-वानून तो कुछ आता-जाता न था केवल किताब पढ़ते जाते थे। विद्यार्थियों ने आप से प्रश्न पूछना शुरू किया। लाला सरदारीलाल जी पहले तो बहुत घबराये, किन्तु अन्त को छुटकारे का मार्ग ढूँढ ही लिया। जब कभी कोई विद्यार्थी प्रश्न करता तो आप उत्तर देते-"भाई! मैं लेक्चरार नहीं हूँ कि प्रश्नों के उत्तर दूँ मैं तो रीडर (पाठ करने वाला) हूँ, जो पढता जाऊँ सुनते जाओ। विद्यार्थी भी यहाँ हार खा गये।"

हमारी पढ़ाई में हालैण्डस लूरिस्प्रू डेन्स भी था। यह अंग्रेजी धर्मशास्त्र का ग्रंथ बड़ा कठिन था। मिस्टर पारकर उस पर किये प्रश्नों के उत्तर में बड़े चकराया करते थे। एक दिन एक विद्यार्थी के प्रश्न पर आज्ञा लेकर मैंने संतोषजनक उत्तर दे दिया। मिस्टर पारकर ने मुझसे प्रमाण पूछा। मैंने वेन्थक २ और आस्टिन ३ आदि प्रसिद्ध धर्मशास्त्रों के प्रमाण पेश किये, जिस पर एक ओर तो मेरे कुछ सहपाठियों ने गोलबाग में बैठकर मुझ से हालैण्ड्स जूरिस्प्रू डेन्स समझना आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर पारकर साहब ने लॉ क्लास के विद्यार्थियों की एक वाग्वर्धिनी सभा खोल दी, जिसका मुझे प्रधान बनाया। यहाँ प्रश्न यह होगा कि अन्य विद्यार्थियों से अधिक धर्मशास्त्र की पुस्तकें मैंने क्यों पढीं? मैंने केवल यही पुस्तक नहीं पढ़ी थी, परन्तु प्राचीन रोम के कानून की पुस्तकें भी देखी थी। मुझे केवल इसी पर सब्र न था। जालन्धर के बाबू देवीसिंह प्रसिद्ध वकील थे। वह मेरे मित्र थे। उनके द्वारा उनके भाई बाबू दसबन्धीराय जी से परिचय हुआ। बाबू दसबन्धीराय लाहौर चीफ कोर्ट में वकालत करते थे और उनका कानूनी पुस्तकालय बहुत बड़ा था। मैंने उसमें से सब हाईकोर्टों की रिपोर्टों को पढ़ना आरम्भ कर दिया। अर्थात् न्यायाधीशकृत धर्मशास्त्र केस लॉ को भी राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिसलेचर) कृत धर्मशास्त्र के साथ पढ़ना आरम्भ कर दिया।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि मुझे परीक्षा ही देनी थी, तीनों पुस्तकें उसके लिए नियत थी उन्हीं पर बस क्यों न की। इसका कारण यह था कि उस समय मैं अपने अन्त:करण में कुछ और ही निश्चय कर चुका था। मेरा व्यावहारिक उद्देश्य उस समय मन में यह दृढ़ हुआ था कि किसी समय चीफ कोर्ट लाहौर की जज की कुर्सी पर बैठूँ। इस उच्च उद्देश्य ने मुझे उस साहित्य की ओर खींचा, जो मेरे उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता था। संवत् १९४२ के मार्गशीर्ष (सन् १८८५ ई० के अन्त) तक

उद्देश्य ने मुझे बाँधे रखा। उस समय के बाद उद्देश्य में कैसे परिवर्तन हुआ उसकी कथा समय आने पर सुनाऊँगा।

बड़ी छुट्टियाँ उन दिनों आषाढ (जुलाई) में आरम्भ होती थी। उस समय तक मैं प्रत्येक सप्ताह आर्य मन्दिर तथा ब्राह्म मन्दिर में नियमपूर्वक जाता रहा, विशेष व्याख्यानों में भी सम्मिलित होता रहा। इसके अतिरिक्त सारा समय कानूनी किताबें याद करने तथा विशेष पुस्तकों के पढ़ने में लगाता रहा। मेरी स्मरणशक्ति का अपने सहपाठियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। सायंकाल के भ्रमण में मैं किसी एक विषय की पुस्तक का मतलब कहानी की तरह सुनाना आरम्भ करता और दस पन्द्रह साथी सुनते जाते। वाग्वर्धिनी सभा भी बड़ा काम करती रही। यद्यपि मास्टर पारकर के नाम रखे गये थे, तथापि विद्यार्थियों के अधिकारों का वह आदर करते थे। जब कभी हमारे अधिवेशन में आते तो सभापति को अपना आसन न छोड़ने देते और स्वयं बैंच पर बैठकर विवाद में भाग लेते। वह दिन अच्छे ही व्यतीत हुए।

आर्यसमाज में आरम्भिक अनुभव

अनुमान ऐसा होता है कि मैं जालन्धर की उड़ारी मार यात्रा से लौटकर सवा या डेढ महीने ही लाहौर में रहा, क्योंकि मुझे भली प्रकार याद है कि ज्येष्ठ शुक्ल की निर्जला एकादशी मुझे जन्म स्थान तलवन में मिली थी। इस सवा या डेढ महीने के अन्दर मैंने जो अनुभव प्राप्त किए उनमें से जो कुछ स्मरणशक्ति प्रत्युत्पन्न कर सकती है, उन्हें यहाँ संक्षेप से देता हूँ।

लाला साईंदास जी उस समय आर्यसमाज लाहौर के स्वामी समझे जाते थे। वह पब्लिक व्याख्याता कभी थे ही नहीं। समाचार पत्रों में भी वह प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं लिखते थे। उस समय तक उन्होंने एक उर्दू ट्रैक्ट 'एक आर्य' नाम से लिखा था। जिसमें कलकत्ते के पण्डितों की ऋषि दयानन्द के विरुद्ध दी हुई व्यवस्था की पड़ताल की गई थी, लाहौर आर्यसमाज की परिधि से बाहर उनको कोई भी नहीं जानता था। बाहर के लोग राय मूलराज, लाला जीवनदास और भाई जवाहिरसिंह आदि से अधिक परिचित थे, किन्तु यह सब कुछ होते भी लाहौर आर्यसमाज की और उसके साथ पंजाब के सारे आर्यसमाजों की, जिनका जीवन समय लाहौर आर्यसमाज पर ही निर्भर था–सारी कला के संचालक लाला साईंदास जी ही थे। इस शक्ति तथा अधिकारों को

वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईंदास जी से अधिक वास्ता पड़ता था। पब्लिक में वे कभी मुँह ही न खोलते और यही समझा जाता था कि उनमें वक्तृत्वशक्ति नहीं है, किन्तु जब श्रोताओं की संख्या एक से अधिक न होती उस समय लाला साईंदास जी से बढ़कर कोई बागीश दिखाई नहीं देता था। इतिहास के वे अवतार थे और विशेषत: ईसाइयों के धार्मिक इतिहास के अतिरिक्त मुसलमानों और सिक्खों के इतिहास से भली प्रकार अभिज्ञ थे। उनके जीवन की सादगी का वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ।

लाला जीवनदास जी के विचित्र व्यसन का पता उनसे परिचित होते ही मुझे लग गया था। आप कभी भी समालोचना से चूकते न थे। एक विद्यार्थी के आर्य बनने का प्रार्थनापत्र पेश हुआ। आप उठ कर उच्च स्वर से प्रश्न करते हैं 'क्या इनकी आयु १८ वर्ष की है?'श्री साईंदास जी की मूछें फड़की और उन्होंने उन्हें हाथ के इशारे से बैठाना चाहा। इस पर श्री जीवनदास ने आसमान सर पर उठा लिया–'मैं इस तरह नहीं दबूँगा मेरा हक है कि मैं पूछूँ......' इस पर मंत्री ने प्रार्थनापत्र पढ़ना आरम्भ किया, जिसमें आयु १९ वर्ष की लिखी थी। श्री जीवनदास जी इन दिनों पंजाब के फिनान्शल कमिश्नर के कार्यालय के अनुवादक थे। आपके अनुवाद किये हुए सैकड़ों सरक्यूलर आदि मैंने देखे हैं अपने महकमे में जो सट्टों पर 'हिन्दी की चन्दी' निकालने के लिए आप प्रसिद्ध थे। जब सायंकाल दफ्तर से लौटते तो रास्ते में अनारकली की बहस में शामिल होते। उन दिनों मौलवी, पादरी, ब्राह्मसमाजी–आर्यसमाजी सभी सड़कों के पुलों पर खड़े होकर वाद–विवाद करते थे। किन्तु इस समय की भाँति रंग में भंग पड़ने का अवसर नहीं आता था। श्री जीवनदास जी के उत्तम स्वास्थ्य तथा स्पष्ट वक्तृत्व की उन दिनों मेरे चित्त पर बड़ी भारी प्रतिष्ठा बैठ गई थी।

शायद उन्हीं दिनों स्वर्गीय मिस्टर ह्यूम कांग्रेस की स्थापना के लिए आन्दोलन करने लाहौर में आये थे। मुझे ज्ञात हुआ था कि जिस किसी सुशिक्षित हिन्दुस्तानी से भी वह मिलना चाहते वहाँ से ही उन्हें निराश होना पड़ता। न जाने कैसे मि॰ ह्यूम को यह निश्चय हो गया कि जो शक्ति हिन्दुस्तानियों को उनसे मिलने नहीं देती वह राय मूलराज एम.ए. के रूप में है। शिक्षक दल में यह प्रसिद्ध हो रहा था कि मि॰ ह्यूम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के गुप्तचर हैं जो हिन्दुस्तानियों को किसी जाल में फँसाने आये हैं। परमात्मा के सिवाय यह कौन जान सकता है कि उसमें राय मूलराज का भी

हाथ था वा नहीं और उसके लिए कोई विश्वासजनक साक्षी भी नहीं है। किन्तु मि॰ ह्यूम ने वह चिरस्मरणीय चिट्ठी श्री लाला साईंदास जी को लिख मारी जिसका स्मरण पण्डित गुरुदत्त जी ने मेरे सामने उक्त लाला जी को तीन वर्षों से कराया था। उस चिट्ठी में मि॰ ह्यूम ने यह लिखा था कि उनके माननीय मित्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित समाज का सभासद् राय मूलराज एम॰ ए॰ सा व्यक्ति नास्तिक कैसे हो सकता है।

उन दिनों हम सब इकट्ठे रहने वाले साथियों के अन्दर धर्म प्रचार के लिए उत्साह था। भाई सुन्दरदास, मैं महाशय रामचन्द्र तथा मुकुन्दलाल जी नित्य किसी न किसी चौमहानी पर खड़े होकर एक मास तक सर्वसाधारण को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाते रहे। दुःख की बात है कि छुट्टी से लौटने पर अन्य कामों में फँस जाने के कारण उन पवित्र कामों में वह उत्साह न रहा। इन्हीं दिनों साधु आलाराम व्याख्यानों के अतिरिक्त लाहौर शहर के मध्य 'बावली साहेब' में चौधरी नवलसिंह की लावनियाँ हुईं जिनके प्रभाव से कोट-बूट वाले बाबुओं के अतिरिक्त दुकानदारों तथा आर्य जाति के सर्वसाधारण इंगलिश शिक्षाशून्य पुरुषों का प्रेम भी आर्यसमाज के साथ बढ़ गया।

लाहौर से मैं बड़े उच्च विचार तथा उत्साह लेकर जालन्धर आया और अभी दो-तीन ही व्याख्यान दिए थे कि मेरे ग्राम से पिता जी के रोग-ग्रस्त होने का समाचार पहुँचा। इस समाचार को सुनते ही मैं अपने ग्राम तलवन को चला गया। वहाँ पिता जी की शारीरिक दशा अच्छी न देखी। उन पर यह पहला आक्रमण अर्धाङ्ग का हुआ जिसने अन्त को एक वर्ष के पश्चात् उन्हें उनके परिवार से सदा के लिए जुदा कर दिया। मेरे जाने और योग्य वैद्यों से इलाज कराने पर पिता जी की शारीरिक अवस्था उस समय तो कुछ अच्छी ही हो गई, किन्तु दृष्टि शक्ति उसी समय कम हो गई। इस रोग का प्रधान कारण वह निकम्मापन था जो हमारे देश के पेन्शनरों की अकाल मृत्यु का कारण हुआ करता है। पिता जी ३० वर्षों से अधिक तक बराबर दिनभर काम में लगे रहते थे, और वह घुड़सवारी और दौड़-धूप का काम। पेन्शन लेने पर उन्हें कोई काम न रहा और निष्प्रयोजन भ्रमण करने के वह कभी भी अभ्यासी न थे। मैंने कई बार प्रेरणा की कि अपने खेतों आदि का ही निरीक्षण कर लिया करें किन्तु वहाँ के काम का यथार्थ हाल तो वह चार-पाँच उधर आनेवालों से जिरह के सवाल करके

जान लेते थे। व्यायाम का अभाव उनके रोगग्रस्त होने का कारण हुआ, जिससे बड़ी भारी शिक्षा मैंने ली है और मेरे पाठको को भी लेनी चाहिए।

पहली आत्मिक हलचल

(न हि सत्यात्परो धर्मः)

पिताजी के अपेक्षाकृत नीरोग होने पर भी मैं तलवन ग्राम में ही ठहर गया और उनकी सेवा करने लगा। इतने में ज्येष्ठ की निर्जला एकादशी का दिन आ पहुँचा। स्नान-पूजा से निवृत्त होकर पिताजी अपनी बैठक से घर में आए। यहाँ झज्जर पानी से भरकर और उसके ढक्कन पर खरबूजा, मीठा और दक्षिणा धरकर सारे घर को संकल्प पढना था। निर्जला एकादशी के दिन जितना जल हमारे हिन्दू भाई पीते हैं उसे देखकर इस अनोखे नामकरण संस्कार पर हँसी आती है। व्रत तो यह है कि एक दिन रात निराहार, यहाँ तक कि बिना जल के निर्वाह करेंगे और व्रतियों का आचरण यह कि दिन भर खरबूजे खाकर शरबत पीते-पीते हैजे के शिकार बन जाएँ। कैसी अद्‌भुत लीला है।

निर्जला एकादशी का दिन मेरी धार्मिक परीक्षा का पहला अवसर था। पिताजी मेरे साथ अपने सब पुत्रों से अधिक प्रेम करते थे। उनको अपने मन्तव्य में पूर्ण श्रद्धा थी और उसके वह प्रचारक भी थे। जहाँ वह अपने इष्टदेव की भक्ति में कभी आलस्य नहीं करते थे वहाँ पंजाब के बेसूरे हिन्दुओं को, मुसलमानों की कबरों की पूजा से रोकने में तत्पर खड़े रहते थे। तलवन ग्राम में सैकड़ों को उन्होंने कब्रपरस्ती से रोककर ठाकुर जी के मन्दिर का सेवक बना दिया था। पिताजी ने संकल्प के समय मुझे बुलाने को आदमी भेजा। मैं जानता था कि आज परीक्षा का दिन है। इससे बचने के लिए अपनी बैठक में पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ गया था। मैंने समझा था कि आँखे बंद कर लेने से बला टल जाएगी किन्तु पिता जी का दूत सिर पर आ सवार हुआ। मैं उठकर पिताजी के पास जाने के लिए बाधित हुआ। उस समय का दृश्य मैं कभी नहीं भूल सकता। घर में दो मंजिले का एक लम्बा दालान है। उसमें सामने बड़े आसन पर पिताजी बैठे हुए हैं और उनके सामने एक लम्बी पंक्ति में झज्जर के सामने का आसन मेरे लिए खाली पड़ा है। मैं सामने पहुँचकर खड़ा हो गया और नीचे लिखी बातचीत हुई।

पिताजी–आओ मुन्शीराम! तुम कहाँ थे? हमने तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा करके सबसे संकल्प पढ़ा दिया तुम भी संकल्प पढलो तब मैं भी संकल्प पढ़कर निवृत्त हो जाऊँगा।

मैं पिताजी से स्पष्ट कहने में डरता था इसलिए पहला उत्तर दिया–"पिताजी! संकल्प तो दिल के साथ सम्बन्ध रखता है, जब आपने संकल्प किया है तो आप का दान है, जिसे चाहें दें। इसलिए मैंने आना आवश्यक नहीं समझा था।'

पिताजी को मेरे आर्य बनने की खबर मिल चुकी थी। पहले तो उन्हें कुछ प्रसन्नता सी हुई थी क्योंकि उनको केवल इतना ही पता था कि मैं नास्तिक से आस्तिक बन गया हूँ। किन्तु जब जालन्धर से मेरे तथा देवराज जी के व्याख्यानों का समाचार उन्हें मिला तो उन्होंने देवराज के पिता राय शालिग्राम जी को लिखा था कि हम दोनों को अपने देवीदेवताओं की निन्दा करने से रोकना चाहिए। बीमारी में वह इन सब बातों को भूल गये थे किन्तु आज सब पुराने संस्कार जाग उठे। पिताजी ने उत्तर में कहा–

"क्या मेरा धन तुम्हारा नहीं। फिर उसमें से दान देने का तुम्हें अधिकार क्यों नहीं? और क्या दिल का संकल्प बाहर निकालना पाप है? तुम ठीक कारण क्यों नहीं बतलाते? इतना कहकर पिताजी ने सीधा वार किया–क्या तुम एकादशी और ब्राह्मणपूजा पर विश्वास नहीं रखते? क्या बात है!"

इस स्पष्ट प्रश्न पर निकलने का कोई मार्ग न देख पड़ा, मैंने कहा–ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूर्ण विश्वास है किन्तु जिनको आप दान देना चाहते है, वे मेरी दृष्टि में ब्राह्मण नहीं हैं और एकादशी के दिन में भी मैं कुछ विशेषता नहीं समझता।

मेरा इतना कहना था कि पिताजी आश्चर्ययुक्त होकर मेरी ओर देखने लगे। मैंने आँखें नीची कर लीं। एक क्षण के पश्चात् पिताजी ने दीर्घ श्वास लिया और कहा–मैंने तो बड़ी आश देकर तुम्हें बड़ी सरकारी नौकरी से हटा वकालत की ओर डाला था। मुझे तुमसे बड़ी सेवा की आशा थी, क्या उस सबका फल मुझे यही मिलना था? अच्छा जाओ। मैं चुपचाप नीचे उतर आया और सारे दिन शोकसागर में डूबा रहा।

दो–तीन दिन तो मैं पिताजी के पास जाने से घबराता रहा और वह मुझे बुलाने से टलते रहे, किन्तु उनके हृदय में मेरे लिए गहरा प्रेम था। एक दिन मुझे स्वयं

बुलाकर किसी अपने अंग्रेज मित्र को पत्र लिखवाया। शनैः शनैः निर्जला एकादशी के दिन का दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। छुट्टियाँ शायद भाद्रपद के तीसरे सप्ताह तक थी, मैंने सारी छुट्टियाँ पिताजी की चिकित्सा कराने और उनकी सेवा करने में व्यतीत की। इन्हीं दिनों मैंने सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय और पंचमहायज्ञविधि की पूरी आवृत्ति की और जब लाहौर चलने लगा उस समय तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का आधा पाठ कर चुका था। इस पढ़ने के काम में मुझे एक योग्य शिष्य मिल गया। पंजाब में संस्कृतज्ञों का वैसे ही उस समय अभाव था और फिर ग्राम में तो संस्कृत का काम ही क्या, किन्तु तलवन के देहाती मदरसे का द्वितीयाध्यापक ८/- रु० मासिक पानेवाला काशीराम संस्कृत जानता था और इसलिए पिताजी को उनकी रुचि के अनुकूल धर्मग्रन्थ सुनाया करता था। वही काशीराम मेरे पठन-पाठन में भी सम्मिलित हुआ और जब मैं तलवन से लाहौर लौट गया तो पीछे उसी ने पिताजी की श्रद्धा मेरे मन्तव्यों के ऊपर जमवायी।

कानून की पुस्तकें मैं प्रायः याद कर चुका था, सत्यार्थप्रकाश आदि सारा दिन पढ़ते रहना कठिन था और आर्यसमाज में प्रवेश करते ही अंग्रेजी उपन्यासों (नाव्हेल्स) से भी मुझे घृणा हो चुकी थी। तलवन में कोई ऐसे सुशिक्षित सभ्य पुरुष भी न थे जिनसे बातचीत में दिन काटता। इससे व्यसन के प्रलोभन में फिर से फँसा। काशी से अंतिम बार विदा होने से पहले मैंने बड़े-बड़े शतरंजियों से शतरंज खेलना सीखा था। तलवन में पहुँचकर देखा कि मेरे परिवार के मुसलमान उस्तादों का घराना सारा का सारा प्रसिद्ध शतरंजबाज है। वहाँ उस खेल में और भी शिक्षा मिली। फिर जालंधर में भाई बालकराम जी को शतरंज का बड़ा शौक था, उनके साथ खूब मुकाबला होता रहा। सारांश यह कि आर्य-समाज में प्रवेश करते ही जहाँ मांसभक्षण को त्याग दिया, जहाँ उपन्यासों को उठाकर जुदा रखा दिया, वहाँ शतरंज को भी तिजाञ्जलि दे दी थी। किन्तु तलवन में निकम्मा बैठे रहने पर सामने मोहरों की खटाखट देखकर मुझ से न रहा गया और फिर शतरंज के खेल में दिन के पाँच-छः घण्टे व्यर्थ गंवाने लग गया। इसके अतिरिक्त मुझे सितार का भी शौक था और अपने

उस्ताद वृद्ध पीरबख्श कलावन्त से सितार पर कुछ भजनों का अभ्यास करता रहा।

दूसरी आत्मिक परीक्षा

(नास्ति सत्यसमं तप)

इस प्रकार, ज्यों त्यों करके मैंने दो मास से अधिक काट दिए और लाहौर के लिए प्रस्थान का दिन निकट आ गया। नागौरी बैलों से जुती हुई मझोली तैयार हुई, उसके नीचे और पीछे असबाब रखवा और बंधवाकर मैं पिताजी की सेवा में प्रणाम करने के लिए उपस्थित हुआ। अपने बनवाये मन्दिर की बड़ी डेवढी के ऊपर उनके रहने के कमरे बने हुए थे। पिताजी तकिया लगाये बड़े कमरे में बैठे थे। उनका निजी सेवक भीमा खड़ा था। मैंने पहुँचकर पैरों पर सिर रखकर प्रणाम किया। पिताजी ने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। मैं चलने के लिए उठने लगा। आज्ञा हुई कि अभी बैठ जाओ। फिर भीमा भृत्य को इशारा हुआ। उसने एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रखकर थाली मेरे सामने की। तब पिताजी ने कहा–"जाओ पुत्र! ठाकुर जी को माथा टेककर विदा होओ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भगवान के पायक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें। मैं इतना सुनते ही सुन्न हो गया। काटो तो खून नहीं। कुछ उत्तर न बन आता था, चुपचाप बैठा था। पिताजी ने मेरे मौन का कारण कुछ और ही समझा। मैं अपने निज के आराम के लिए जहाँ उन दिनों भी अधिक व्यय नहीं करता था वहाँ उदार भी बहुत था। जहाँ दूसरा आदमी दो आने पारितोषिक देकर सन्तुष्ट होता वहाँ मुझे आठ आने से कम देने में लज्जा आती। पिताजी स्वयं बड़े अच्छे प्रबन्धकर्ता थे और उनके गृह का सारा व्यय बड़े नियम से चलता था। पिताजी ने समझा कि मैं आठ आने की भेंट देवता के लिए कम समझता हूँ। भीमा को कहा गया कि अठन्नी उठाकर एक रुपया रख दे। उसने ऐसा ही किया। तब पिताजी ने कहा–लो पुत्र अब ठीक हो गया, देर होती है। ठाकुर जी को मत्था टेककर सवार हो जाओ। तब मुझे अपने उपर बड़ा सब्र करके बोलना ही पड़ा। यह नहीं सूझता था कि किस प्रकार बोलूँ कि पिताजी को कष्ट न हो। मैंने कहा–पिताजी यह बात नहीं है, किन्तु मैं अपने माने हुए सिद्धान्तों के विरूद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ। हां सांसारिक व्यवहार में जो आप आज्ञा दे, उसके पालन के लिए हाजिर हूँ। इतना कहकर मैं चुप हो गया। पिताजी के मुख पर कई प्रकार के उतार–चढ़ाव आये और

उन्होंने क्रोध भरे शब्दों में कहा–क्या तुम हमारे ठाकुरजी को धातु पत्थर समझते हो? उस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था। न जाने कैसे धृष्टता से मैंने कहा–परमात्मा से नीचे अपने लिए मैं आपको ही समझता हूँ, किन्तु हे पिता! क्या आप चाहते हैं कि आपकी संतान मक्कार हो! यह शब्द बड़े ही करुणापूर्ण स्वर में मेरे अन्दर से निकले थे। पिताजी की जबान लड़खड़ा गयी–कौन अपनी संतान को मक्कार देखना चाहता है? मैंने उस समय को जीवन की रक्षा व मृत्युप्राप्ति का समय समझा और कहा–तब मेरे लिये तो यह मूर्त्तियाँ इससे बढ़कर कुछ नहीं और यदि मैं उनके आगे भेंट धरकर सिर झुकाऊँगा तो वह मक्कारी होगी।" कहने को तो मैंने इतना कह डाला किन्तु उस पर पिताजी के ह्रदयबेधक शब्द सुनकर मुझ में कुछ शक्ति ही नहीं रही। हां! मुझे विश्वास नहीं कि मरने पर कोई पानी देनेवाला भी रहेगा, अच्छा भगवान् जो तेरी इच्छा? मैं मानो धरती में गड़ गया, पैर वहीं के वहीं रहे। दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिताजी ही कुछ बोले। फिर उन्होंने धीरे से कहा–अच्छा अब जाओ देर होगी। मैंने चुपचाप प्रणाम किया और नीचे उतरकर मझोली पर सवार हो गया।

मझोली तक पहुँचते–पहुँचते मेरे मन में कई प्रकार के संकल्प–विकल्प उठते रहे। प्रधानतया यही विचार मेरे मन में आता था कि जब मैं पिताजी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं, जब मैं उनकी स्वर्ग–प्राप्ति या मोक्ष का साधन नहीं बन सकता, जिसके लिए उनके मतानुकूल मृतक श्राद्ध तथा तर्पणादि आवश्यक है, तब मुझे क्या अधिकार है कि उनके कमाये धन में हिस्सेदार बनूँ। मुझे चलते समय पिताजी ने पचास रुपये खर्च के लिए दिए थे। मैंने वह रुपये एक कागज में बाँधकर अपने सम्बन्धी के हवाले किए और कह दिया कि दूसरे दिन सवेरे वह धन को मेरे पत्र सहित पिताजी के आगे पेश कर दे। पत्र में केवल इतना लिख दिया कि "जब मैं आपके मन्तव्य के विरूद्ध मत रखता हूँ तो मुझे कोई अधिकार नहीं कि सुपात्रों के भाग मे से कुछ लूँ। जीवन शेष है तो आपके चरणों में भेंट रक्खूंगा ही।" मैं रुपये देकर चल दिया। अभी एक मील भी गाड़ी नहीं गयी थी कि घोड़ा सरपट दौड़ाते हुए वही सम्बन्धी आते देखे। मैंने मझोली खड़ी करा दी। घुड़सवार ने पहुँचते ही रुपयों की पोटली मेरे हवाले की और पिताजी का मौखिक सन्देश सुनाया।–" तुम प्रतिज्ञा

करके कहो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओं से मुख नहीं मोड़ोगे। यह मेरी सांसारिक आज्ञा है कि यह रुपया ले जाओ और बराबर व्यय के लिए रुपया मुँह से मांगते रहो?" पिताजी के इस सन्देश ने मेरे हृदय की डांवाडोल अवस्था को ठीक करने में बड़ी सहायता दी।

बात यह हुई कि मेरे सम्बन्धी ने दूसरे दिन की प्रतिज्ञा करने के स्थान उसी समय रुपयों की पोटली, मेरे पत्र सहित, पिताजी के आगे रख दी जिसका परिणाम ऊपर की घटना हुई। पिताजी के आगे से इस प्रकार विदा होकर मैं उसी शाम को जालन्धर पहुँचा। वहाँ देवराज जी से ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थिति में पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री आये थे जिनके व्याख्यान सरदार विक्रमसिंह आहलूवालिया के स्थान में हुए किन्तु ठहरे लाला बालकराम जी के पास थे। भाई बालकराम जी ने उस समय उनकी निर्बलताओं को खूब समझा और मुझे कहा कि यद्यपि हमारे यहाँ ठहरकर यह आदमी आर्यसमाज के विरुद्ध नहीं बोलता, तो भी यह किसी न किसी दिन गुरुडम पर हाथ मारेगा और स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के विरुद्ध बोलेगा। भाई बालकराम जी "आदमी-आदमी के अन्तर" को खूब पहचानने वाले थे और उनका निदान बहुत कुछ ठीक बैठता था। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थिति में आत्माराम संन्यासी भी जालन्धर में व्याख्यान दे गये हैं और उनके व्याख्यानों में सरदार विक्रमसिंह आहलूवालिया आई.सी.एस. भी आया करते थे। मुरलीमल की धर्मशाला वाले आर्यसमाज के मकान में एक आदित्यवार को ईश्वर प्रार्थना और उपदेश का आनन्द उठाकर मैं लाहौर पहुँच गया।

लाहौर में परीक्षा की तैयारी

आश्विन संवत् १९४२ के मध्य में सितम्बर (सन् १८८५ की समाप्ति पर) मैं लाहौर लौट आया। हमारे कानूनी प्रोफेसर के लाहौर से बदल जाने के कारण उसके स्थान में कारस्टीन साहब हमारे प्रोफेसर नियत हुए। वह बड़े शान्त स्वभाव तथा जनप्रिय थे। मैंने वकालत परीक्षा की तैयारी फिर बड़े जोर शोर से आरम्भ कर दी। मेरे दूसरे साथी भी सब लौट आये। आर्यसमाज के कामों में यद्यपि मैं विशेष सहयोग देने के योग्य न था तथापि मैं सभी साधारण तथा असाधारण अधिवेशनों में अवश्य सम्मिलित हुआ करता था।

लाहौर में इन दिनों मलेरिया ज्वर का बड़ा जोर था। मैं ज्वर से पीड़ित हुआ, यहाँ तक कि तापमापक यन्त्र पारा १०६ दर्जे तक पहुँच गया। उसी शाम को बच्छोवाली के आर्यसमाज मन्दिर में एक असाधारण अधिवेशन होनेवाला था जिसमें एक सरदार साहब को अभिनन्दनपत्र देने का निश्चय हुआ था। इसलिए कि वह अपनी बड़ी सम्पत्ति एक आर्य स्कूल स्थापित करने के लिए आर्यसमाज को भेंट करने लगे थे। मेरी उत्कट इच्छा थी कि मैं इस अधिवेशन में अवश्य सम्मिलित होऊँ। मेडिकल कॉलेज के एक मेरे मित्र विद्यार्थी ने चार घण्टे में ३० ग्रेन कुनीन खिला दी। ज्वर तो न चढ़ा परन्तु निर्बलता अत्यन्त हो गयी। उसी अवस्था में मैं आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचा और यद्यपि कानों में सनसनाहट इतनी थी के वक्तृताएं स्पष्ट न सुन सका, फिर भी हृदय को शान्ति रही।

इस प्रकार बलात्कार से ज्वर उतारने का सौदा मेरे लिए महंगा पड़ा। दूसरे दिन फिर जोर का ज्वर बढ़ा। तब भाई सुन्दरदास जी मुझे एक यूनानी हकीम के पास ले गये। उनका नाम हकीम मुहम्मद शुजाउद्दीन था। हकीम जी का चेहरा देखते ही मुझे विश्वास हो गया कि मैं उनके इलाज से स्वस्थ हो जाऊँगा। पहले तो उनकी धैर्य बांधनेवाली बातों ने मुझे मोहित कर लिया और जब शायद तो माशे लाला सफूफ वाली दो पुड़ियाँ देकर शहद के साथ खाने की हिदायत हुई तो मेरा दिल बाग-बाग हो गया। हकीम जी ने एक नुस्खा भी दिया जिसका सेवन पुड़िया से पहले करना था। छः तोले मगज-तरबूज, छः तोले बनफसा बराबर की मिसरी के साथ घोटकर पीने से तीन हल्के जुलाब हो गए। उसके पीछे आधा घण्टे ठहरकर लाल पुड़िया खा ली और घण्टे पीछे दूसरी खाते ही बुखार हिरन हो गया। दूसरे दिन सचमुच हकीम जी की भविष्यवाणी के अनुकूल मैं टहलता हुआ उनके पास गया। हकीम जी ने प्रातःशाम खाने के लिए सफेद रंग की दो पुड़िया दीं। तीसरे दिन थोड़ी सी निर्बलता दूर करने के लिए नुसखा लिखना शुरू किया और साथ-साथ परहेज की हिदायत करते गये। मैंने बीच में बात काट कर कहा-

"हकीम जी! एक बात पहले ही सुन लीजिए। मैं मांसभक्षण को पाप समझता हूँ।" मेरा इतना कहना ही था कि हकीम साहब खिलखिला कर हँस पड़े। कहने लगे "जनाब बाबू साहब! अगर आप गोश्त खाने के आदी होते तब भी मैं आप

से कहता कि मेरी दवा से असीरपिजीर होने के लिए आप गोश्त खाना छोड़ दें। गोश्त तो बड़ी मुजिर गिजा है।"

हकीम जी का नुसखा भी मुझे मोहित करनेवाला था। मजेदार औषधियों का पुंज कूट छानकर बहुत से दूध में काढ़ा किया गया। जब उसका खोया बन गया तो प्रातः सायं चार-चार तोला दूध के साथ खाने की हिदायत हुई। मैंने अभी एक शाम ही औषधि का सेवन किया था कि मेरे साथी १५ दिन की औषधि को एक ही दिन समाप्त कर गये। मैंने उस औषधि का नाम 'अमृत बाण' रखा था और हकीम साहब को शाहाशुजा की उपाधि दे रखी थी। वकालत के उम्मीदवार प्रायः ऋतु ज्वर "फसली बुखार" से पीड़ित थे, उनके शाहशुजा की धूम मच गई।

संवत् १९४२ (सन १८८५ ई०) तक वकालत की परीक्षा मार्गशीर्ष के अन्त में (दिसम्बर के मध्य) में हुआ करती थी। उसी वर्ष के आषाढ़ (जून) मास में, दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज खुल चुका था, श्रीमान् हंसराज जी कॉलेज की सेवा के लिए जीवन प्रदान कर चुके थे और मियानी निवासी श्री लाला ज्वालासहाय जी के ८०००/-रुपये के दान ने कॉलेज का खुलना सम्भव कर दिया था। इन घटनाओं के पश्चात् मार्गशीर्ष के मध्य में (नवम्बर के अन्तिम) शनिवार तथा आदित्यवार के दिन लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव हुआ। यद्यपि रोग से निवृत्त होने के पश्चात् निर्बलता हो गई थी तथा परीक्षा की तैयारी का बोझ अधिक था, फिर भी अपने धर्मसमाज के लिए हृदय में प्रेम का ऐसा भाव था कि वार्षिकोत्सव से पल के लिए भी बिछुड़ना असम्भव प्रतीत होता था। यह पहला ही अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त को मैंने दयानन्द कॉलेज के लिए लाहौर आर्यसमाज की वेदी पर से अपील करते सुना। उसी व्याख्यान से मेरा चित्त पण्डित गुरुदत्त की ओर आकर्षित हो गया और अधिक मिलने से मैंने शनैः शनैः अनुभव किया कि यही एक आत्मा है जिसके साथ मेरे आत्मिक भाव ऐक्य को प्राप्त हो सकते हैं। जब मैं दूसरे दिन विशेष प्रकार से पण्डित गुरुदत्त से मिलने गया तो उन्होंने भी अपने भावों से यही प्रकट किया कि हम दोनों एक दूसरे को समझते हैं।

परीक्षा का भयानक भूत

अब परीक्षा के दिन समीप आ रहे थे इसलिए मैं उसी कार्य में लग गया।

किन्तु फिर भी मेरे सहपाठी मुख्तार साहबान मुझे एक विचित्र जानवर समझते थे। मैंने परीक्षा से दो दिन पहले ही पढ़ना छोड़ दिया था। जब मैंने परीक्षा आरम्भ होने के समय से एक घण्टा पहले उन्हें रटन्त लगाते देखा तो मुझे उन पर दया आई और मैंने कई मित्रों का तोते से फिर मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया किन्तु मुझे इस प्रेम का पारितोषिक क्या मिला? केवल गालियाँ और कुछ नहीं।

परीक्षा में एक बात और मेरे सहपाठियों को चकित करती थी। मैं बार-बार तीन घण्टे के परचे का उत्तर तथा पुनरावलोकन डेढ़ घण्टे में ही समाप्त करके चल देता था, केवल राजव्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नपत्र बड़ा लम्बा था जिसके सब प्रश्नों के उत्तर मैं ढ़ाई घण्टे में लिखकर बाहर आया। उस पर्चे के सब प्रश्नों के उत्तर कोई भी परीक्षार्थी तीन घण्टे में समाप्त नहीं कर सका था। जब लेखबद्ध परीक्षाओं में मैं उत्तीर्ण हुआ, किन्तु फौजदारी कानून की मौखिक परीक्षा में दो अंको से अनुत्तीर्ण रहा। इसकी भी एक कहानी है, जिसके सुने बिना पाठकों की समझ में कुछ और कहानियाँ न आ सकेंगी। मौखिक परीक्षा के समय गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर का परीक्षा भवन विद्यार्थियों से भरकर उन्हें कच्ची हवालात में बुलाकर परीक्षा ली जाती थी। वहाँ से निकलकर कॉलेज की बड़ी सीढियों पर वे बूट चरचराता हुआ विद्यार्थी बाहर चला आता था। मेरे पहले कुछ विद्यार्थी फेल होकर बाहर आ चुके थे और उनके तथा अन्दरवालों के इष्ट-मित्र उनके साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे थे। जब मैं परीक्षक के सामने गया, जिनका नाम बाबू योगेन्द्रनाथ वसु था और जो बडे देशभक्त समझे जाते थे तो पहले प्रश्न पर ही उनसे कुछ विवाद हो गया। फिर उन्होंने मुझे किसी प्रश्न के लिए भी एक मिनट से अधिक सोचने का समय न दिया। एक प्रश्न ऐसा था जो पाठ्य पुस्तकों से बाहर का था और जिस पर हाईकोर्टों की परस्पर सम्मतियाँ थीं। उसके उत्तर में मैंने पंजाब चीफ कोर्ट तथा कलकत्ता हाईकोर्ट की सम्मति से मतभेद प्रकट करके मद्रास हाईकोर्ट के साथ सहमति प्रकट की। उस उत्तर के लिए मुझे शून्य मिला और इस प्रकार ५० में २३ पाकर दो अंकों के लिए मैं अनुत्तीर्ण हुआ। इस पर मैंने महाशय से पूछा-"किस प्रश्न के उत्तर के लिए मुझे शून्य मिला है?" देशभक्त परीक्षक महाशय ने उत्तर दिया-"मुझे इस सम्बन्ध में वाद-विवाद करना मँजूर नहीं है।" फिर तो मोहर लग गई और मैं प्रसन्नतापूर्वक कमरे से बाहर हुआ। बड़ी सीढ़ियों पर से प्रसन्नवदन

उठते हुए आते देख मित्रों ने समझा कि मैं पास होकर आया हूँ। कत्लेआम की धूम में मेरे इस प्रकार आने से मित्रों को कुछ ढाढ़स हुआ, किन्तु जब मैंने यह सुनाया कि दो अंको के लिए मैं अनुत्तीर्ण हुआ हूँ तो मेरे मित्र मुझे बोलने से रोकने लगे। उन्होंने ऐसा करने में मुझे क्यों रोकना चाहा, इसका रहस्य भी आगे चलकर खुलेगा।

देशभक्त के मुकाबले में एक विदेशी के बर्ताव की कथा लिख देनी भी उचित ही है। दीवानी की मौखिक परीक्षा हिगिज्ज साहब बैरिस्टर ने ली थी। पहले तो मैं एक विषय में फेल होकर दूसरे विषय की परीक्षा में शामिल होने की आवश्यकता ही नहीं समझता था। फिर जब मित्रों के आग्रह पर अन्दर गया भी तो बेपरवाही से प्रश्नों को सुनने लगा। किन्तु जब परीक्षक का प्रेमभरा बर्ताव देखा तो लज्जित होकर सीधे उत्तर देना आरम्भ किया। चार प्रश्नों के उत्तर के जब ४० अंक मिल चुके तो अन्तिम प्रश्न पर मैंने कह दिया कि उत्तर नहीं जानता। मि॰ हिगिज्ज ने मुझे पाँच मिनट सोचने को दिए। मैंने फिर वही उत्तर दिया। तब प्रेमभरे शब्दों में उन्होंने कहा–"मैं तुम्हें दो मिनट और देता हूँ, प्रयत्न करके उत्तर दो आधे अंक अवश्य दूंगा। मुझे निराश न करो।" उसी समय उत्तर स्मरण हो गया, पाँच अंक और मिल गये।

परीक्षा देकर मैं बाहर आया। बहुत से उम्मीदवार घबराये हुए थे। देशभक्त श्री लाला लाजपतराय जी उसी वर्ष वकालत की परीक्षा में बैठे थे। मेरे डेरे पर सब परीक्षा के सताये हुए घायल जमा हुए। हम सब मि॰ कार स्टीवन साहेब के मकान पर गए और कहा–"(कानून फौजदारी) में तुमने सबसे अधिक अंक पाए हैं। तुम अकेले प्रार्थना करोगे, तो मैं सिफारिश करूँगा, किन्तु सबके साथ कुछ भी सुनाई ना होगी।" मैं चुपचाप लौट आया और जुदा प्रार्थनापत्र भेजना अमानत का अपमान समझकर चुप हो रहा।

मैं तो अपने हिसाब से परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो चुका था और अन्त को परिणाम भी वही निकला, किन्तु मेरे साथियों में से कइयों की आशाएँ पाँच–सात दिनों के पश्चात् ही बँधने लग गयी थी और उनमें से कई उत्तीर्ण होकर पूरे वकील बन भी गये। यह कैसे हुआ और उस घटना का मेरे साथ कितना सम्बन्ध रहा इसकी कहानी भी निराली है जो 'लार्पैण्ट' गद्दी की कथा के साथ सम्बद्ध है।

कलियुगी साधु

यहाँ पर यदि मैं एक नए मित्र के साथ सम्बन्ध होने का वृत्तान्त न लिख दूँ तो इस वर्ष की कथा पूर्ण न समझी जाएगी। मेडिकल कॉलेज लाहौर में मेरे बंगाली विद्यार्थी मित्र का एक युवक सम्बन्धी घर से निकल गया था। उसके साधु वेश में अमृतसर में व्याख्यान देने का समाचार लाहौर पहुँचा। मैंने अपने साथ रहनेवाले दो-तीन व्यक्तियों को उनके साथ कर दिया। रात के समय सब उस विचित्र साधु को लेकर लौटे। मैं भी आये अतिथि को देखने गया तो एक काषाय वस्त्रधारी को नरेला पीते तथा हास्य विनोद में निमग्न पाया। मुझे सुनाया गया कि साधुजी ने पोठोहार और मांझा सारा रगड़ मारा है। रातों के मशालें जलवाकर खलियानों में जाटों को देशभक्ति में मस्त कर देते रहे हैं। अमृतसर में आप 'दरबार साहब के पास वृक्ष पर बैठकर अपनी व्याख्यान रूपी रामकहानी सुनाया करते थे। अंग्रेजी पढ़े साधु होने के कारण सरकारी गुप्तचर भी आपके पीछे लगे रहते थे।'

इस युवक साधुजी की उसी समय पुनरावृत्ति करायी गई। किसी ने श्वेत धोती, किसी ने कमीज और किसी ने कोट दिया और यह सब धारण कर साधुजी, बाबू कालीप्रसन्न चैटर्जी का रूप धारण कर घर को चल दिए। यह वही काली बाबू हैं, जिनके हँसानेवाले व्याख्यान लाहौर के अनारकली आर्यसमाज मन्दिर की शोभा बढ़ाते रहे हैं। काली बाबू रुला भी सकते हैं और लाहौर से बाहर के श्रोताओं को उन्होंने समय-समय पर आठ आँसू रुलाया भी है। किन्तु लाहौर के श्रोता उनको हास्य रस के अवतार के रूप में देखने के ऐसे आदी हो गये हैं कि उनकी बड़ी ही हृदयबेधक अपील पर भी हँस ही पड़ते हैं।

काली बाबू के साथ मेरे द्वारा जालन्धरियों का प्रगाढ़ प्रेम हो गया जिसका वर्णन समय समय पर आवेगा। पौष संवत् १९४२ के प्रथम सप्ताह में मैं जालन्धर पहुँचा। पिताजी ने मुझे पहले ही लिखा था कि मेरे जालन्धर लौटने पर वह पेन्शन लेने आयेंगे और मुझे अपने साथ तलवन ले जाएँगे। पिताजी के उतरने का प्रबन्ध मुंशी कन्हैयालाल की नयी कोठी में किया गया। जालन्धर पहँचने पर ज्ञात हुआ कि स्थानीय आर्यसमाज का साप्ताहिक अधिवेशन रात को हुआ करता है। सायंकाल तक मेरे पिताजी न आए। रात में उन्हें देखने के लिए एक आदमी बैठाकर मैं अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। मैंने ईश्वरप्रार्थना के पश्चात् एक उपदेश दिया और वेदी से उतरकर

अभी बैठा ही था कि भृत्य ने आकर पिताजी के पहुँचने की सूचना दी। मैं उसी समय भागा और पिताजी की मझोली को रेल फाटक के पास जा पकड़ा नमस्कार करके पादस्पर्श किया। पिताजी ने पूछा–"क्या! समाज का अधिवेशन समाप्त हो गया?" मैंने कुछ संकोच से उत्तर दिया–"केवल भजन और आरती रह गयी थी, आपका आगमन सुनकर भाग आया।" पिताजी ने बड़े प्रेमभरे शब्दों में कहा–''क्या जल्दी थी समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था" मुझे इन शब्दों ने कुछ विस्मित सा कर दिया। कहां तो पिताजी मेरे तलवन से चलते समय मूर्ति के आगे चढ़ावा चढ़ाने से इन्कार करने पर इतने रुष्ट थे और कहाँ यह कृपा और प्रेम! कुछ समझ में न आया किन्तु दूसरे ही दिन सारा भेद खुल गया।

सत्य का प्रभाव

तलवन में ८ रु० पानेवाले जो नायब मुदरिस थे उनका नाम काशीराम था। वह जन्म के ब्राह्मण और संस्कृत पढ़े हुए थे, किन्तु उन दिनों संस्कृत की पूछताछ कहाँ थी। पण्डित काशीराम का परिवार बड़ा था क्योंकि "दशास्यां पुत्रान्" की मर्यादा के उल्लंघन की सीमा पर पण्डित जो पहुँच चुके थे, और वेतन कुछ भी नहीं बढ़ा। इसलिए इधर–उधर के मनुष्यों से दान लेकर ही उनका यत्किंचित् निर्वाह होता था। पिताजी से उन्हें विशेष सहायता मिलती थी, क्योंकि जब से पिताजी की आँखों पर स्तम्ब रोग का आक्रमण हुआ था तब से धर्मग्रन्थों का पाठ उन्हीं से सुना करते थे। लाहौर जाते समय "सत्यार्थप्रकाश" तथा "पंचमहायज्ञविधि" मेरी दो पुस्तकें पिताजी की बैठक के कमरे में छूट गयी थीं। मैं उन दिनों ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का स्वाध्याय कर रहा था इस कारण उन पुस्तकों के अभाव का मैंने अनुभव नहीं किया। पिताजी ने मेरी इन पुस्तकों को देखकर काशीराम से इनका पाठ सुनाने के लिए कहा। जब पण्डित जी सुनाने को उद्यत हुए तो पिताजी ने कहा–"पहले इनकी देखभाल करलो तब सुनाओ, हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ सुनना नहीं चाहते।" पण्डित काशीराम जी थे आदमी चतुर उन्होंने सबसे पहले ब्रह्मयज्ञ का पाठ अर्थ सहित आरम्भ किया। ज्यों–ज्यों पिताजी सुनते उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती। जब पण्डित काशीराम ने सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास सुनाया, तब पिताजी ने कहा–" पण्डित जी! हम तो अविद्या में ही पड़े रहे हमारा मोक्ष कैसे होगा। हमने तो निरर्थक

क्रियाएँ ही की, अब वे वैदिक सन्ध्या करेंगे। बस फिर क्या था, पिताजी ने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थ कण्ठ करना आरम्भ कर दिया। अब वैदिक सन्ध्या और पंचायत अर्थात् पांच देव-मूर्तियों की पूजा साथ ही साथ होने लगी।"

पिताजी की यह मानसिक अवस्था थी, जब वह जालंधर में मुझे मिले। पिताजी उस समय मुझे फिर बहुत प्यार करने लग गये थे, मानो जो अप्रसन्नता पहले प्रकट की गयी थी उसका प्रतिकार हो रहा था।

पिताजी के साथ मैं तलवन चला गया। उनके पास कुछ दिवस शान्ति से बिताने का विचार था, किन्तु एक सप्ताह के पश्चात् ही जालंधर से मेरे एक माननीय वृद्ध का बुलावा गया। मैंने जालंधर पहुँचकर सुना कि पंजाब यूनिवर्सिटी के नये रजिस्ट्रार साहब मिस्टर लार्पैण्ट ने रिश्वत लेना आरम्भ कर दिया है। मुझे सन्देश दिया गया कि मुझसे बहुत नीचे नम्बर वाले दो विद्यार्थियों ने पाँच-पाँच सौ रुपये घूस देकर कृतकार्यता प्रबन्ध किया है और लार्पैण्ट साहब मेरी प्रतिक्षा कर रहे हैं। मैं यदि दो अढ़ाई सौ भी दे दूँ तो मुझे पास कर देंगे। मैंने ऐसा करने से सर्वथा इन्कार कर दिया और साथ ही लार्पैण्ट साहब को पत्र लिख दिया कि यदि वह ऐसे परीक्षार्थियों को पास करेंगे जो अपना अनुत्तीर्ण होना स्वयं मान चुके हैं तो उनकी पोल समाचारपत्रों में खोली जायगी। इसके साथ ही एक बड़ी मूछों वाले यूरेशियन ने (जिनका नाम मि॰ ब्रैण्डन था और जो कहीं क्लर्क थे) लाहौर पहुँचकर धमकी दी कि उनको भी घलुए के पास करा दिया जाय नहीं तो वह आकाश-पाताल एक कर देंगे। परिणाम यह हुआ कि मैं भी और न घूस देनेवाले दोनों पास हुए, किन्तु ऐसा नहीं कि घूस देनेवाले पास न हुए हों।

जालंधर आर्यसमाज के उपप्रधान उस समय लाला भक्तराम बी.ए. थे, जो मिशन स्कूल जालंधर के हैडमास्टर भी थे। इन्होंने मुख्तारी की परीक्षा दी थी और बसु बाबू के वार से घायल पड़े थे। इनसे घूस मांगी गयी और इनके एक सम्बन्धी ने इन्हें २५०/-रुपये घूस के लिए लाकर दिए भी। किन्तु धार्मिक भक्तराम ने इस प्रकार पास होने को पाप समझा। यह तो समझा, किन्तु एक और आर्य समाजिक भाई को यही २५०/- रुपये दे दिये जिसने बहुत से स्थानों के पाँच सौ से कुछ अधिक रुपये लेकर लार्पैण्ट देव के चरणों जा रखे और एल.एल. का सर्टिफिकेट लेकर हजारों वारे के

न्यारे शुरू कर दिये।

उन दिनों एल.एल. की भी मिट्टी खूब पलीत हुई। एल.एल. से तात्पर्य तो लाईसेन्सीएट इन लॉ था किन्तु लोगों ने इसका मतलब गढ़ा 'लार्पेशियन लायर' अर्थात् ऐसा वकील जो लार्पैण्ट को घूस देकर कृत्कार्य हुआ है, अस्तु। लार्पैण्ट की कहानी यहाँ पर ही समाप्त नहीं होती क्योंकि वह पँजाब के विद्यार्थियों के विशेषत: कानूनी परीक्षा के हताश विद्यार्थियों के साथ जोक की तरह एक वर्ष और चिपटा रहा। संवत् १९४२ के पौष की परीक्षा को अन्तिम आहुति देते हुए केवल इतना लिखना शेष रह गया है कि एक वर्ष जो महाशय वकालत की परीक्षा में प्रथम थे, किन्तु उनसे मेरे पूर्णांक शायद ५० के लगभग अधिक थे। किन्तु इससे होना क्या था जब कि गृह-देवता की पूजा ही न की गई।

मुखतारी और दुकानदारी

संवत् १९४२ के अन्त में मैंने सूदों के चौक में एक दूसरी मंजिल का मकान किराये पर लिया और मुखतारी का काम जोर-शोर से आरम्भ कर दिया। इसके साथ ही आर्यसमाज के काम में भी मैंने बड़ा हिस्सा लेना शुरू किया। एक बड़ी मनोरंजक बात थी। मैं था आर्यसमाज का प्रधान और मुझे हिन्दू समाज की कुरीतियों के विरुद्ध काम करना पड़ता था, किन्तु मैं रहता था लाला वसन्तराय कोहली के मकान में जो उसी वर्ष पौराणिक (सनातन!) धर्म-सभा के मंत्री बने थे। और जिनकी दुकान मेरे मकान के नीचे ही थी। वह बड़ा ही आनन्ददायक दृश्य था जो विज्ञापन नीचे लिखा जा रहा है उसका खण्डन उसके ऊपर तैयार हो रहा है।

मेरे कानूनी मुन्शी

यह ठीक है कि वकालत की गाड़ी खींचने के लिए वकील घोड़े के समान हैं किन्तु यदि गाड़ी के पहिये न लगे हों तो घोड़े बेचारे भी सटपटा कर ही रह जायेंगे। इसी प्रकार वकालत की गाड़ी भी घिस्से की तरह घिसटती फिरे यदि टीपटाप रूपी पहिये उसके नीचे लगकर उसे सुगमता से चलने फिरने के योग्य न बनावें। कैसा ही योग्य वकील क्यों न हो, कैसी ही उत्तम वक्तृता क्यों न दे सकता हो, यदि उसकी अलमारियों में पुस्तकों का जमघट पर्याप्त न हो (इससे कोई मतलब नहीं कि वे पुस्तकें कानून की हैं वा किस्से कहानियों की), यदि वह शानदार बग्घी पर दनदनाता

हुआ जाने के बदले जूतियाँ चटकाता हुआ कचहरी में पहुँचे, यदि उसका सूट और बूट भड़कीला न हो, कोई भी मुवक्किल (मुकदमे वाला) उसके पास न फटकेगा।

मेरे पास उस समय इतना धन न था कि मैं ऐसा सामान इकट्ठा कर सकता किन्तु पिताजी पेंशन लेकर आते समय अपना सारा सवारी का समान साथ लाए थे। मुझे बरेली कोर्ट और मुश्कन तेज घोड़ी दे देने पर भी उनके पास एक वैगोनट, दो घोड़े और मझोली बैलादि बच रहे थे। संवत् १९४१ की कमाई में से जो कुछ बचता, पिताजी की भेंट करता रहा इसलिए उनकी कृपा से कुर्सी-मेज इतयादि सामान भी मिल गया था फिर भी पढ़ने में अधिक अनुराग होने से मेरे पास साहित्य, इतिहास विज्ञानादि की पुस्तकें पहले से काफी थीं। उनके साथ जब ऋग्वेद के ऋषि दयानन्दकृत भाष्य भी मिल गये तो मानो सोने पर सुहागा चढ़ गया। मेरे मुन्शीजी बेखटके (मेरी अनुपस्थिति में) कह सकते थे कि मैं बड़ा वकील हूँ, क्योंकि मेरे पुस्तकालय से बढ़कर दो ही तीन वकीलों का पुस्तकालय था।

मैंने वकालत को गाड़ी बतलाया, टीप-टाप को पहिये बतलाया, वकील को घोड़ा कल्पना किया, किन्तु अभी तक अलंकार पूरा नहीं हुआ। बिना कोचवान के घोड़े कैसे ठीक चल सकते हैं? इस वकालत रूपी गाड़ी को कोचवान भी चाहिए। वकील कैसा ही योग्य हो, चलतापुर्जा भी हो, किन्तु काम सरलता से चलाने के लिए उसे अपने मुन्शी से शिक्षा लेनी ही पड़ती है। इसलिए वकालत रूपी गाड़ी का कोचवान मुन्शी ही होता है। यदि मेरे इस लेख को कोई नया वकील पढ़ेगा तो मेरा अलंकार तत्काल ही उसकी समझ में आ जाएगा। पुराने वकील भी यदि अपनी स्मरणशक्ति को कुछ कष्ट देंगे तो उनके सामने अपनी उम्मीदवारी के समय का चित्र घूम जाएगा। वकील जज के सामने खड़ा है, मुन्शी कान में कहीं जिरह के सवाल फूँक रहे हैं और कहीं कानूनी उज्र उठाने पर जोर दे रहे हैं। यह माना कि कभी मुन्शी जी की बदौलत बेचारे नये वकील को अदालत से झाड़ खानी पड़ती है, कभी सामने के अनुभवी वकील से लज्जित भी होना पड़ता है किन्तु बहुत बार कसे हुए शिकंजों से भी तो बस, मुन्शीजी की हिदायत पर अमल करके निकला जाता है। मुन्शीजी वकालत की जान उसकी अन्तरात्मा हैं। मुन्शीजी की महिमा का कहां तक वर्णन किया जाए। कई अवस्थाओं में तो मुन्शीजी का ही नाम बिकता है, वकील बेचारे को

कोई जानता भी नहीं। जालन्धर में हमारे स्वर्गवासी भाई तेलूराम जी एक वकील के मुन्शी थे, वकील साहब के मुवक्किल से यदि पूछा जाता कि इसने कौन वकील किया तो उत्तर मिलता "तेल्लू मुंच्छीदा वकील दित्ता है।" एक दो नहीं ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे।

इतनी लम्बी भूमिका के पश्चात् अब मैं अपने पाठकों को अपने उस समय के मुन्शी साहब से भेंट कराता हूँ। मेरे मुन्शी साहब का नाम अमीर खां था। वह पठान थे और खानदानी समझे जाते थे। स्वयं मेरी समझ में भी यह कभी नहीं आया कि संसार में कोई बेखानदानी मनुष्य भी होते हैं। अस्तु, अमीर खां साहेब केवल खानदानी ही न थे, वह भलेमानस व शरीफ भी समझे जाते थे। फिर प्रश्न होगा कि उनका मुन्शीगिरी से क्या सम्बन्ध? किन्तु क्या सब मुंशियों के लिए एक ही आदर्श हो सकता है? बात ऐसी नहीं है। वकील के मुन्शी का उस्ताद होना आवश्यक है चाहे वह किसी फन का उस्ताद हो। मुन्शी अमीर खां उस्ताद थे। शब्बेरात पर जो हमारे मुहम्मदी भाई टोटखे चलाते हैं उनके मुन्शी साहब उस्ताद थे। रात भर टोटखे चलवाते और शागिर्दों से वाहवाह लूटते। टोटखेबाजी में आपके चेहरे पर दो बार घाव लगे, जिनके चिन्ह उनकी उस्तादी के प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

मुन्शी अमीर खां की योग्यता का एक और प्रमाण लीजिए। जब मैं संवत् १९४१ के अन्त (सन् १८८५ के आरम्भ) में वकालत पढ़ने लाहौर गया तो मेरे कुछ मुकदमे बचे हुए थे। मेरे वकील मुख्तार मित्रों ने कृपापूर्वक उनकी पैरवी कर दी। मुन्शी साहब केवल उन मुदद्दमों की ही फीस वसूल न करते रहे प्रत्युत और मुकद्दमें भी लेते और मेरे वकील भाइयों को यह चकमा देकर उनसे पैरवी कराते कि वे पुराने मुकदमें हैं। मेरे पाठकों की समझ में आयेगा कि मेरी अनुपस्थिति में कैसे नये मुकद्दमें मिल सकते होंगे पर जब वे मुन्शीजी की अपूर्व बुद्धि की व्याख्या सुनेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जायेगा। जब कभी कोई पुराना मुवक्किल आता तो मुन्शी जी कहते "यदि तुम और कोई वकील करना चाहो तो करलो किन्तु तुम्हारा भला इन्हीं को (मुझे) वकील करने में है।" तब मुवक्किल पूछता कि "जब बाबूजी यहाँ पर नहीं हैं तो मेरे मुकदमें की पैरवी कौन करेगा?" इस पर मुन्शी अमीर खां साहब कहते "अरे भोले! यह सब वकील जहाँ पढ़ के आये हैं वह बड़ा भारी मदरसा है। वहाँ वही पढ़ाता है जो सारे

पंजाब के वकीलों का शिरोमणि है। इस समय वह एक वर्ष की छुट्‌टी पर गया है, सरकार को सिवाय हमारे बाबू जी के उसकी जगह के लिए कोई योग्य वकील न मिला, वह वकीलों को पढ़ाने गये हैं। यदि उनके पीछे दूसरे वकील ने मुकदमा हरवा दिया तो भी लौटकर वह अपील तो कर लेंगे।" बहुत से मुवक्किल तो इस प्रकार काबू में नहीं आये किन्तु कुछ तो चंग पर चढ़ ही गये।

मेरे मुन्शी साहब तो मेरे लौटने पर इस कहानी की कहानी से इन्कार ही करते रहे, किन्तु मेरे एक-दो वकील मित्रों ने इसका समर्थन किया था।

अमीरखां बेचारे मर चुके हैं। उसकी प्रशंसा में एक बात अवश्य करना चाहता हूँ। उन्होंने मेरे साथ कभी भी असत्य व्यवहार नहीं किया। यदि कुछ झूठ बोला या मेरी दृष्टि में अनुचित काम किया तो अपनी समझ के अनुसार मेरे भले के लिए ही। शराब से उनको कुछ वास्ता न था, व्यभिचार के वह समीप नहीं फटकते थे और अन्य सब बातों में वह सदाचारी थे। एक मुन्शीगीरी के रोग में फँसकर उनसे झूठा व्यवहार कभी-कभी हो जाता था।

अन्य वकीलों की तरह मेरे पास भी दो मुन्शी रहा करते थे। जिस प्रकार गाड़ी के लिये कोचवान के साथ साईस या नायब कोचवान की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार हैड मुन्शीसाहब के साथ वकील को नायब मुन्शी की आवश्यकता रहती है। जोड़-तोड़ मिलाने, गवाहों को सिखाने, पढ़ाने और अर्जी जवाबदावे, मुजिबातें, अपील आदि लिखने के लिए तो हैड मुन्शी और लिफाफे संभाल कर ले जाने, मुकद्दमों को तारीख लेने, मुवक्किलों को दिलासे से संभालकर रखने के लिए नयाब मुन्शी थे।

मुन्शी अमीर खां के समय और उसके पश्चात् भी मेरे पास कई नायब मुन्शी आये और कई गए, उन सबके नाम याद नहीं।

अब मेरे विषय में कल्पना कर लीजिए कि मैं सूदों के चौक वाले दो मंजिले, छः मंजिले मकान में स्थित, सूट, बूट, और बग्घी का स्वामी हूँ, हैड तथा नायब मुंशी बराबर हाजिरी में रहते हैं और मुख्तारी का काम शुरू हो गया है। दूसरी ओर आर्यसमाज के काम में भी पूरा भाग लेने लग गया हूँ। मेरे नीचे एक और सनातन धर्म सभा के मंत्री लाला वसन्तराम जी रहते हैं जिनके एक छोटे भाई का नाम शालिग्राम

है, जो इस समय तक गुरुकुल के भण्डारी नाम से प्रसिद्ध है। इतनी अनुभूमिका के पश्चात् आगे की घटनाओं को समझना सुगम हो जायेगा।

जिसकी पहल उसी की जय

एक पुरानी कहानी है कि दो राजकुमार युवक किसी राजसेना के घुड़सवारों में नौकर थे। दोनों युद्ध की लूटमार समेत घर को लौट रहे थे। रास्ते में दो स्त्रियां मिली उन्होंने इनसे विवाह की याचना की। वे सुन्दरी रमणियां दोनों जंगी सवारों के साथ विवाह के लिए यह प्रतिज्ञा लेकर उद्यत हुई कि विवाह के पश्चात् उनके पति नित्य प्रातः स्त्रियों से सात जूते खाया करेंगे। दोनों का विवाह होने तक जब पहला ही सवेरा हुआ तो उनमें से एक ने उठते ही बिल्ली को अपना रास्ता काटते देखा। तलवार म्यान से झट बाहर हुई और बिल्ली का सर धड़ से अलग हो गया। यह चमत्कार जब सवार की धर्मपत्नी ने देखा तो सहम कर रह गई और दोनों का जीवन धर्मानुसार व्यतीत होने लगा। पन्द्रह दिनों तक दोनों मित्र न मिल सके। जब मिले तो एक दूसरे का हाल पूछा। बिल्ली का सिर काटने वाले ने जब सुना कि नित्य जूतियाँ खाता है तो अपनी कथा सुनाई। दूसरे मित्र ने अपनी निर्बुद्धिता पर शोक करके प्रतिज्ञा की कि वह भी अपनी पत्नी को धर्मपत्नी बना लेगा। दूसरे ही दिन सवार महाशय तलवार बाँधकर तैयार हो गए। इस विचित्र घटना को उनकी जोरू ने आश्चर्य से देखा किन्तु जब मिंया तलवार खां ने तलवार का वार करके बिल्ली को घायल कर दिया 'बीबी' ने मुस्करा कर कहा–"गुर्बा कुश्तन् रा रोज अव्वल बायद्।"

अर्थात् बिल्ली मारने का पहला दिन ही था। पछताए क्या होत है जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।

उपर्युक्त जनश्रुति के चरित्रतार्थ करने का समय मेरे लिए मुख्तारी का काम दूसरी बार प्रारम्भ करते ही आ पहुँचा था। एक और तो मुन्शी अमीर खां थे और बड़े-बड़े पदाधिकारी मद्यप मित्र। दोनों के साथ "गुर्रा कुश्तन" वाला समय-समीप आया। मकान अथवा यों कहिए कि कानूनी दुकान का फटरा (साइन बोर्ड) तैयार कराने की आज्ञा मैं मुन्शी जी को लाहौर से ही भेज चुका था। आप फटरा तैयार कराकर लाये, जिस पर मेरे नाम के साथ मुख्तार के स्थान में लीगल प्रैक्टिश्नर (कानूनी व्यवसायी) लिखा हुआ था। ऐसा करने पर मैं पहले स्वयं दो-तीन मुख्तारों

को शरमिन्दा कर चुका था। मैंने मुन्शी जी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उत्तर मिला कि उन्होंने मेरे भले के लिए ही ऐसा किया था। मैंने उन्हें स्पष्ट कर दिया कि यदि इस प्रकार की कार्यवाही होगी तो उनका रास्ता दूसरी ओर होगा। मुख्तार शब्द लिखे जाने के लिये मैंने फटरे को लौटा दिया। मुन्शी जी ने एक बार चालाक कोचवान की तरह मुझे फिर काबू करना चाहा और एक प्रस्ताव पेश किया जो मुझे अनुचित प्रतीत हुआ, किन्तु जब देखा कि घोड़ा अड़ियल है और शायद कोचवान को उल्टे मुँह गिरा दे तो मुन्शी अमीर खां जी ने लगाम को घोड़े की ही गर्दन पर डाल दिया।

इस प्रकार एक विरोधी शक्ति से तो छुटकारा हुआ किन्तु दूसरी ओर मामला बड़ा बेढब था। ११ माघ संवत् १९४१ (१४ जनवरी सन् १८८५) की रात को मैंने, मद्य से बची हुई बोतल तोड़ कर सदा के लिए मद्य को तिलांजलि दे दी थी। लाहौर में विद्यार्थी अवस्था ने मेरी सहायता की। जब कुछ दिन जालन्धर ठहरा तो आर्यसमाज के कामों की फँसावट ने रक्षा की। किन्तु जब मैं फिर से सभ्य समाज में मिला तब परमेश्वर के बिना मेरा और कोई रक्षक न था।

एक दिन प्रातःकाल मेरे एक पुराने मद्यप मित्र के यहाँ दावत थी। मेरे मेजबान एक्जिक्यूटिव इंजीनियर थे। जब उनके शानदार मकान की सजी हुई बैठक में पहुँचा तो दो डिप्टी कलेक्टर, एक मुन्सिफ, दो तीन वकील और उनके हम पेशा एक्जिक्यूटिव इंजीनियर बैठे गप्पे हाँक रहे थे। मुझे तो स्वप्न में भी यह न सूझ सकता था कि ऐसे सभ्य पुरुष दिन दहाड़े शराब डालने का हौसला करेंगे। किन्तु मेरा पहुँचना ही था कि शोर मच गया और चारों ओर से आवाजें आने लगी-देखो! खूब काबू आया है, अब इसके धर्म-वर्म की खबर ले डालो। देखें, कैसे छूटता है? इत्यादि-"मेरे हाथ पाँव पकड़ लिए और एक महाशय प्याले में शराब भरने लगे। मैंने कहा कि मेरे अन्दर अब शराब डालना असम्भव है। भला शराबी किसी की काहे को सुनने लगे, कइयों ने हाथ पैर थामे और दो ने मुँह खोल दिया। तीसरे ने प्याला उड़ेलने को आगे किया ही था कि मद्य की दुर्गन्ध ने अन्दर घृणा उत्पन्न की। एकदम उल्टी (कै) हो गई और मेरे पकड़ने वालों के कपड़े खराब हो गये। वे जरा हिले कि छलांग मारकर बाहर वाटिका में आया। कूप पर जल से भरा डोल पड़ा था, कुल्ली करके सीधा घर का रास्ता लिया। उस दिन से किसी शराबी का हौसला न पड़ा कि मुझे अपने मत में लाने का

प्रयत्न करे।"

इन दो घटनाओं ने मुझे बहुत सी कठिनाइयों से बचा लिया और मैं निर्विघ्नता से अपने धर्मसेवा के काम में लग गया।

एक रंगे सियार से भेट

आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन अभी तक मुरलीमल की धर्मशाला में ही होते थे। यह स्थान कैसे हमें मिला और कैसे हमारे हाथों से निकल गया इसका वृत्तान्त बड़ा ही मनोरंजक है। इस स्थान पर आर्यसमाज की उन्नति के सम्बन्ध में दो घटनाओं का कथन पर्याप्त है। परन्तु उन दोनों घटनाओं के वर्णन से पहले अपने पिताजी की बीमारी के सम्बन्ध में लिख देना, कथा की श्रृंखला को टूटने न देगा।

फाल्गुन संवत् १९४२ (फरवरी १८८६ ई०) में पिताजी के पुनः अर्धांग रोग से पीड़ित होने के कारण मैं अपनी जन्मभूमि तलवन को गया। उस समय पिताजी की चिकित्सा एक निरंजनी साधु कर रहा था, जो मुझे हरिद्वार की अर्धकुम्भी पर संवत् १८६३ के वैशाख मास में मिला था। यह साधु पिताजी को स्वर्ण भस्म तथा कुछ अन्य वस्तुएँ खिलाकर इलाज कर रहा था। यह बड़े से बड़ों को 'लण्डीका' इत्यादि अपशब्दों से याद करता था और प्रसिद्ध कर रखा था कि मेरे पिताजी का इलाज मन्त्र द्वारा करता है। इसने यह भी चमत्कार दिखलाया था कि उसके पैर को किसी आग की भी आँच नहीं जला सकती। मैं तलवन पहुँचते ही उसके पास गया और जलते कोयलों की अंगीठी मँगाकर उसे पाँव रखने को कहा। साधु जी सब कुछ ताड़ गये और कड़ककर बौले–"हम अपने ढंग पर चमत्कार दिखाते है।" मैंने कहा–"वैसे ही दिखाओ।" साधु जी ने कुछ मोटे उपले मँगावाये, उन्हें जलाकर जब धुएँ का नाम न रहा और उन पर थोड़ी राख जमा हो गई तो एक उपले की राख में ठोंककर अपने पैर की एड़ी टिका दी। उनका ऐसा करना ही था कि मैंने अपनी एड़ी दूसरे उपले पर बेपरवाही से टिका दी। मैं जानता था कि यदि बीच में वायु के संसर्ग का स्थान न रहे तो आँच न सताएगी। साधु जी से कहा कि अब इलाज न होगा। मैं चला आया किन्तु साधु जी ने अब उपजकी लेना ही छोड़ दिया। फिर भी इस घटना से अपना ही उल्लू सीधा करना चाहा। सब उपस्थित सज्जनों से कहा कि मैं उनसे भी बढ़कर सिद्धि प्राप्त हूँ फिर मेरे पास आग और सोने की भस्मादी दिखाकर कहा मन्त्र बोलना तो एक ढोंग

मात्र था, मैं तो मक्खन में औषधियाँ देता हूँ। यह ठीक था कि साधु जी मारा हुआ स्वर्ण ही मक्खन में खिलाते थे, किन्तु पिताजी की श्रद्धा उन पर से दूर हो गई। कुछ धन साधु जी को भेंट कर उन्हें छुट्टी दी गई और मैंने एक असिस्टैण्ट सर्जन को बुलाकर पिताजी का इलाज शुरू करा दिया।

पिताजी का असीम प्रेम

साधु जी को विदा करके पिताजी ने मुझे एकान्त में बुलाया। बरेली से जब पिताजी संवत् १९३६ के अन्त (१८८० के आरम्भ) में खुर्जे बदलकर आये तब बरेली के भीमा नामक युवक को अपना निजी सेवक बनाकर साथ लाये थे। वही इस समय उनकी सेवा में था। भीमा ने आज्ञा पाते ही एक कागज का लपेटा हुआ पुलिन्दा पिताजी के आगे खोला तो उसके अन्दर से एक पार्चमेंट का पत्रा और एक साधारण पत्र पर लिखा हुआ वसीयतनामा निकला। वसीयतनामे में मेरे तीनों बड़े भाइयों को केवल मकान और जमीन का कुछ भाग देकर शेष सब धन (रोकड़, आभूषणादि) मुझे दिया गया था और कुछ धर्मार्थ कार्य मेरे सुपुर्द किए गये थे। मैं वसीयतनामा पढ़कर इस प्रकार उदासीन बैठ गया जैसे कोई आपत्ति का पहाड़ मुझ पर टूट पड़ा हो। पिताजी को आश्चर्य हुआ। मैंने नम्रता से निवेदन किया कि मैं अपने अधिकार से बढ़कर कुछ भी लेने को तैयार नहीं। पिताजी ने बड़े प्रेम से मुझे समझाया, उन्होंने कहा कि जितना मैं पहले आर्यसमाज में प्रवेश से असन्तुष्ट हुआ था उससे बढ़कर अब मुझे सन्तोष है और मुझको निश्चय हुआ है कि तुम्हीं मेरी धार्मिक आशाओं को पूरा करोगे। बहुत विवाद के पश्चात् पिताजी से मनमानी भिक्षा की याचना की, पिताजी के वचन देने पर मैंने निवेदन किया–'यदि वसीयत कर देंगे तो मैं अपना भाग लेने से भी इन्कार कर दूँगा, किन्तु यदि आप मेरी प्रार्थनानुसार मुझे इस वसीयतनामे को फाड़ देने की आज्ञा दें, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जिन धर्म कार्यों को मुझसे पूर्ण कराने का आपका शुभ संकल्प है, उनकी पूर्ति में ही यथाशक्ति अपने जीवन को लगाऊँगा।' पिताजी ने कहा–"यह पार्चमेंट पत्र तथा लिखा हुआ वसीयतनामा तुम्हारा माल है, इनके साथ जैसा बर्ताव चाहो करो।" पिताजी की आज्ञा पाते ही मैंने वसीयनामा फाड़ दिया और पिताजी के चरणों में सिर रखकर उनसे आशीर्वाद ले जालन्धर लौट आया।

~~~~~~

इस बार मैंने अपने ग्राम में धार्मिक संशोधन विषय पर एक व्याख्यान भी दिया था। इसमें तलवन के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुष उपस्थित थे। इस व्याख्यान का वृत्तान्त सुनकर पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। पिताजी की सेवा में उस समय मैंने जो मानसिक भेंट रखी थी, मेरे शेष जीवन में यदि कोई अच्छा काम मुझ से हुआ है, तो वह उसी गम्भीर घटना के प्रभाव का परिणाम है। उस घटना के स्मरण मात्र ने मुझे बहुत बार गहरे गड्ढे में गिरने से बचाया है। काम-क्रोधादि के आक्रमण से कई बार मुझे पिताजी की उस समय की करूणा तथा प्रेम से पूर्ण दृष्टि के स्मरण ने ही सुरक्षित किया है माताजी के देहान्त के पश्चात् पिताजी ने मुझे मातृप्रेम से अपनाया था। माता के प्रेम का अभाव उन्होंने मुझे अनुभव नहीं होने दिया था। और मुझे आज इस बात के अंगीकार करने में जरा भी संकोच नहीं कि यदि मेरे अन्दर से कभी मातृप्रेम का प्रकाश पुत्रों तथा पुत्रियों के लिये होता था तो उस कीर्ति के भागी माताजी से भी अधिक मेरे पिताजी हैं।

शास्त्रार्थ का पहिला अनुभव

आर्यसमाज के सम्बन्ध रखने वाले पुराने अनुभवी पुरुष भूले न होंगे कि संवत् १९४३ के प्रथम तीन मास (सन् १८८६ के मध्य भाग) तक यदि पौराणिक पंडितों तथा आर्यजाति के संस्कृतज्ञों के साथ किसी प्रकार का धार्मिक विचार होता था तो उसमें आर्यसमाज के प्रतिनिधि ब्राह्मणकुलोत्पन्न महाशय ही हुआ करते थे। 'आर्यसन्मार्ग दर्शिनी सभा, कलकत्ता' के आक्षेपों का उत्तर अवश्य खत्रीकुलोत्पन्न लाला साईंदास जी ने उर्दू में दिया था, किन्तु संस्कृतज्ञों के सामने आर्यसमाज के ओर से एकाक्षी पण्डित मूलराज वा ऐसे ही अन्य विद्वान् पेश किये जाते थे। इसके अतिरिक्त लाहौर के सिवाय और किसी आर्यसमाज को अधिकार न था कि शास्त्रार्थ आदि के लिये उद्यत हो सके। न केवल यही, प्रत्युत कोई भी गृहस्थ साधु पुरुष लाहौर से बाहर धर्मप्रचार का साहस नहीं कर सकता था। जब ऐसी दशा थी तो ग्रामों में प्रचार की तो कथा ही क्या कहनी है। जालन्धर शहर आर्यसमाज ने सारी प्रथा को ही बदल दिया। किस प्रकार यह प्रथा बदली गयी और किसी प्रकार सोई हुई आर्य सन्तान को बड़े से बड़े अन्धकारमय कालों में जगाया गया, इसका वृत्तांत बड़ा मनोरंजक और उस श्रृंखला में वह शास्त्रार्थ पहली कड़ी है जिसका यत्किंचित् स्मरण रहा हुआ
~~~~~~

वृत्तांत मैं यहाँ दूँगा।

पिताजी के रुग्ण होने के कारण मैं प्रत्येक आदित्यवार के साथ एकदिन और मिलाकर उनके दर्शनों के लिये तलवन जाया करता था एक बार शायद चैत्र (अप्रैल) में, तीन चार दिनों की छुट्टी थी। मैं तलवन गया था, जब लौटा तो मेरे बैठक पर पहुँचते ही आर्यसमाज के कुछ सभासद मिले। उन्होंने यह बतलाया कि अमृतसर के एक श्यामदास नामी पण्डित ने आफत मचा रखी है। उन सभासदों ने शिकायत की कि आर्यसमाज के धनाढ्य पदाधिकारी कानों में रूई डाले बैठे हैं और श्यामदास ने उन्हें कहीं खड़ा होने योग्य नहीं रख छोड़ा है। वह बारम्बार शास्त्रार्थ के लिए ललकारता है और नियोगादि के विषय में अश्लील शब्दों का प्रयोग कर सर्वसाधारण को भड़काता है। आर्य भाइयों को मैंने बैठाया और शास्त्रार्थ की स्वीकृति का पत्र उसी समय लिखकर उनके हवाले किया। सब सभासद् प्रसन्न होकर चले गये। कुछ लिखा-पढ़ी के पश्चात् पण्डित श्यामदास को शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति पूजा तथा अवतारवाद का मंडन मानना पड़ा और अन्तिम पत्र से तीसरे दिन की तिथि नियत की गई। आर्यसमाज के सभासदों में से एक काशीराम थे, जो मेरे यहाँ मुन्शीगिरी के भी उम्मीदवार थे। मैंने अपने पत्र के साथ उन्हें श्रीमान् लाला साईंदास जी प्रधान आर्यसमाज लाहौर के पास भेजा और प्रार्थना की कि शास्त्रार्थ के लिए कोई पण्डित हमें दिया जाए।

अभी तक पंजाब में प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित नहीं हुई थी। पँजाब के आर्यसमाजों में यद्यपि राय मूलराज, लाला जीवनदास, लाला लालचन्द आदि अनेक मुखिया समझे जाते थे, किन्तु अन्दर वाले सब जानते थे कि समाजरूपी गृह के कर्त्ता-धर्त्ता उस समय के प्राण लाला साईंदास ही हैं। काशीराम लाला साईंदास के पास पहुँचे। वहाँ से न केवल यही कृतकार्यता हुई प्रत्युत उत्साह को गिरानेवाले शब्दों की बौछाड़ भी पड़ी। कई लाहौरी भाइयों ने कहा कि छोटे छोटे आर्यसमाजों को बिना हमारी आज्ञा के शास्त्रार्थ नहीं रख लेना चाहिये। एक युवक ने जोश में आकर कहा-यदि साहस नहीं था, तो शास्त्रार्थ की डींग क्यों मारी? काशीराम फिर क्या ठहरते, वहाँ से लौटते हुए अमृतसर ठहरे। उस समय पण्डित धर्मचन्द जी काश्मीरी उक्त आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नामी एक ब्राह्मण पुत्र को छात्रवृत्ति

देकर पढ़ाया था। उन्होंने उस विद्यार्थी को काशीराम जी के साथ कर दिया। रात को शास्त्रार्थ था और लाजपत मेरे पास दोपहर को पहुँचे। ऋषि दयानन्दकृत भाष्यों में से नियत विषयों पर मन्त्रार्थ सरल करने लगा दिया। रात को जैसे तैसे शास्त्रार्थ हुआ। लाजपत जी संस्कृत में बोलते थे। पण्डित श्यामदास ने उपस्थित जनता पर प्रभाव डालने के लिए आर्यभाषा में भाषण आरम्भ किया। फिर क्या था जब उधर से प्रतिज्ञा भंग हुई तो मैंने स्वयं आर्यभाषा में उत्तर देना आरम्भ किया। तब तो पण्डित जी ने इस पर बल दिया कि विद्यार्थी शास्त्रार्थ करें, किन्तु मेरा उत्तर यह था कि जब दूसरी ओर से संस्कृत में भाषण करने की प्रतिज्ञा एक बार तोड़ी जा चुकी है तो शास्त्रार्थ मैं ही करूँगा। परिणाम क्या हुआ यह मैं नहीं कह सकता, किन्तु इतना कह सकता हूँ कि आर्यसमाज का गौरव सर्वसाधारण की दृष्टि में घटा नहीं।

इस शास्त्रार्थ के दो परिणाम हुए। प्रथम यह कि जब दूसरे दिन काशीराम जी ने लाहौर की सारी कथा सुनाई तो मैंने दृढ़ मानसिक प्रतिज्ञा करली कि आगे कभी अपनी सहायता के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं करूँगा। इस मानसिक संकल्प ने मुझे आर्यग्रन्थों के स्वाध्याय की ओर अधिक रुचि दिलाई। इसके पश्चात् के दिनों की दिनपत्रिका देखने से विदित होता है कि ज्येष्ठ संवत् १९४३ (सन् १८८६ ई०) के आरम्भ से ही मैंने मूल वेदों की पुनरावृत्ति आरम्भ कर दी थी। दिन में कई बार जहाँ कुछ न कुछ धर्मसम्बन्धी अध्ययन करता, वहाँ प्रातःकाल संध्या अग्निहोत्र के पश्चात् कम से कम २० वेद मन्त्रों का पाठ शनैः शनैः अवश्य होता। वेदभाष्य का देखना भी पीछे आरम्भ किया तो उसके लिए और ही समय निकाला। प्रातः अन्य नित्य कर्मों की समाप्ति पर मूल वेद के पाठ का अभ्यास बहुत देर तक चला। उन दिनों बिना व्याकरणादि जाने भी वेद मन्त्रों में जो उच्च गम्भीर और आश्वासक भाव कभी-कभी अनुभव में आते थे, एक आश्चर्यजनक घटना थी। कई बार मैंने उस समय के प्रसिद्ध पण्डितों के सामने कुछ भाव लेकर जो मूल मन्त्र पेश किये तो उन्हें आश्चर्य होता था और उनमें से कई यह मान लेते थे कि वेदार्थ तक पहुँचने के लिए वेदाङ्गों की सहायता की अपेक्षा मानसिक शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह अवस्था केवल संवत् १९४८ के फाल्गुन मास (१८९१ई०) तक रही। उसके पश्चात् आर्यसमाज के घरूयुद्ध में अन्य हानियों के साथ सर्वोत्तम स्वाध्याय का भी लोप सा होता गया और

उस स्वाध्याय की भूख बारम्बार चमकने पर भी, उसमें विघ्न पड़ते ही रहे।

इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि जालन्धर नगरनिवासियों का ध्यान आर्यसमाज के काम की ओर बड़े जोर से खिंचा, इसके सभासदों पर आक्रमण आरम्भ हुए। तपाया हुआ लोहा चोटों से अधिक बढ़ता है, इसी प्रकार आर्यपुरुषों पर जितने आक्रमण हुए उतने ही उनके हृदय विशाल होते गये। पण्डित श्यामलाल के व्याख्यानों का खण्डन दूसरे दिन से ही आर्य मन्दिर में आरम्भ हो गया। इतनी भीड़ आर्य मन्दिर में पहले कभी नहीं हुई थी। तीस पैंतीस सभासद् भी बढ़े और उत्साह से काम होने लगा।

बिरादरी से खारिज की धमकी

इस उन्नति को देखकर कुछ पौराणिक ब्राह्मणों का हृदय सन्तप्त हुआ और उन्होंने थापर खत्रियों के प्रसिद्ध दीवानखाने में आर्यसमाजियों को जातिच्युत करने के लिए एक पंचायत बुलाई। पंचायत की धूम मच गई और जालनधर के बड़े-बड़े पण्डित व्यवस्था देने को तैयार हुए। नगर की बिरादरियों के सभासद् बड़े भयभीत थे कि अब कैसे छुटकारा हो। उस समय लाला देवराज जी की धार्मिक श्रद्धा बहुत बढ़ी हुई थी। मुझे साथ लेकर वह एक प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित के यहाँ पहुँचे जिनसे उन्होंने यज्ञोपवीत भी धारण किया था। पण्डित जी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि अपनी एक सम्बन्धिनी स्त्री से उनका धर्मविरुद्ध सम्बन्ध, दूसरे पण्डित जी नगर की ब्राह्मण-मण्डली के शिरोमणि तथा लोकमान्य समझे जाते थे, किसी अन्य व्यभिचार के दोषी प्रसिद्ध थे। तीसरे जुएबाज थे, इत्यादि। भाई देवराज जी ने मेरे कुछ न्याय विषय पर बात कर चुकने पर कहना आरम्भ किया-"पण्डित जी! आप मेरे गुरु हैं। आप पंचायत कीजिए। किन्तु हमारा प्रशन होगा कि जो पण्डित होकर इस प्रकार के व्यभिचार दोषों से दूषित हों, पहले उनको गधे पर सवार कराके देश निकाला दिया जावे, तब हम अपने विषय में किए गये प्रश्नों के उत्तर देंगे।"

इधर तो लाला देवराज जी ने सौंधियावाली धमकी दी थी, उधर बहुत से खत्री चौधरी जिनके पोते दौहित्र, भतीजे, पुत्रादि आर्य सामाजिक थे, उन ब्राह्मणकुलोत्पन्न पुरुषों की सूची बनाने लगे, जो निरक्षक भट्टाचार्य एवं गायत्री मन्त्र से भी अनभिज्ञ थे। परिणाम यह हुआ कि जब पंचायत का समय आया तो पता लगा

कि शिरोमणि ब्राह्मणकुलभूषण जी प्रात:काल की ट्रेन से ही किसी काम के बहाने अमृतसर चले गये और नैयायिक जी जनेऊ कान पर चढ़ा लोटा हाथ में ले जो दस बजे दिशा जंगल को निकले तो शाम तक घर की सुधि ही न ली। पंचायत का समय ३ बजे था। ४ बजे तक टक्कर मारने पर जब कोई पण्डित न मिला तो पंचायत बुलानेवाले अपना-सा मुँह लेकर घर लौट गये। ऐसी अवस्था होने पर पण्डित श्यामलाल को, जो भेंट पूजा लेकर चल दिए थे, एक बार लाने के लिए फिर से देवी दुर्गा के भक्त अमृतसर गये। वहाँ क्या था, नई भेंट की आशा पंडित जी को फिर जालन्धर घसीट लाई। इस बार पण्डित श्यामलाल ने सत्यार्थप्रकाश को पढ़कर लोगों को भरमाना आरम्भ किया। दैवयोग से उस बार भी मैं पिताजी को देखने तलवन गया हुआ था। दो दिन तो पण्डित जी की धूम रही किन्तु तीसरे दिन जालन्धर पहुँचते ही मैं पण्डित जी के व्याख्यान में गया। उन्होंने उस समय पाराशर के उस श्लोक को पढ़कर, जिसका ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में खण्डन किया है, सर्वसाधारण को बतलाया कि दयानन्द गाय से गधी को अच्छी बतलाता है। मैंने बीच में ही टोककर सारी बात इबारत पढ़ने के लिए कहा। मुझे बन्द करना पण्डित श्यामलाल जी की शक्ति से बाहर था। पण्डित जी की दूसरी डाँट पर मैं प्लेटफार्म पर उनके पास जा खड़ा हुआ और उसके हाथ से पुस्तक लेकर असल इबारत पढ़ दी। मेरे कार्य में सभ्यता का बर्ताव था, इसलिए पण्डित जी को भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। तब मैंने उच्च स्वर से कहा कि यह सत्यासत्य के निर्णय के कार्य हैं, हार जीत से विद्वानों का तात्पर्य नहीं होना चाहिए। जैसे आर्यसमाज के सभ्य शान्तिपूर्वक पंडितजी का कथन सुनते रहे हैं आशा है पण्डितजी भी कल से हमारे आर्य मन्दिर में हमारे उत्तर सुनने आवेंगे। पण्डित जी उस समय धार्मिक जोश में थे, उच्च स्वर से बोले "मैं अवश्य जाऊँगा।"

दूसरे दिन इधर हमारी सभा लगी, उधर एक घण्टा पहले से ही निष्पक्ष नगर निवासी हिन्दू मुसलमान दोनों पण्डितजी की सेवा में पहुँचे। पण्डितजी उन्हें टालते थे और वे उन्हें लाने का यत्न करते थे। अन्त को जनसमुदाय की विजय हुई और पण्डित जी समेत वे शहर के मध्य से होते हुए चल दिए। हमारे यहाँ उस समय १५० से अधिक जनसंख्या थी। पण्डित जी के साथ डेढ़ दो सहस्र पुरुष आये। अन्दर, बाहर,

छतें सड़क तक आदमी थे। २०मिनट तक तो स्वमत स्थापन में गया और पण्डित जी सुनते रहे। किन्तु जब उनके सिद्धान्तों का पुराणों के ही प्रमाणों से खण्डन आरम्भ हुआ तो "राधाकृष्ण की जय" बोलकर पण्डित जी उठ खड़े हुए। उनके साथ केवल दो-अढ़ाई सौ पुरुष उठे। शेष सभी जमे रहे। व्याख्यान डेढ़ घण्टे तक होता रहा। १०, ११ सभासद बढ़े और इस नाटक की दूसरी बार जवनिका गिरी।

पिताजी की शिक्षाप्रद मृत्यु

पिताजी दिनों दिन निर्बल होते जाते थे। डॉक्टरों के इलाज से भी जब कुछ लाभ न हुआ तो एक बड़े प्रसिद्ध यूनानी हकीम को लाया गया। उसने मेरे पास १५० की लागत का नुस्खा भेजा। हकीम जी के इलाज से एक दो दिन कुछ चमत्कार सा दिखाई दिया, पर पीछे उनकी दशा शोचनीय हो गई। मैं तलवन पहुँचा और आते ही लेटे हुए पिताजी को प्रणाम किया। मुझे देखते ही उन्होंने हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद दिया। मैंने देखा कि मेरे सबसे बड़े भाई गिलास में कुछ पीने की वस्तु लिए खड़े हैं। पिताजी ने कहा-"यदि मुंशीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं तो मैं पी लूँगा, वह मेरे भले के लिए भी झूठ नहीं बोलेगा।" मैं आश्चर्यचकित हुआ और अलग ले जाकर भाई साहेबान से असल बात पूछी। उन्होंने बतलाया की हकीम जी ने चूजे (मूर्गी के बच्चे) का शोरबा अपनी दवाई का अनुपान बतलाया है। भाई साहेब ने वही बनवाया और पिताजी को बिना बतलाये, चने का पानी कहकर पीने को दिया। उन्होंने एक घूंट लेते ही फेंक दिया और उसके पश्चात् चने का रस आदि ले जाने पर भी १८ घंटों तक कुछ भोज्य पदार्थ ग्रहण नहीं किया। मैंने उसी समय परीक्षा करके निश्चय किया कि वास्तव में उसमें मांस का कुछ भी अंश नहीं है और गिलास पिताजी के सामने पेश किया। उन्होंने केवल दो शब्द कहे-"पी लूँ?" मैंने उत्तर दिया-"पी लीजिए।" इस पर उन्होंने उसे पी लिया। मैंने देख लिया कि पिताजी का अन्तिम समय ही है। हकीम जी की भी बुद्धि कुछ काम नहीं करती थी। फिल्लौर का डॉक्टर बड़ा योग्य सुना गया था। उसे भी बुलाया। रात किसी प्रकार से काटी। प्रातः नये डॉक्टर ने भी कुछ यत्न आरम्भ किया। हिचकी बड़ी जोर की थी, उसे बन्द करना कठिन हो गया। दोपहर के बाद उन्होंने मुझे पास बिठाकर उपनिषदों का पाठ करने के लिए कहा, मैंने ईशोपनिषद् को समाप्त करके कठ का पाठ आरम्भ किया। पिताजी ने इशारे से कान अपने मुँह के

पास ले जाने को कहा। हिचकी बोलने नहीं देती थी। शब्द कठिनाई से निकले किन्तु थे स्पष्ट–"वैदिक हवन कराओ।' मेरा मुन्शी साथ आया था। तेज घोड़ी पर उसे भेजा कि जालन्धर से समाग्री लेकर दूसरे दिन तक पहुँच जाए।

मध्यान्होत्तर कुछ शान्ति रही, फिर चित्त अधिक बिगड़ने लगा। कुछ काल के पश्चात् थोड़ा सम्भले। सारे परिवार को इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया। मेरे कुछ भाई सांसारिक बातें करने लगे, सबको हटवा दिया और फिर आँखें बन्द कर लीं। रात को खाना–पीना त्याग दिया। पण्डित काशीराम आकर बैठे, कहा–"भजन बोलो।" वह कृष्ण भक्ति के कुछ पद बोलने लगे। कहा–' जो आप न छूटा वह दूसरों को कैसे छुड़ायेगा।' मुन्शी जी! कोई निर्वाण पद बोलो। मुन्शी जी ने एक सूरदास का निर्वाण पद कहा। मैंने उसके पश्चात् कबीर का एक भजन कहा, मैं तो अब अच्छा हूँ तुम सो जाओ। मैं बैठा रहा तब मुझे निश्चय दिलाने के लिए आँखें बन्द कर ली। मैं कुछ काल के पश्चात् लेट गया, किन्तु नींद न आई। फिर पिताजी का श्वास शीघ्रगामी हुआ। उठकर मैं पैर दबाने लगा। फिर मैंने उनका सिर मला। उन्हें नींद आ गई। दो घण्टे तक मैं हल्के हाथों से सिर दबाता रहा और वे बराबर सोते रहे। दूसरे दिन कुछ अच्छे दिखाई दिए। मुन्शी साम्रगी लेकर न आया और पिताजी ने तीन बार पूछा–"वैदिक हवन कब होगा? शीघ्र होना चाहिये।" शाम से फिर अवस्था बिगड़ने लगी। आठ बजे मेरे हाथ में नाड़ी थी और वेदमन्त्रों का मैं पाठ कर रहा था। मेरे बड़े चाचा ने गीता का पाठ आरम्भ किया। ९ बजे पिताजी ने प्राण त्याग दिये और नाड़ी बन्द हो गई।

उसी समय स्त्रियों का रोना पीटना आरम्भ हो गया, कुछ काल मैं चुप रहा किन्तु फिर इस शोर को हटाकर सारा परिवार कोई तीन सौ नगर निवासियों सहित मृतक शरीर के पास रतजगा करता रहा। मेरी विचित्र दशा थी। पिजाती के देहान्त से मानो माता–पिता दोनों से वियोग हो गया। न रोना आता था और न आसपास वालों की बातें समझ में आती थीं। प्रातः फिर भाइयों और बिरादरी में काना फूसी शुरू हुई। मुझे ख्याल हुआ कि शायद मुझे पौराणिक अन्त्येष्टि संस्कार के लिए तंग करें, किन्तु जब आपस की बड़ी हलचल देखकर भी मैं न हिला तो किसी का हौसला मुझे कुछ भी कहने का न पड़ा। बड़े भाई ने पौराणिक रीति से अर्थी के साथ–साथ कार्यवाही शुरू

की और घृत चन्दनादि के लिए आज्ञा दी। पिताजी के नौकर ने बहुतसा केसर निकालकर दिया। अब बिना बोले निर्विकल्प समझौता हो गया कि श्मशान में पहुँचने तक मृतक शरीर के साथ किसी का वास्ता न रहेगा। श्मशान में पहुँचने पर मेरी आज्ञानुसार वेदी बनी और चन्दन की लकड़ी लगाई थी। मंत्रपाठ करनेवाले मैं और मुन्शी काशीराम तथा आहुति डालनेवाले केवल कुछ मेरे विचार के लोग ही नहीं, प्रत्युत मेरे ज्येष्ठभ्रातादि भी थे। उसी समय सामग्री लेकर मेरा आर्यसमाजी मुन्शी पहुँचा। कुछ समाग्री वहाँ खोली गई और शेष से उस स्थान पर जहाँ पिताजी का देहान्त हुआ था, सायंकाल को हवन हुआ।

जब मृतक शरीर को जलाने की तैयारी हुई तब अर्थी के ऊपर के कारचोबी के दुशाले पर महा ब्राह्मणों में झगड़ा हो गया। एक कहता था कि केवल मेरा ही अधिकार है। किन्तु दो और उससे भाग माँगते थे। जबकि हमारा सारा परिवार शोकसागर में डूबा हुआ था। उस समय इन देवताओं का बाजारियों की तरह श्मशान में झगड़ना मुझे अनुचित प्रतीत हुआ और मैंने मृतक शरीर को कारचोबी के दुशाले सहित चिता में रखकर भस्म करा दिया।

दूसरी घटना बड़ी ही हृदयबेधक थी। पिताजी के देहान्त के समय मेरी सन्तान अर्थात् पुत्री वेदकुमारी थी। उस समय ५ वर्ष की होगी। पिताजी को उसके साथ बड़ा प्रेम था। भोजन के समय उन्हीं के साथ खाती थी। जब प्रातः अर्थी को ले चले तो उसने पूछा–"लालाजी कहाँ हैं?" उस समय माता ने बिलख कर कहा–"लालाजी मर गये।" बेचारी कन्या ने न किसी को मरते देखा था, न उसको ऐसी घटना का ज्ञान था। सबको शान्ति से कहती फिरी–"लालाजी मर गये।" पिताजी को सब लालाजी कहकर पुकारते थे, इसलिए पुत्री वेदकुमारी भी ऐसा ही कहती थी। श्मशान से जब लौटकर आये तो पिताजी की बैठक को अन्दर से बन्द करके मैं सोने की चेष्टा करने लगा। उस समय वेदकुमारी नित्य आकर पिताजी से फल मिठाई आदि खाने को लिया करती थी। और वह उसकी बाल क्रीड़ा को देखकर प्रसन्न होते और उसे प्यार किया करते थे। नियमानुसार बालिका आ खड़ी हुई। किवाड़ बन्द देखकर धक्का दिया। फिर पुकारा–"लालाजी खोलो।" जब किसी ने न सुना तो किवाड़ों को पकड़कर चीखने लगी। लालाजी! कुण्डा खोलो, हाये खोलते नहीं। रोने का शब्द

सुनकर मैं उठ खड़ा हुआ। किवाड़ खोला तो बालिका अन्दर को गिर पड़ी। उठकर पलंग से लिपट गई तब उसको पता लगा कि मरना किसे कहते हैं और आपसे आप समझ गई कि "लालाजी के शरीर को जला आये हैं। बालिका पलंग के पावे के साथ लिपटी हुई विलाप करने लगी और मैंने भी आठ-आठ आँसू रोना शुरू कर दिया। स्त्री-पुरुष का एक समूह एकत्र हो गया और धाड़े मार-मार कर सब रोने लगे। यदि उस समय पुत्री न रुला देती तो शायद मैं पत्थर सा बना रहता और शायद किसी बड़े रोग से ग्रस्त भी हो जाता।"

ज्येष्ठ भ्राता जी ने गरूड़ पुराण की कथा रखाई। मैंने उसी समय जुदा उपनिषदों का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। सब संबंधी वगैरह आये थे और रात को इकट्ठे डेढ़ सौ पुरुष भूमि पर शैया करके सोते थे। इस अवसर पर कइयों ने दस दिनों के अन्दर मेरा विरोध करने का प्रयत्न किया। परन्तु आगे बढ़ने का हौसला किसी का न हुआ।

पिताजी का देहान्त १२ आषाढ़ (२६) को हुआ था। एक महीना मैंने ख़ुर्जा, बरेली, और बनारस की कोठियों से पिताजी का जमा किया हुआ रुपया वसूल करने में बिताया। बरेली और बनारस में पुराने मित्र भी मिले, परन्तु मेरा उनके रहन-सहन से बहुत भेद हो चुका था। फिर भी सबने मेरे साथ पुराना ही प्रेम का व्यवहार किया। भाद्रपद (अगस्त) मास में नगद रुपया भी बाँट दिया। मेरे तीनों भाइयों ने अधिक नगदी ली और मुझे पूरा दाम लगाकर बग्घियाँ और घोड़े दिये गये जिनके कारण मेरा मासिक व्यय पहले से बहुत बढ़ गया। सारी समाग्री को तलवन में छोड़कर मैं जालंधर पहुँच गया।

जालन्धर में मैंने सूदों की चौक वाली बैठक छोड़ दी थी। मेरा परिवार अपने पितृगृह में निवास करता था, मैं भी वहीं जाकर टिका, क्योंकि वकालत की परीक्षा के लिए फिर लाहौर जाना था। और मुखतारी का काम पिताजी के देहान्त पर जालन्धर से अनिश्चित अनुपस्थिति के कारण बन्द हो चुका था। मैं शायद उसी समय लाहौर चला जाता किन्तु दशहरे के मेले की मंड़ी पर तीन में से दो जानवर "एक घोड़ा और एक घोड़ी" बेच देने का विचार था। इसलिए भी दशहरे के मेले तक ठहरना पड़ा। घोड़े के बांकापन और शान देखकर म्यूनिसिपैलिटी की ओर से इनाम तो मिल गया, किन्तु

सौदा एक जानवर का भी न हुआ, इसलिए सब जानवरों के पालन का बोझ सिर पर रख मैं लाहौर को चल दिया।

मेलों में वैदिक धर्म-प्रचार

यह शायद पहली बार था कि जालन्धर में दूसरे मेले पर ईसाइयों के साथ साथ आर्य जाति की किसी संस्था की ओर से धर्मप्रचार का प्रबन्ध किया गया था। उस समय महाशय भक्तराम बी.ए. मिशन स्कूल के हैडमास्टर जालन्धर आर्यसमाज के उपप्रधान थे। रामलीला का मेला उस सूखे तालाब पर लगा करता था जिसे अब गाँधी मण्डप कहते हैं। उसी तालाब के ऊपर बड़े प्रसिद्ध स्थान पर आर्यसमाज की ओर से खेमा लग रहा था। ईसाई मिशन के मुकाबले में उन्हीं के स्कूल हैडमास्टर का अपने हाथों 'ओम' का झण्डा गाड़ना तथा खेमे के खूटे ठोकना बड़ा ही विचित्र दृश्य था। आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ, मैं भी बोलता था किन्तु श्री देवराज जी के व्याख्यान सर्वसाधारण पर असर डालते थे। बड़ी बात यह थी कि जालन्धर प्रान्त के सबसे बड़े जमींदार और साहूकार के पुत्र को सादा जीवन व्यतीत करते हुए, धर्म की सेवा में निमग्न देखकर पत्थर दिल भी पसीजकर उस ओर झुकते थे। ईसाइयों का प्रचार उस वर्ष बिल्कुल फीका पड़ गया। अब ईसाई प्रचारक के पास दो तीन आदमी मुश्किल से रह जाते तो वह स्वयं हमारे कैम्प में आ जाते। जालन्धर आर्यसमाज के प्रचारों में एक विशेषता आरम्भ से ही रहती थी। उसके काम से किसी भी अन्य मतावलम्बी व्यक्ति को असभ्य व्यवहार की शिकायत का अवसर नहीं मिला। जालन्धर आर्यसमाज के उस समय के पदाधिकारियों को यह अभिमान था कि वे असभ्य विरोधियों को भी सभ्य बनाने में कृतकार्य होते हैं।

दशहरे के पश्चात् हम सबने पारिवारिक उपासना का प्रचार प्राम्भ किया। प्रत्येक सप्ताह, शायद मंगलवार को सब भाई किसी सभासद के घर इकट्ठे होते। मुहल्ले वाले स्त्री पुरुष भी आ बैठते। भजन कीर्तन के पश्चात् ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और तत्पश्चात् कभी-कभी धर्मोपदेश भी होता था। इस प्रथा के चलाने का सारा यश भी देवराज जी को ही मिलना चाहिए। यही क्यों? और भी हृदय पर अधिक प्रभाव डालने वाले कार्यों का आरम्भ श्री देवराज जी के ही अनुकूल हृदय से हुआ करता था।

एक विस्मृत धर्मोपदेशक

लाहौर आर्यसमाज में संवत् १९४३ से "आटा फण्ड" बड़े जोर-शोर से चला था। लाहौर से ही अन्य आर्यसमाजों ने भी " आटा फंड" चलाने की शिक्षा ली थी। धर्मकार्यों के लिए इस प्रकार आर्थिक सहायता एकत्र करने की प्रथा यहाँ तक चली कि अब तक आर्य प्रतिनिधि सभा ने गिरते-पड़ते बजट से "आटा फंड" को नहीं काटा। यह 'आटा फंड' कैसे चला! संवत् १९४२ की गर्मियों में जब लाहौर आर्य मंदिर की ड्यौढ़ी के ऊपरवाले मकान में साप्ताहिक अधिवेशन हो रहा था, एक साधारण लम्बा दुबला साधु आया और घुटने टेककर बैठ गया। सत्यार्थप्रकाश की कथा समाप्त होते ही उसने एक मर्मस्पर्शी वक्तृता दी और यह प्रस्ताव किया कि प्रत्येक आदित्यवार को आर्यसमाजिक सभासद् चुटकी-चुटकी आटा घर-घर से भिक्षा करके लावें और समाज का काम चलावें। इसका प्रचार इतना हुआ के दयानन्द कॉलिज की आमदनी का यह एक सन्तोषजनक भाग बना। बहुत से घरों में धर्म-घट रख दिए गये, गृहपत्नियाँ प्रातः काल आटा गूंधने से पहले एक मुट्ठी आर्यसमाज के निमित्त निकालकर धर्म-घट में डालती रहीं।

यह साधु जिसने प्रभाव डाला, कौन था। जब साधु बोल चुका तो आरती होने पर वह बड़े प्रेम से मिला। लाहौर आर्यसमाज के प्रधान श्री साईंदास जी ने मुझ से साधु जी का नाम पूछा। मैंने बताया कि इसका नाम "रमता राम" है और यह कुछ काल से जालन्धर में श्रीमान् सरदार विक्रमसिंह सी.एस.आई. के यहाँ ठहरे हुए हैं आर्यसमाज से बड़ा प्रेम रखते हैं और श्री देवराज जी के और मेरे साथ इनका गहरा धार्मिक संबंध है। रमताराम जी कुछ काल लाहौर में रहे, फिर वहाँ से जाने कहाँ चले गये। एक बार उनकी उड़ती सी खबर एक स्थान से आई थी फिर कुछ पता न लगा। रमताराम जी का देवनागरी तथा अंग्रेजी अक्षरों का लेख अत्युत्तम था। स्वामी योगेन्द्रपाल की तरह वह वेदमन्त्रादि लिखते रहते थे। जालन्धर में उन्होंने कभी सर्वसाधारण के सामने वक्तृता नहीं दी। लाहौर को उन्होंने हिला दिया था। उनके अन्दर धर्म के लिए बड़ी श्रद्धा थी और उनका हृदय जोश की अग्नि से प्रज्वलित रहता था। रमताराम जी धूमकेतु की तरह आये और वैसे ही चले गए। न जाने कितने धूमकेतु आये और चले गए जिनको आर्यसमाज में न किसी ने देखा और न पहचाना। परमात्मा करे कि ऐसे चमत्कारों से भी शिक्षा लेने का पाठ आर्य भाई पढ़ें और अपनी

संशोधक शक्ति को बढ़ायें।

धर्म-घट का निर्माता कौन था

यह ठीक है कि धर्म-घट रखवाने का प्रचार लाहौर में पहले स्वामी रमताराम जी ने कराया किन्तु उक्त स्वामी जी इस विचित्र विचार के निर्माता न थे। यह ख्याल पहले श्री देवराज जी के काल्पनिक मस्तिष्क से निकला था। उन्होंने जालन्धर आर्यसमाज के मन्त्रित्व के अधिकार से अपनी अन्तरंग सभा में सबसे पहले यह प्रस्ताव पास कराया कि सब सभासदों के मकानों में एक-एक घड़ा रखा जाए जिसमें प्रातः एक मुट्ठी आटा आर्यसमाज के कामों के लिए डाला जाय। इसका नाम देवराज जी ने ही अपनी विचित्र भाषा में "चाटी सिस्टम" रखा क्योंकि आटा रखने के बड़े मुँह वाले घड़े को जालन्धर में 'चाटी' कहते हैं। देवराज जी की कल्पना शक्ति की यहीं तक समाप्ति न थी। उन्होंने चाटी सिस्टम के साथ 'रद्दी फंड' भी खोल दिया। इसका मतलब यह था कि सभासदों के घरों में महीने के अन्दर जितनी रद्दी इकट्ठी हो, वह सब आर्यसमाज का चपरासी उठाकर ले जावे और उसे बेचकर एक धन जमा कर लिया जाय। जहाँ तक मुझे याद है कि इसी "रद्दी फंड" की आमदनी से जालन्धर आर्यसमाज के पुस्तकालय के लिए पुस्तकें तथा समाचार पत्र मँगाए जाते थे

जालन्धर आर्यसमाज में उस समय बड़े बल तथा उत्साह से कार्यारम्भ हो गया था। जहाँ मंगलवार को गृह उपासना हुआ करती थी वहाँ प्रत्येक बुधवार को सायंकाल एक वाग्वर्धिनी सभा भी हुआ करती थी। इस सभा में केवल युवक ही नहीं बोला करते थे, प्रत्युत अधेड़ से लेकर बूढ़े तक व्याख्यान दिया करते थे

विजय दशमी से एक सप्ताह पश्चात् मैं लाहौर चला गया। वकालत की परीक्षा फिर देनी थी। क्योंकि यह मेरे लिए अन्तिम अवसर था। इसके पश्चात् बिना बी.ए. पास किए कोई भी वकालत की परीक्षा नहीं दे सकता था। मैंने अपने गत वर्ष के ही कुछ साथियों के पास डेरा किया। जिस बड़े द्वार के अन्दर से अनारकली का बड़ा आर्यसमाज मन्दिर दिखाई देता है उसके बाईं ओर मकान में मैं अन्य विद्यार्थियों के पास ठहरा। इस मकान के ऊपर की छतों पर उन दिनों, वर्त्तमान देवसमाज के प्रवर्त्तक पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री अपने परिवार सहित रहते थे। उस समय तक उनका संबंध ब्राह्मसमाज के साथ ही था किन्तु उन्होंने उसी वर्ष की ग्रीष्म ऋतु में

(मेरी लाहौर में अनुपस्थिति में) लोगों को ब्राह्म मन्दिर में ही इकट्ठा करके लाहौर गवर्नमेन्ट स्कूल की ड्राइंग मास्टरी छोड़कर स्वर्गवासी बाबू नवीनचन्द्र राय से संन्यास धारण किया था और अपना नाम शिवनारायण के स्थान में 'सत्यानन्द' रख लिया था। हाँ, संन्यास लेने के पहले और पीछे भी यह अग्निहोत्र की छाया तक से डरते हुए अग्निहोत्री ही बने रहे।

पाठकों के हृदय में स्वभावत: यह प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि जब संन्यास ही ले चुके तो परिवार कैसा? किन्तु उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह संन्यासी भी अनोखा ही था। अग्निहोत्री जी की पहली धर्मपत्नी जब मरी थी उस समय शायद उनके दो या तीन पुत्र थे। उनके पश्चात् आपने एक बंगाली विधवा से विवाह किया। थोड़े ही काल बाद उनका भी देहान्त हो गया, तब १५० रुपए मासिक की नौकरी छोड़कर विज्ञापन दे एक बड़ा जबर्दस्त व्याख्यान दिया और भगवे कपड़े धारण कर लिए, किन्तु बच्चों के साथ वैसा ही संबंध जोड़े रहे। इसलिए मैंने इसे अनोखा संन्यास लिखा है।

उन दिनों अग्निहोत्री जी थे तो ब्रह्मसमाज के ही मिनिस्टर किन्तु ब्रह्मसमाज के अलग होने की तैयारियाँ कर रहे थे। इसका पहला चिन्ह इनका स्वतंत्र चेले मूंडना था। जिन दिनों का हाल मैं लिख रहा हूँ उन दिनों अग्रिहोत्री जी ने सबसे पहले दो चेले मूंडे थे। एक का नाम झण्डासिंह और दूसरे का चुन्नीलाल था। झण्डासिंह तो पहले अमरसिंह हुए और फिर देवसमाज की बुनियाद पड़ते ही अमरदेव हो गये। ज्येष्ठ चेला होने के कारण गद्दी के अधिकारी वही थे। किन्तु सुना गया है कि अग्निहोत्री के पुत्र हरनारायण ने वर्षों की उदासीनता के पश्चात् पिता का चेला बनकर गद्दी से उन्हें वंचित कर दिया है। दूसरे चुन्नीलाल का नाम रखा गया था ब्रह्मदास, वह ब्रह्मदास से ईसादास बन चिरकाल से अपना स्थान रिक्त करके चले गये हैं।

उन दोनों चेलों को अनुताप का खूब पाठ पढ़ाया जाता था। प्रात:काल उठकर अग्निहोत्री जी तो सैर को चले जाते और इन दोनों को रोने चिल्लाने के लिए हमारे गले मढ़ जाते। प्रात:काल स्नान करके जब संन्ध्या करने बैठता तो ऊपर से शब्द आते "मैं पापी हूँ। हाय मर गया। गुरु जी, शरण में लो हाय! हाय!!" "धड़म" गिरने का शब्द आता और हम में से एक ऊपर को दौड़ पड़ता किन्तु किवाड़ बन्द पाता, करता

तो क्या। एक दिन दोनों नए चेलों के अनुताप का विचित्र दृश्य देख मैं तीन-चार मित्रों सहित इरावती (रावी) नदी के परले पार जहांगीर का मकबरा देखने गया। मकबरा देखकर हम सब शाहदरा ग्राम में चले गये। आगे बाजार में तिमुहानी पर लोगों का जमघट दिखाई दिया। समीप जाकर देखा तो दो मनुष्य भूमि पर लोट-पोट रहे है। मैंने समझा कि कोई दंगा हो रहा है, किन्तु लोगों को हँसते, ठट्ठा करते देखकर कुछ अधिक सावधानता से दृष्टि डाली तो पता लगा के हमारे पड़ोसी झण्डासिंह और चुन्नीलाल ने माया रच रखी है। एक व्याकुल होकर दूसरे के पैर पकड़कर चिल्लाता है "भाई जी! मैं बड़ा पापी।" मैं ऐसा नहीं समझता कि वे जानबूझकर कोई ढोंग रच रहे होंगे। उन्हें बतलाया गया था कि इस प्रकार गलियों में पाप को प्रख्यात करके प्रायश्चित्त से वे निष्पाप हो जायेंगे।

इन्हीं दिनों उद्धवराम कबाड़िये की भतीजी कुमारी देवकी जी संन्यासी सत्यानन्द जी के यहाँ उनसे पढ़ने आती थी और बहुधा भोजन बनाने का भी काम करती और वहीं रह भी जाती थी। ऐसे दिनों में गरीब झण्डासिंह और चुन्नीलाल तो चार बजे ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर गलियों में अनुताप का राग अलापने के लिए चले जाते और अग्निहोत्री जी परिवार सहित छः सात बजे तक निद्रा का आनन्द लेते रहते थे। एक दिन अग्निहोत्री जी गुजरांवाले गये हुए थे, मैंने उनके हरनारायण से छोटे लड़के की विचित्र शोचनीय अवस्था देखी। मैं सीढ़ी के पास वाले कमरे में दोपहर को पढ़ रहा था कि ऊपर का दरवाजा जोर से बंद हो गया। कान्तिनारायण ने उसको खड़खड़ाना और ऊपरवालों को गन्दी गलियाँ देना आरम्भ किया। जब वहाँ कुछ पेश न गई तो सड़क पर खड़ा होकर ईंट फेंकने लगा। जब बाहर के द्वार भी बन्द हो गये तो झपटकर ऊपर को चला। मेरा उन दिनों अग्निहोत्री जी से मिलने का सम्बन्ध था। मैंने सीढ़ी में जाकर बच्चे को दिलासा देकर चुप कराना चाहा था, किन्तु यह बालक क्या था आफत था। मुझ से छूटकर ऐसी गालियाँ देने लगा के मुझे कान बन्दकर लौटना पड़ा। तब दूसरी ओर से मैंने झण्डासिंह को कहा कि आप हम सब पर दया करें और अपने गुरुपुत्र को अन्दर लेकर स्वयं अमृतमयी वाणी का पान करें। उन्होंने कृपाकर किवाड़ खोल कान्ति को अन्दर कर लिया। इन्हीं दिनों अग्निहोत्री जी ने 'जात-पात और खौफनाक बुराइयां' शीर्षक से एक व्याख्यान दिया था, जिसे मैंने बहुत पसन्द

किया था, किन्तु उसी समय वक्ताओं के गुप्त रहस्य भी मुझे ज्ञात हुए जिनका अनुकरण मैं कभी नहीं कर सकता। तो व्याख्यान अग्निहोत्री जी ने दिया, उसका बहुतसा भाग उन्होंने मेरे सामने 'धर्म-जीवन' अखबार के लिए लिखाया था। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि वक्ता सारी वक्तृता पहले लिख देते हैं और कण्ठस्थ करने का भी प्रयत्न करते हैं किन्तु यदि कुछ और का और बोल जाय तो भी छपता वही है जो उन्होंने विचार लिखा हो। कुछ भी हो, मैं उस समय तक अग्निहोत्री को एक देशभक्त आदमी समझता था।

किन्तु उनके तीसरे विवाह से उनके प्रति जो सम्मान का भाव था वह मेरे दिल से जाता रहा। जिस रात संन्यासी स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री ने तीसरी बार गृहस्थी में प्रवेश करने की तैयारी की और अपने संन्यास के गुरु बाबू नवीनचन्द्र राय के घर पर ही कुमारी देवकी जी के साथ विवाह पढ़वा रहे थे, उसी रात, उसी समय पण्डित लक्ष्मणप्रसाद ब्राह्मसमाज में उसकी इस करतूत के विरुद्ध बलपूर्वक व्याख्यान दे रहे थे। उस व्याख्यान में मैं नहीं गया था और इसलिए मैंने एक दूसरा दृश्य देखा। रात के शायद ११ बजे थे, मैं परीक्षा की तैयारी में निमग्न था कि बाहर अग्निहोत्री के द्वार पर बहुत से पैरों की आहट सुनाई दी। बाहर देखा तो अग्निहोत्री रेशमी भगवी पोशाक धारण किये श्रीमती देवकी जी को दुल्हन की पोशाक पहनाए साथ लेकर ऊपर चढ़ रहे हैं और उनके सुपुत्र हरनारायण जी लालटेन ऊँची किए और एक हाथ पतलून की जेब में डाल कर रहे हैं-'आई ऐम ग्लेड टू सी इट, ह्वाट इज इट?' (मैं इसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। यह क्या है?) तब ऊँचे स्वर में पढ़ने लगे सत्यानाशी हाय! हाय!! चेली ब्याही इतना पढ़कर हरनारायण रुक गये और अग्निहोत्री ऊपर आए। एक विज्ञापन कोई लगा गया था। अग्निहोत्री जी ने दृष्टि डाली और अपने बनावटी गम्भीर स्वर में कहा-'इसे उतार लाओ। हमारी जिन्दगी में यह भी यादगार रहेगी।'

दूसरे दिन से ही धूम मच गई। जिस दरवाजे पर जाओ, दोनों और यही पोस्टर लगा हुआ है। प्रत्येक बाजार गली कूंचे में वही इतिहास-'सत्यानाशी हाय! हाय!! कहाँ वह चाली, हाय! हाय!! कहाँ यह सोलह हाय! हाय!! चेली ब्याही हाय! हाय!! कच्चा योगी, हाय! हाय!! पक्का भोगी, हाय! हाय!! इत्यादि' मैंने इस विज्ञापन को

बहुत बुरा समझा और इसलिए मुझे यह सुनकर बड़ा कष्ट हुआ कि लोग इस विज्ञापन का मुद्रण कुछ आर्यसमाजियों की ओर से समझ रहे हैं। मुझे यह विश्वास नहीं होता था कि इस कर्म के लिए अग्निहोत्री जी के साथ मतभेद रखते हुए आर्यसामाजिक पुरुष असभ्यता के भागी बनेंगे। मैंने यह दोष आर्यसमाज के गले मढ़ना जनापवादमात्र ही समझा और श्री लाला साईंदास जी के पास पहुँचकर उनसे प्रार्थना की कि इस अपवाद का खण्डन करें। लाला साईंदास ने उत्तर दिया कि जब राय मूलराज एम.ए. ने अपनी धर्मपत्नी के देहान्त के पश्चात् दूसरा विवाह किया था तो अग्निहोत्री जी ने अपने पाक्षिक समाचार, 'बिरादर-ए-हिन्द' में उनके विवाह का सियापा छापा था, जिसकी टेक थी, एम.ए., बी. ए. हाय! हाय!!' लाला जी ने कहा कि राय मूलराज का केवल इतना ही दोष था कि उन्होंने ग्यारह वर्ष की कुमारी से इसलिए शीघ्र विवाह कर लिया कि उसे सुशिक्षित बना सकें। यदि राय मूलराज के मित्रों में से किसी ने बदला लेने के लिए अग्निहोत्री का सियापा मुद्रित करा दिया तो हम क्या कर सकते हैं? लाला जी के इस कथन से मेरी तसल्ली तो न हुई, किन्तु मैं चुप होकर लौट आया।

मैं समझता हूँ कि यह पहिला अवसर था जब कि अग्रिहोत्री जी के अन्दर आर्यसमाज के प्रति द्वेषाग्नि अधिक भड़क उठी। यह सच है स्वामी दयानन्द जी से दो बार (एक बार सामवेद में कहानियों का दावा करके निकाल सकने पर और दूसरी बार भाई दित्तासिंह का प्रश्न समझकर श्री स्वामी जी को ताना देने पर) झाड़ें खाने के कारण पण्डित शिवनारायण के मन में आर्यसमाज कांटा सा खटक रहा था, और यह भी ठीक है कि गेरवे वस्त्र पहनकर ऋषि दयानन्द के बन्धेज का पटका बाँध श्री स्वामी सत्यानन्द के अन्दर अभिमान और दुराग्रह की मात्रा बढ़ चुकी थी, किन्तु अनुमान यह होता है कि अन्य धर्मसमाजों की अपेक्षा आर्यसमाज से अधिक शत्रुता की प्रेरक यही घटना हुई और शायद इसी घटना का परिणाम था कि स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्री ने ब्राह्मसमाज मन्दिर में यह विष से भरा हुआ व्याख्यान और जिसने सब गुप्तचरों के लश्कर से बढ़कर आर्यसमाज को हानि पहुँचायी। उस व्याख्यान का शीर्षक था-'स्वामी दयानन्द और नया पंथ।' अग्निहोत्री ने इस व्याख्यान की हजारों कापियाँ उर्दू, अंग्रेजी और आर्यभाषा में छपवाकर बाँटी।

एक समय आया था जब परम गुरु को जबाव देकर केवल देवगुरु की पूजा ही शेष रह गई थी, उस समय अग्निहोत्री जी ने आर्यसमाज से विरुद्ध मुद्रित किए सारे साहित्य को जला देने की घोषणा की थी, किन्तु इस मनुष्य पूजाभंजक समाज पर फिर भी अग्निहोत्री की क्रूर दृष्टि बनी ही रही और भारतवर्ष में आये संवत् १९६४ (सन् १९०९) के भौंचाल में अग्निहोत्री जी के चेलों से बढ़कर और किसी गुप्तचर ने काम भी नहीं किया।

जालन्धर आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव

अमृतसर और लाहौर के आर्यसमाजों के उत्सवों में सम्मिलित होने के बाद मैंने वकालत की परीक्षा दूसरी बार दी। परीक्षा से निवृत्त होते ही मैं जालन्धर पहुँचा और स्थानीय आर्यसमाज के पहले वार्षिकोत्सव की तैयारी में लगा। मुरलीमल वाली धर्मसभा से हम उठकर कपूरथला के वकीलखाने के सामने उस मकान में आ गये थे जिसकी बुनियाद पर इस समय अमर सिंह का मकान खड़ा है। इस नये मकान का आँगन बहुत बड़ा था। इस आँगन में शामियाने खड़े करके सजावट की गई थी। इसी उत्सव के समय जालन्धर की पौराणिक धर्मसभा का जन्म हुआ। आर्यसमाज ने दो वर्षों की लगातार कोशिश के पीछे अपने पहिले वार्षिकोत्सव से १५ वा २० दिन पहिले ही धर्मसभा स्थापित करके उन्हीं तिथियों पर वार्षिकोत्सव मनाने का विज्ञापन दे दिया। एक ठठोल ने उस समय कहा था कि धर्मसभावालों के वर्ष जहाँ विस्तृत होते हैं वहाँ संकुचित भी हो सकते हैं। १५ वा २० दिनों का वर्ष तो शायद उत्तरी दक्षिणी ध्रुव में भी नहीं होता होगा।

इस पहिले उत्सव का नगर निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पौष १९४३ में जालन्धर आर्यसमाज का पहिला वार्षिकोत्सव हुआ, वह कई दृष्टियों से स्मरणीय है। प्रथम तो स्थानीय आर्यसमाज के सब अधिकारियों और प्रतिष्ठित सभासदों का स्वयं परमात्मा का गुणानुवाद गाते हुए बाजारों और गलियों में से गुजरना ही एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर रहा था, फिर पँजाब के कुछ श्रीमानों का बाहर से सम्मिलित होना, तिस पर भी नौकर चाकर रचानेवालों का धर्म की सेवा के लिए हाथ से मजदूरों की तरह काम करना विशेष प्रभाव डाल रहा था।

बाहर से आये हुए भाइयों का उतारा मेरे मकान पर किया गया था। मैंने

परिवार को तो अपने श्वसुरगृह भेज दिया और स्वयं मन्दिर में आसन जमाया। उत्सव नगर के दूसरे किनारे पर मनाया जा रहा था और मकान शहर के इस किनारे पर था। नित्य प्रातःकाल सारे नगरों से हरिकीर्तन करते हुए आर्यपुरुष आया करते थे, जिसका बहुत ही उत्तम प्रभाव पड़ता था। इस वर्ष के पश्चात् भी ८-९ वर्षों तक नगर के उसी ओर गवर्नमैंट हाई स्कूल के मकान में उतारा किया जाता रहा।

जालन्धर नगर में इस वार्षिकोत्सव ने आर्यसमाज की जड़ों को दृढ़ कर दिया। धर्मसभा के बहुत विरोध करने पर भी श्रोतागण की भीड़-भाड़ बहुत बढ़िया रही। सर्वसाधारण पर इसका भी प्रभाव पड़ा कि जहाँ आर्यसमाज की वेदी पर किसी के भी व्यक्तिगत् अनुचित कटाक्ष नहीं हुए वहाँ धर्मसभा की वेदी पर गालियों की बौछार होती रही, इसी वर्ष से अन्तरंग सभा नियमानुसार होने लगी और पारिवारिक उपासना में भी नगरवासियों का प्रेम बढ़ने लगा। वह समय जब आँखों के आगे आ जाता है तो मन की विचित्र दशा हो जाती है। सप्ताह में ३-४ दिन अवश्य ऐसे आते थे जब कि आर्य पुरुष ८-९ बजे रात को परमात्मा की स्तुति-प्रार्थनादि के भजन गाते हुए बाजारों में से निकलते थे। सायंकाल नित्य बहुधा आर्य पुरुष समाज मन्दिर में इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य कर्म करते और साथ ही कुछ ज्ञानचर्चा भी होती। वह ही समय था जब एक दूसरे की शंकाओं का समाधान होता और क्रियात्मक विचार होते थे जालन्धर में जो कुछ भी आगे हुआ, उसकी बुनियाद उन्हीं दिनों के शुद्ध विचारों पर रखी गई थी। वार्षिकोत्सव में चौमुहानी पर वह मकान किराये पर लिया जिसमें फिर वैस्टन हेडमास्टर टिके थे और क्रमशः गवर्नमेंट स्कूल भी रहा था।

इस मकान में मैं अनुमान से साढ़े तीन वर्षों तक रहा और इसीलिए इसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दे देना उपयोगी होगा। कोतवाली से जो सड़क जिला अदालतों की ओर जाती है उसके बांई ओर बस्ती की सड़क पर यह मकान है। सड़क की ओर एक छोटी दीवार से घिरा आँगन है, जिसमें ढाई तीन सौ आदमी बैठ सकें। फिर सरबसर बरामदा और उसके साथ लम्बा कमरा बैठक का, उसके साथ छोटा कमरा था जिसमें से अन्दर को दरवाजा था। अन्दर उतने ही मकानों के साथ छोटा आँगन और उसके दूसरी ओर रसोई तथा स्नानादि के गृह थे। इस मकान के साथ ही तबेला था जिसमें

मेरी दो बग्घियाँ ओर दो घोड़े बन्धे रहते थे।

कुछ नये नट, नाट्यशाला में

मेरे पुराने मुन्शी अमीर खां का देहान्त हो चुका था, मैंने उसके पुत्र का पालन करना चाहा और इसलिए उससे काम लेने लगा। किन्तु वह अभी बच्चा था, उसमें काम न चला, तब काशीराम को मुन्शी नियत किया। ये महाशय आर्यसमाजी बन चुके थे और काम में होशियार थे। इन दिनों बेकार भी बैठे थे, इसलिए इनको मुन्शी बनाने से एक पथ दो काज सिद्ध हुए।

इस वर्ष भी कुछ नवीन नटों का मेरे जीवन नाट्यशाला में प्रवेश हुआ। उनमें से पहले राजकुमार मियां जनमेजय उस समय के राजा सुकेत 'दुष्टनिकन्दन सेन' के सौतेले भाई थे। कांगड़ा के पहाड़ के राज परिवारों के सब सभासदों को मियां कहते हैं। यह उपाधि इन लोगों ने मुसलमानी राज के समय धारण की प्रतीत होती है। जब आजकल बम्बई-मद्रास-प्रान्त आदि के बड़े-बड़े पण्डित भी मिस्टर कहलाने में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं तो मुगलों के दास राजपूत यदि मियां बनकर उपजकी लेते थे तो उन्हें कौन अपराधी समझ सकता है? राजा दुष्ट- निकन्दन स्वयं बड़ा दुष्ट था। उसने अपने सगे चाचा मियां शिवासिंह को देश निकाला देकर उनका भंडार लूट लिया था। सहस्रों रुपये का धन इस लूट में उसके हाथ आया। अपने भाइयों को उनके गुजारे के अधिकार से वंचित करके राज से बाहर कर दिया। मियां शिवसिंह अपने छोटे भाई मियां ज्वालासिंह और भतीजे जनमेजय और उसके भाई सहित जालन्धर राय शालिग्राम के यहाँ आ रहे थे। मियां जनमेजय हम आर्यसमाजियों की संगति से आर्यसमाज के सभासद् बन गये और मेरे साथ उनका पठन-पाठन का विशेष प्रबन्ध हो गया।

इसी वर्ष ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द का मेरे साथ सम्बन्ध हुआ। यह महाशय बिहार प्रान्त के कायस्थ घराने में उत्पन्न हुए थे। २५ वर्ष की आयु में ही घर से उपरत होकर निकल आये और कुछ महीनों में निश्चलदास की पोथी हाथ में लिए घूमते-घूमते अमृतसर की दीवाली देखकर जालन्धर की गुफा पर आ उपस्थित हुये थे। उस गुफा में शंकरपुरी योगी महात्मा का निवास था। उन पर सर्वसाधारण की बड़ी श्रद्धा थी। उनके देहान्त के पश्चात् उनकी समाधि वहीं बनाई गई और साथ ही कुछ कूप और

कुछ मकान रहने के बन गये। गुफा को भी पक्का बना लिया। स्थान तो योगी का था किन्तु जिस समय का हाल मैं लिख रहा हूँ उस समय भोगी निवास करते थे। यह स्थान काचूकाटियों का गढ़ बना हुआ था। 'ऐनपुरी' जो सर्वभक्षी और मद्यप था, इस स्थान का अध्यक्ष बना हुआ था। मुझे पता लगा कि धूर्त दुराचारियों में एक सच्चा साधू आकर उतरा है। हम गये तो एक काले २५ वर्ष के युवा साधु को भगवा ओवरकोट पहिने गुफा में 'विचार सागर' पढ़ते पाया। एक घण्टे की ही बातचीत ने साधु जी को हमारी ओर आकर्षित कर दिया और वे आर्यसमाज मन्दिर में आकर रहने लगे।

इस स्थान में ही मैं गुफा वाले काचूकटिये साधुओं का विशेष परिचय अपने पाठकों को देना चाहता हूँ। ये लोग नास्तिक साधु वेशधारी बहुत कम हैं। ईश्वर, वेद-वेदान्त, द्वैताद्वैत किसी विचार में भी इनकी श्रद्धा नहीं देखी जाती थी। कपड़े ये स्वच्छ, श्वेत पहिनते और प्रायः हुक्का पीने वाले होते थे। एक काचूकटिये की दिनचर्या का वर्णन बड़ा ही मनोरंजक होगा। इसलिए अपने देखे अनुसार लिखे देता हूँ। भाई देवराज के घर में टिका हुआ था। जब एक दो काचूकटिये रात काटने उनके मकान पर आये। अतिथि समझकर उनका सत्कार किया गया और भोजन कराया गया। जब भोजन से निवृत्त हुए तो उन्हें खटिया की सूझी।

पहिले नवार का पलंग माँगा, वह खाली न होने पर जो खटिया दिखाई गई उन पर लेटकर पहिले उन्होंने अपने नाप खटिया चुन ली, फिर अपना स्वच्छ बिस्तर बिछाकर बैठ गये। बातचीत पर बोले, असी तेरा वेदान्त वेद सब गल्लकर।' रात के भोजन के पश्चात् अपने नाम की खटिया पर बैठकर हुक्का पी काचूकटिया सो जायेगा। प्रातः उठकर पहिला काम मिट्टी के हुक्के को खूब धोकर साफ करना, फिर चिलम तैयार करके हुक्का गुड़गुड़ाना। शौच से निवृत्त होने पर पहिले जूता साफ करना। काचूकटिया जूते से पहचाना जा सकता है। सप्ताह में दो बार जूते को तेल देना ये अपना धर्म समझते हैं। जूता साफ करके फिर कपड़ों की बारी। यदि साबुन पास नहीं तो बनिये की दुकन पर गये और हाँक लगाई। ओ लाला! दे इक टिक्की साबुन दी। तेरा साबुन गया साड्डे कपड़े दी मल गई। अर्थात् पुण्य की कोई बात नहीं, एक प्रकार का सौदा है। लाला जी की क्या मजाल कि साधु जी को मना करे, यहाँ तो भेष

को नमस्कार है गृहस्थी से अनोखा किसी प्रकार का भी कपड़ा क्यों न पहिने हो उसका ही श्राद्ध और तर्पण हिन्दू अपना कर्त्तव्य समझते हैं शायद इसलिए कैदियों को पुलिस के पंजे में आते हुए देखकर कई हिन्दू बुढ़िया उन्हें दूर से नमस्कार करती हैं। साबुन लगाकर काचूकटिया केवल कौपीन धारण करके सब कपड़ों को साबुन से धोकर सूखने डाल देता है और दूसरा दौर हुक्के का शुरू होता है। हुक्के के तीसरे दौर तक कपड़े सूख गये और ग्यारह पर चोट लगी तब काचूकटिये को स्थान की सूझती है। पैर हाथ मलने से आध घण्टा व्यतीत कर साधु जी तैयार हुए तो सौ बिस्वे भोजन लिए कोई श्रद्धालु 'भेष पूजन' बैठा नजर आयेगा। यदि कोई न हुआ तो जिस पहिले घर में हाँक लगाई कि 'चल माई तेरी रोटी गई साड्डी भूख गई, लेखा बराबर है।' वहाँ ही पाँच प्रकार भोजन मिलेंगे।

भोजन के पश्चात् हुक्का पीकर वृक्ष तले सो जाना। तीसरे पहर फिर उठकर हुक्के के दम और फरागत और फिर कपड़े डांटकर सैर। बस, यहाँ फिर नास्तिकपन की दलीलों से अवारा लड़कों को फाँसने का समय आता था। यही काचूकटिये के दफ्तर वा समाज वा सत्यसंग वा कर्त्तव्य पालन का समय समझ लो। इस समय किसी-किसी काचूकटिये के हाथ काला नाव सा खप्पर उसकी शान को दोवाला करना और किसी-किसी से सिर पर वहीं शोभायमान होकर, उसके अविश्वास की मुस्कराहट के साथ मिल, पूरा पश्चिमीय प्रसिद्ध कवि मिल्टन के चरित्र नायक की झलक दिखलाता था। रात को फिर भोजन, हुक्का और अपने नाप की चारपाई और इस दृश्य पर यवनिका गिर जाती है।

स्वाध्याय का अभ्यास

पण्डित गुरुदत्त के थोड़े से ही सत्संग ने मेरी काया पलट दी। मुझे जालन्धर आर्यसमाज की समाप्ति के दूसरे स्वाध्याय का अभ्यास हो गया। पण्डित गुरुदत्त की यह साक्षी मेरे लिए बहुत उत्तेजक हुई थी कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में प्रत्येक नयी आवृत्ति पर नये भाव विदित होते हैं। जालन्धर आर्यसमाज में भी जीवन पड़ने लगा और उसके सब कार्य नियमपूर्वक होने लगे। संवत् १९४४ के आरम्भ में वर्त्तमान जालन्धर आर्यसमाज मन्दिर की भूमि में ही एक कनाल के लगभग स्थान मिल गया था। उसी में दो कच्चे कोठे बनाकर कच्ची ईंटों का एक बड़ा आंगन घेर लिया और

इस प्रकार उन पौराणिकों के विरोध से छुटकारा मिला जो सदैव किराये के मकानों के मालिकों को हमें निकाल देने के लिए भड़काया करते थे।

वकालत और सच्चाई का मेल दुस्तर

मेरी मुख्तारी का काम इस वर्ष के आरम्भ में खूब चमका। उस समय जालन्धर में फौजदारी के प्रसिद्ध धड़ल्लेदार वकील बूढ़े बीची साहब थे। उनकी भी आस-पास धूम मची हुई थी। सब अभियुक्त उन्हीं की प्राय: सहायता चाहा करे थे। वे रंगीले, चारवाक के चेले थे इसलिए फौजदारी करने वाली जाट आदि जातियों में यह प्रसिद्ध था कि जो दुनिया के सब भोगों में नि:श्रृखंला नहीं है वह फौजदारी का अच्छा वकील नहीं हो सकता। मैं मद्य-मांस का विरोधी होने से फौजदारी के कमरे से वहुधा वंचित रहता था। अकस्मात् मुझ पर विश्वास रखने वाले एक जाट सरदार ने मुझे उस मुकद्दमे में पैरवी करते देखा। उनको मेरा काम पसन्द आया और कुछ दिनों पश्चात् अपने बड़े मुकद्दमों में सहायता के लिए उन्होंने मुझे अपने साथ रखवाया। बस फिर क्या था, धूम मच गई और मुख्तारी में ही मेरी आमदनी बहुत से वकीलों से भी बढ़ गई, क्योंकि मेरे पास दीवानी का भी काम काफी आता था।

किन्तु यह सारी कमाई हुई प्रसिद्धि कुछ महीनों के पश्चात् ही अप्रतिष्ठा में बदल गई। इसका कारण यह था कि मेरे पास एक मुन्शी मुकद्दमा लाया। बही हिसाब से १०००/- रुपये का साधारण दावा करना था। मैंने बही देखा तो १०००/- की बाकी पर टिकट न था, इसलिए कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलने का एक ओर सीधा ढंग था, वह भी साहूकार महाशय को बतला दिया। उस समय तो साहूकार महाशय चले गये किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकी पर अपनी ओर से टिकट लगाकर अर्जीदावा लिखा दायर करवा दिया। पहिली पेशी के दिन मेरे मुन्शी से मिल कर मुख्तारनामे पर मेरे हस्ताक्षर करवा लिए।

इन हस्ताक्षरों की कहानी भी बड़ी मनोरंजक है। यदि प्रात:काल ही मुझसे हस्ताक्षर माँगे जाते तो मैं बही को देखना चाहता इसलिए जब मैं कचहरी के लिए बग्घी में चढ़ने लगा तो मुन्शी जी ने मुख्तारनामा पेश किया। मैंने पूछा कि बही आदि देखनी चाहिए। मुन्शी साहब बोले-'हजूर!! मामूली बही हिसाब पर १०००/- रु० का दावा है। ५०/-रु० फीस देता है, २५-/ रु० वसूल हो चुके हैं। सिर्फ एक पेशी का काम

है' हजूर इस पर क्या चूँ चरा करने लगे थे। जिस मुकद्दमे में २० की आशा हो उसमें ५०/- रुपये मिलें तो सिवाय इसके और क्या हो सकता था कि मुख्तार साहब रासों को हिलाकर बड़ी कचहरी की राह लेते।

बड़ी कचहरी से काम करके मुन्सिफी में लौटा तो उसी मुकद्दमे के लिए प्रतीक्षा हो रही थी। मुन्सिफ अछरूराम साहब मेरे बड़े कृपालु थे। जवाब दावा मेरे हाथ में देकर कहा कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर दूँ। मुद्दालेह का जवाब दावा पढ़कर मुझे सन्देह हुआ। मैंने अपने मुवक्किल मुद्दई के मुँह की ओर देखा और बही का हिसाब निकाला। बस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहब की सब कारस्तानी है। मैंने मुन्सिफ साहब से कह दिया कि मुकद्दमे में जालसाजी होने के कारण मैं उसमें पैरवी नहीं करूँगा और मुन्शी को आज्ञा दी कि २५/- रुपये प्राप्त किए हुए वापिस कर दे। मुन्सिफ साहब ने अंग्रेजी में बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उलटे प्रकार की हो जाएगी और मेरी आर्थिक दशा को हानि पहुँचेगी किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया।

मेरी इस (सर्वसाधारण की जनमत में) निबुद्धिता का असर दूसरे दिन ही प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा। जो मुकद्दमे वाला मेरे पास आने को तैयार होता, अन्य वकीलों-मुख्तारों के मुन्शी उसे यह कहकर विचलाते, 'अबे! अपने मुवक्किलों का गला घुटवाने के लिए सब फन-फरेब खेलने को तैयार हो।' मुझे धोखा देने वाला मुन्शी दूसरे ही दिन चलता कर दिया गया, मेरे पास केवल काशीराम आर्यसमाजी ही रह गये थे। दूसरे मुन्शी की आवश्यकता न रही क्योंकि काम ही कम हो गया। उधर काशीराम भी नौकरी छोड़ने को तैयार हो गये। वेतन में उन्हें १०/- रु० मासिक देता था, किन्तु प्रति मुकद्दमा एक वा दो रुपये ऊपर से लेने पर उनकी आमदनी ३५/-रु० वा ४०/- रुपये तक हो जाती। अब भूखों मरने लगे तो आर्यत्व का पक्ष कहाँ तक करते। मैंने मासिक १५/-रु० करके उनका कुछ सन्तोष किया किन्तु मेरी आमदनी ५००/-रु० से उतकर १५०/-रु० के लगभग ही रह गई।

किन्तु "सब दिन रहत न एक समान"- दो मास में ही मेरी करतूत सब भूल गये। मैदान में नई खेती बोते हुए आमदनी फिर बढ़ने लगी।

वकालत की परीक्षा में रिश्वत

मार्गशीर्ष संवत् १९४३ के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर सन् १८८६ ई० के आरम्भ) में मैंने वकालत की परीक्षा दी थी और परिणाम महीनों तक रुका रहा। इसका कारण यह था कि पंजाब यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार मिस्टर लार्पैन्ट ने इस वर्ष दोनों हाथों से लूटना शुरू कर दिया था। गत वर्ष तो अभी साहब बहादुर नव-शिक्षित थे इसलिए कोई इक्का-दुक्का ही उनके काबू चढ़ा, इस वर्ष वे किसी को सूखा छोड़ना नहीं चाहते थे। वकालत में पास होने के लिए १५००/-रु० प्रति याचक की खुली शरह थी। साहब बहादुर ने दलाल व एजेन्ट भी रख छोड़ा था जिसका नाम गण्डासिंह था। २००/-रु० भाई गण्डासिंह की भेंट होते ही १३००/-रु० अंग्रेज देवता की पूजा में स्वीकार हो जाता और वकालत रूपी स्वर्ग प्राप्ति की अदृश्य हुण्डी उसी दम मिल जाती। मुख्तारी प्रार्थियों में शायद १०००/-रु०, बी.ए., एम.ए. से कुछ कम लिया जाता था। कोई-कोई एफ.ए.भी लार्पैण्ट गर्दी के चक्कर पर चढ़ने से बच सके। कोई-कोई तो अक्ल के ऐसे पुतले निकले कि पास होने तक ही शान्त न हुए प्रत्युत पहले-दूसरे होने की ठान ली। वकालत में पहिले होने वाले ३५००/-रु० और दूसरे होने वाले २५००/-रु० यह चढावा केवल उन्हीं को नहीं चढाना पड़ा जो सचमुच अनुत्तीर्ण थे बल्कि जो पास थे उनके भी घर पहुँच-पहुँचकर साहब के दूत ने उनकी जेबें भी खाली की। यह रोग यहाँ तक बढ़ा कि मेरे कुछ मित्रों ने मुझे पत्र लिखकर लाहौर बुलाया क्योंकि गण्डासिंह मुझे ढूँढता फिरता था, और कहता फिरता था कि यद्यपि मैं पास हूँ तो भी बिना १०००/-रु० दिए मुझे भी प्रमाणपत्र से वंचित रहना पड़ेगा। मैं यह दृढ़ संकल्प करके लाहौर पहुँचा कि इस अनाचार का भण्डा फोड़कर रहूँगा, किन्तु मेरे पहुँचने से पहिले ही हिसार के प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणि ने गण्डासिंह की खूब खबर लेकर सर विलियम रैटिंगन(उस समय के वाइस चांलसर) के यहाँ दुहाई जा मचाई। वाइस चांसलर ने उसी समय सायंकाल को परिणाम की सारी फाइल संभाल ली। लाला चूड़ामणि भाग्यशाली थे कि पहल उनकी ओर से हुई। विश्वविद्यालय सभा ने अकेले लाला चूड़ामणि को पास करके बाकी सभी को फेल कर दिया, और मैं भी बलवे की भीड़ में निरपराध बालक की तरह गोली का शिकार हो गया।

लार्पैण्ट साहब पर फिर अभियोग चला। आन्दोलन समिति के सामने विचित्र साक्षियाँ भुगतीं। जो-जो महाशय नतीजा जब्त होने की खबर सुनते ही लार्पैण्ट की

कोठी पर पहुँचकर उसे धमकाने लगे उनका तो तेरह-तेरह सौ रुपया जुदा-गुदी पोटली में बँधा बँधाया मिल गया किन्तु जब चढ़ने पर झण्डे तले के गण्डासिंह ने पहुँचकर घबराए हुए साहब बहादुर को तसल्ली दी तो साहब ने अपनी दुष्टता से कमाये धन का बड़ा भाग मुकद्दमा लड़ने और जीवन का शेष भाग सुख से उसे व्यतीत करने के विचार से बचा लिया। लार्पैण्ट को तो अपने किए का कुछ दण्ड मिला ही, किन्तु मुझ समेत बहुत से निरपराधियों को भी उसके कामों का फल भुगतना पड़ा। इसमें भी परमात्मा को मेरी भलाई मंजूर थी, क्योंकि इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण होते ही मेरी रुचि कानून से हटकर धर्मान्दोलन की ओर अधिक झुक गई। एक ओर तो अपने पेशे से सच्चाई से काम लेने का परिणाम यह हुआ कि ५००/-रु० से १५० /-रु० की आमदनी रह गई और दूसरी ओर इतने परिश्रम का फल यह वज्रपात। ऐसे निराशाजनक समय में जालन्धर धर्म सभा में पण्डित दीनदयालु जी का पौराणिक मतपोषक के रूप में आना और व्याख्यान देना मेरे लिए नई आशाओं का केन्द्र सिद्ध हुआ। जब पण्डित दीनदयालु जी ने जालन्धर धर्मसभा की ओर से नौहरियों के ठाकुरद्वारे के आंगन में आर्यसमाज के मन्तव्यों का खण्डन आरम्भ किया उस समय मैं अपने जन्मस्थान तलवन में था। संवत् १९४४ का शायद ज्येष्ठ मास था। मेरे पास आदमी पत्र लेकर गया जिसमें लिखा था कि आर्यसभासदों को नगर में मुँह दिखाना कठिन हो रहा है। पण्डित दीनदयालु जी की दूसरे पक्ष को उल्टे रूप में दिखाने और उपहास में लड़ाने की शक्ति उस समय पूरे यौवन पर थी। मैं पत्र देखते ही चल दिया और १० बजे अपने मकान पर मैंने मुन्शी काशीराम से सारा वृत्तान्त सुना। इन्हीं दिनों लाला तेलूराम राहों निवासी के गुणों का मुझे पता लगा। इन्होंने पण्डित दीनदयाल जी के व्याख्यानों के शब्द तक नोट कर रख थे। शहरी सभासदों ने समाज के बाहर धनाढ्यों की बड़ी शिकायत की जिन्होंने ऐसे में सहायता न दी। सारे शहर में प्रसिद्ध था कि आर्यों को चुल्लू भर पानी डूब मरने को नहीं मिलता, बेचारों के पास कोई उत्तर नहीं।

मैंने भोजन पीछे किया सबसे पहले पण्डित दीनदयाल जी के नाम शास्त्रार्थ का चेलेन्ज लिखकर मंत्री काशीराम के द्वारा दिया और साथ ही अपने पत्र की नकल उक्त पण्डित जी के हस्ताक्षरों के लिए भेज दी। पण्डित जी ने टालने का बहुत प्रयत्न

किया काशीराम भी एक मार्के का आदमी था। उसने पण्डित जी के हस्ताक्षर लेकर ही उन्हें छोड़ा। इतने पर ही सारे शहर में चर्चा फैल गई। अभी चार घंटों के अन्दर ही दूसरे दिन में मेरे व्याख्यान के सैकड़ों विज्ञापन हस्तलिखित लग गये और ५ बजे अपने बहुत से आर्य भाइयों को जो कई दिनों से मुँह छिपाये फिरते थे, साथ लेकर मैं व्याख्यान मण्डप में जा पहुँचा। मेरे पहुँचते ही धर्मसभा के प्रधान श्री लाला हरभजराय जी बहुत सभ्यों सहित उठ खड़े हुये। व्याख्याता महाशय ने समझा कोई प्रतिष्ठित सनातनधर्मी आये हैं।, सबके बैठ जाने पर उन्होंने फिर से पत्र की व्याख्या आरम्भ की, जो उनके हाथ में था। जिस पत्र की व्याख्या वर्तमान व्याख्यान वाचस्पति श्री पण्डित दीनदयालु जी कर रहे थे वह मेरा ही भेजा हुआ था। पण्डित जी ने पत्र लेखक पर एक हँसी की बौछाड़ करके कुछ भाग छोड़कर पढ़ना चाहा जिससे लेख की श्रृंखला टूटती हुई और पण्डित जी के पूर्व कथन का खण्डन होता था। मैंने निवेदन किया कि बीच में कुछ और भी है वह भाग भी पढ़ दिया जाय। मेरा इतना कहना था कि खलबली मच गई। लाला हरभज जी (प्रधान धर्मसभा) ने उठकर पण्डित जी के कान में कुछ कहा। पण्डित जी कुछ सम्भले–और बलिहारी है उनकी योग्यता की कि मेरी एक घण्टे की उपस्थिति में उनको सिवाय वैराग्य के और कोई विषय ही न सूझा।

पण्डित जी के व्याख्यान की समाप्ति पर एक आर्य सभासद ने ऊँचे स्वर से कह दिया कि दूसरे दिन से पण्डित दीनदयालु जी के व्याख्यानों का उत्तर आर्यसमाज मन्दिर में दिया जायेगा। जिस प्रकार हमारे प्रधान यहाँ आए हैं उसी प्रकार उन्हें भी पधारकर सुनना चाहिए। जोशीले सनातनियों ने शोर मचा दिया–"हमारी सभा में क्यों बोल रहे हो अपनी सभा में बोलो इत्यादि।" इस पर उत्तर मिला–"हमने सूचना दी है, सुनने का हौसला न हो तो मत आना।" सर्वसाधारण खिलखिला कर हँस पड़े और सभा विसर्जित हुई। सारे नगर में ढ़ोल पीटा गया। यह आर्य बड़े जबरदस्त हैं, दूसरे के घर पहुँचकर खबर ले डालते हैं।

भला कोई पूछे कि पहिले क्या हुआ था और अब क्या होगा। किन्तु दुनिया भेड़िया–धसान है, जिधर एक भेड़ चल पड़े उसी के पीछे शेष भेड़ें भी चल पड़ती हैं और सच्चाई को कोई पूछता नहीं जब तक उसके फैलाने का प्रयत्न न किया जावे।

दूसरे दिन आर्यसमाज मंदिरों में सहस्रों की उपस्थिति थी। कुछ नगर के सभ्य

पण्डित दीनदयालु जी को लाने को गए किन्तु डेरे पर जाकर उन्हें पता लगा कि पण्डित जी छावनी चले गये हैं। मैंने उस का व्याख्यान समाप्त करके कह दिया कि यदि पण्डित जी दूसरे दिन आये तो उनके साथ धार्मिक विषयों पर विचार होगा, नहीं तो एक अनोखा व्याख्यान होगा। पण्डित जी की ओर से तो कोरा जवाब आया परन्तु आर्यसमाज की ओर से विज्ञापन लग गये जिनमें व्याख्यान का विषय रखा गया–'चाऊ–चाऊ का मुरब्बा' इस विचित्र शीर्षक को देख कर सर्वसाधारण ऐसे उत्सुक हुए कि समाज मन्दिर की छत और दीवारें तक मनुष्यों से भर गयीं। पण्डित जी के व्याख्यान क्रमबद्ध किसी विषय पर नहीं थे, इसलिए उनका नाम यहीं रखकर उनके उत्तर दिए गये।

उस समय पण्डित दीनदयालु जी बिना कोई भेंट लिए और बिना व्याख्यान दिए ही विदा हो गये। आर्यसमाज भी कुछ घाटे में न रहा क्योंकि उसे इस समय ३० के लगभग नये सभासद मिले। किन्तु सबसे बढ़कर लाभ मुझे हुआ। चाऊ–चाऊ के मुरब्बे का मजा सर्वसाधारण को चखाने के दूसरे दिन ही, एक सरदार मुझे बड़े मुकद्दमें में १०००/–रु० फीस पर नियत करके ५००/– रुपये नकद दे गए। मुझे आश्चर्य हुआ कि दूसरी ओर जालन्धर के सबसे बड़े दो वकीलों के होते हुए इस भोले सरदार ने मुझ मुख्तार की क्यों शरण ली किन्तु यह आश्चर्य मेरे मुन्शी के ठीक कहानी सुनाने पर दूसरे आश्चर्य में परिवर्तित हो गया। सरदार साहब वकीलों को देखभाल कर करना चाहता थे। कचहरी में जाकर सब वकीलों की वक्तृताएं सुनी। अभी कुछ निश्चय नहीं किया था कि आर्यसमाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान सुनने पहुँच गए। मेरी वक्तृता पर वह लट्टू हो गये और दूसरे दिन ही मुझे जा सम्भाला। कानून और मत–सम्बन्धी विचार का कुछ सम्बन्ध न था और सर्वसाधारण को रिझाने वाले न्यायालयों में सदा कृतकार्य भी नहीं हुआ करते किन्तु सरदार साहब बाल की खाल उतारने वाले दार्शनिक न थे। संसार के इतिहास की तह में भी विचित्र घटनाएँ काम करती हैं, यदि सारे इतिहास की तह देखने वाला कोई त्रिकालज्ञ मिल जावे तो शायद वर्तमान समय के सारे ऐतिहासिक भण्डार को जलाकर, संसार के सब छापेखानों को दिन–रात चला एक नया ऐतिहासिक पुस्तकालय ही स्थापना करना पड़े।

आमदनी बढ़ने का पुनः आरम्भ होते ही पण्डित गुरुदत्त के सत्संग का प्रभाव

फिर दूर होने लगा हाँ, सामाजिक संशोधन की ओर ध्यान अधिक खिंचा। मेरी धर्मपत्नी कुछ थोड़ा लिख पढ़ सकती थी, उनको पढ़ाने तथा पर्दे आदि की कुरीतियों से निकालने का प्रयत्न मैंने आरम्भ कर दिया। इस समय मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी की आयु ७ वर्ष की और उससे छोटी अमृतकला की (जिनका नाम उस समय हेमन्त कुमारी था) अनुमान ४ वर्ष की थी।

बम्बई की पहली यात्रा

विक्रमीय सम्वत् १९४४ की ग्रीष्म में मेरी धर्मपत्नी ने अपने धर्मग्रन्थों के पाठ के अतिरिक्त मेरे अन्य विचारों में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया था। और अपनी बड़ी पुत्री को स्वयं शिक्षा देना शुरू कर दिया था। झूठे पर्दे के बन्धन भी उन्होंने तोड़ दिए थे और बच्चों सहित मेरे साथ भ्रमण भ्राता भक्तराम की इंग्लैण्ड यात्रा की तैयारी होने लगी। रायजादा भक्तराम बैरिस्टर आज बड़े आदमी हैं और उनकी योग्यता का सिक्का पंजाब के सारे न्यायालयों पर बैठा हुआ है। किन्तु मुझे यह कहने का अभिमान है कि वे मेरे शिष्य रह चुके हैं। मास्टर 'मटरूमल' के बीसों शागिर्द डिप्टी, वकील और जज बन जाते हैं और मास्टर जी एक इंच ऊपर नहीं उठते, फिर भी वे सबके उस्ताद ही कहाते हैं। भक्तराम जी से तो मेरा सम्बन्ध होने के अतिरिक्त प्रेम भी असीम था, मैं कह सकता हूँ कि उस समय इनसे बढ़कर मेरा प्यारा मित्र शायद ही कोई और हो। आजकल के आर्यसमाजियों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि रायजादा भक्तराम उस समय जालन्धर आर्यसमाज के अग्रणी चालकों में से एक थे और उनकी श्रद्धा वैदिक धर्म पर ऐसी दृढ़ थी कि जब विदेश को विदा करते हुए जालन्धर आर्यसमाज के एक अधिवेशन में उन्हे पँच महायज्ञविधि आदि पुस्तकें भेंट देकर प्रधान ने अन्तिम शब्द कहे तो भक्तराम जी का उत्तर उपस्थित सज्जनों की आँखों में प्रेम के आँसू भर लाया।

भक्तराम जी को बम्बई से जहाज पर चढ़ाने उनके भाई बालकराम और मैं गये थे। उन्हीं दिनों कपूरथला के स्वर्गवासी दीवान मथुरादास जी के पुत्र दौलतराम जी जाने वाले थे। इनके अतिरिक्त मुकुन्दलाल और जगमोहनलाल जी हमारे मित्रों के ही पुत्र थे जो दिल्ली से मिल गए। वह समय कभी भूलता नहीं जब शायद भाद्रपद के मध्य (अगस्त के अन्त) बादलों से घिरे आकाश की भीषण शोभा देखते हुए हम सब

जालन्धर शहर रेलवे से चले। दीवान रामजस जी तथा राय शालिग्राम सैकड़ों रईसों सहित छोड़ने आये थे। दीवान रामजस जी की सरलता और अपनी धृष्टता का मुझे अब तक स्मरण है। अपने पौत्र दौलतराम के लिए सदाचार को स्थिर रखने का उपदेश देते हुए श्री दीवान जी ने कहा, 'हाथ पैर धोने की मिट्टी अवश्य जहाज में रख लेना।' मैंने कहा कि दो गदहे मिट्टी के जहाज में डलवा दूँगा अस्तु।

भक्तराम दिल्ली पहुँचे और वहाँ नाना प्रकार की मिठाईयाँ तथा फलादि सहित हम पाँचों ने दो कमरे सेकेण्ड क्लास के रोक लिए और आनन्दपूर्वक बातचीत करते और ताश शतरंज खेलते तीसरे दिन बम्बई पहुँचे। बम्बई में बहुत नए दृश्यों, बहुत से नए मिलापों और बहुत सी नई घटनाओं में से गुरजना पड़ा जिन्होंने मुझे विशेष शिक्षा दी। हम सब दीवान मथुरादास जी के पास रिटायर्ड जज महाशय कर्सट जी (खुरशैद जी) मानिक जी के यहाँ उतरे। ये महाशय आठ बार सारे भूमण्डल की यात्रा कर चुके थे और बड़े देशभक्त तथा जाति सेवक थे। ७५ वर्ष की आयु में आँखों की ज्योति कुछ कम हो जाने पर कभी उदास नहीं होते थे। मैंने उनका सुख सदा हँसता और माथा खुला देखा। प्रातःकाल 'आशा' और सायंकाल 'कल्याण' अलापते इस बूढ़े को सुनकर मुझ पर जादू का असर होता और फिर आत्म-त्याग कितना! अपने जन्म भर की कमाई की सारी बचत से एक कोठी बनाई थी, उसे एक लाख में बेचकर रुपया 'पारसी कन्या विद्यालय' को अर्पण कर दिया और स्वयं उसी मकान के नये मालिक के किरायेदार बनकर रहने लगे। इन्हीं जज मानिक जी की पुत्री मिस मानिक जी उक्त पुत्री पाठशाला की सेवा के लिए मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहीं। उस समय मिस मानिक की आयु ५० वर्ष के लगभग थी। जब मानिक ने मुझे अपनी प्राचीन राग विद्या से पुनः प्रेम कराया।

इसी बार पहिले पहल मैंने महाशय छबीलदास लल्लूभाई के दर्शन किए जो ऋषि दयानन्द जी के अनन्य भक्त थे और जिन्होंने ऋषि की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपनी ही भतीजी का विवाह निर्धन श्याम कृष्ण वर्मा के साथ करा दिया था। उस देवी के भी मैंने उन्हीं के रमणीक भवन में दर्शन किए थे जो समुद्र के किनारे पर मनोहर छवि दिखा रहा था। बम्बई समाज के पुराने मंत्री और ऋषि दयानन्द के विश्वासपात्र भक्त महाशय सेवकलाल कृष्णदास से भी वहीं भेट हुई थी। आर्यसमाज

मन्दिर का उन दिनों केवल चबूतरा ही बना हुआ था जिस पर मैंने व्याख्यान भी दिया था। बम्बई में घूंघट के अभाव के कारण स्त्री–पुरुषों का शुद्ध व्यवहार और पारसियों की साड़ी का उत्तम पहराव देखकर मैं और बालकराम जी घर की स्त्रियों के लिए साड़ी खरीद लाए थे और उनका रिवाज चलाया था।

अग्निबोट में बैठे हम सभी अपने भाई भक्तराम को जहाज में छोड़ने गए। भक्तराम की आँखें दुखती थीं, तिस पर बिछोड़े का रोना। बालकराम जी भी भर आए। किनारे पर आकर खड़े हुए तो जहाज लंगर उठाकर चल दिया। जब तक बालकराम का रुमाल हिलता रहा तब तक टकटकी लगाये खड़े रहे, जब जहाज आँखों से ओझल हुआ उसी समय हम दोनों भी उदासीन डेरे को लौट आए।

एक बात लिखना मैं भूल गया। कुछ पारसी महाशयों ने हमारे विलायत जाने वाले मित्रों को सहभोज दिया था। उस समय की एक घटना मुझे स्मरण है। भोजन के पश्चात् हमारे मेजबान के युवक पुत्र ने बैंजो बजाना आरम्भ किया और उनकी धर्मपत्नी एक अंग्रेजी गीत गाने लगी। मैंने प्रार्थना की कि कोई विदेशी गीत गाया जाय। इस पर गुजराती कहरवा छिड़ गया। फिर मैंने कहा कि मेरा मतलब पारसी गीत से था क्योंकि पारसियों की भाषा पारसी होनी चाहिए। इस पर हमारे मेजबान ने हँसकर उत्तर दिया–हम सताए हुओं को जिस भूमि ने अपनाया हमारा वही देशभक्ति का अंकुर कुछ नया नहीं था, इसकी बुनियाद शायद भारतवर्ष में पारसियों के आने की तिथि से ही पड़ चुकी थी।

ऊपर वर्णित सहभोज में बहुत से पारसी बच्चे हमारे परिचित हो गये थे। अपने भाई को छोड़कर लौटने पर बालकराम के आँसू बन्द नहीं होते थे। अपने कमरे में पहुँचकर वह फूट–फूटकर कर रोने लगे। और मैंने गले में डालकर उन्हें धैर्य देना आरम्भ किया। यह दृश्य था जब कुछ पारसी बच्चे कूदते फाँदते हुए मेरी ओर आए। उनके लिए बिलायत जाने वाले के वियोग में रोना एक हास्यजनक दृश्य था। सब बच्चे खिलखिलाकर हँसने लगे। बालकराम जी ने झेंपकर आँसू पोंछे और मुस्कराने लगे। बच्चों ने बड़ी मौज की। जो बड़ा आवे उसे कहें–'देखों स्त्रियों की तरह रोते हैं।' बालकराम जी को शायद देर तक होश न आता यदि बच्चों का हँसी का 'छूमन्तर' शोक के जादूगर को चकनाचूर न कर देता।

भक्तराम को विदेश विदा करने के पश्चात् हम तीन दिन बम्बई और ठहरे। इन तीन दिनों के लिए बूढ़े जज मानिक जी ने अपनी फिटन गाड़ी हमारे हवाले कर दी और प्रत्येक देखने के योग्य स्थान के लिए पास मँगा दिए। उन दिनों एक जंगी स्टीमर (धुआंकल जहाज) भी बन्दरगाह पर आया हुआ था। उस पर बूढ़े नौरोजी हमें स्वयं ले गये। जहाज का कप्तान उनका मित्र था हमारे बम्बई छोड़ने से पहिले दिन आर्यसमाज मन्दिर में मेरा व्याख्यान हुआ। शायद मैंने ईश्वरोपासना में कुछ कहा था, क्योंकि मुझे स्मरण है कि बम्बई आर्यसमाज के एक पुरजोश सभासद् ने बाहर आकर कहा–'क्या! आप जानते हैं कि बम्बई वालों का ईश्वर कौन है? मूर्तिवाली जो चाँदी है, वही इनका इष्टदेव है।' जब वे महाशय चले गये तो लोगों ने मुझे बतलाया कि उक्त महाशय मूर्तिपूजा का खण्डन तो बड़ी प्रबल युक्तियों से करते हैं परन्तु घर पर ठाकुर जी का सिंहासन रखा हुआ है।

एक बात मुझे बम्बई के सम्बन्ध में और याद है। जब मैं घर लौटने के लिए रेलवे स्टेशन पर पहुँचा तो वहाँ एक पारसी महाशय पहिले से मौजूद थे। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे हार पहिनाया और कुछ केले भेंट किए। मैं कुछ विस्मित सा हुआ तो उन्होंने कहा–'महाशय! आप विस्मित क्यों होते हैं? मैं स्वामी दयानन्द का मतानुयायी तो नहीं हूँ पर उनकी गोकरुणानिधि का भक्त हूँ। आर्यसमाज स्वामी जी के जिस उपदेश को भूला हुआ है, उसका मैं अनुकरण कर रहा हूँ।' यह कहकर उन्होंने गोरक्षा विषय के अपने ट्रैक्ट और अपीलें दी और बतलाया कि वे गवर्नमेंट से गोहत्या हटाने के लिए निवेदन करना चाहते हैं। मेरे पास अब वह विज्ञापन नहीं है इसलिए कह नहीं सकता कि वह महाशय इस समय के प्रसिद्ध गोभक्त श्रीमान् जस्सावाला ही थे वा कोई अन्य सज्जन।

जालन्धर लौटकर मैंने पहिले की अपेक्षा अधिक नियमानुकूल काम करना आरम्भ किया।

एक उदार डिप्टी कमिश्नर

वकालत की परीक्षा अभी सिर पर काल की तरह खड़ी थी। प्रात:काल खूब भ्रमण करके लौटता और फिर कानून की पुस्तकों के पीछे लग जाता। मैं प्राय: छावनी की सड़क पर घूमने जाता था, जहाँ एक दिन मुझे सामयिक डिप्टी कमिश्नर कर्नल

हार्कोर्ट साहब मिल गये। वे भी भ्रमण करने जाया करते थे। नित्य मेरा और उनका साथ होने लगा। धर्म विषय पर बहुत बातचीत होने लगी क्योंकि कर्नल साहब स्वतन्त्र विचार वाले आस्तिक थे। एक दिन बातचीत में उन्हें मालूम हुआ कि मैं आर्यसमाजी हूँ। यह सुनते ही कर्नल हार्कोर्ट खड़े हो गए और बोले–'आप और आर्यसमाजी! आप तो बड़े धार्मिक आदमी हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।' मैंने उत्तर दिया कि मैं केवल आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्यसमाज का प्रधान भी हूँ। तब साहब बोले–'परन्तु लाहौर आर्यसमाज तो एक पोलिटिकल संस्था है, जालन्धर आर्यसमाज चाहे न हो।' तब मैंने कर्नल साहब को आर्यसमाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि हम लोग आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष बनाना चाहते हैं, इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इस प्रकार साहब बड़े उदार भाव से बोले–'फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।' उन्होंने कहा कि यदि भारत निवासी हमसे अधिक श्रेष्ठ मनुष्य बन जावें तो फिर हमें स्वयं बोरियाँ बँधना उठाकर चल देना पड़ेगा।

उपर्युक्त घटना से पता लगता है कि उस समय भी हमारे गोरे हाकिम आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

यह सन्देह कैसे फैला ?

आर्यसमाज के विषय में पोलिटिकल जमायत होने का सारा संदेह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। इस विषय में लाहौर के पुराने अंग्रेजी के मासिक पत्र 'आर्य' में भी ईसाई पादरियों के ऐसे अनुचित लेखों का वर्णन है। इस समय जो कुछेक ईसाई पादरियों का उदार बर्ताव आर्यसमाज के साथ है उसे देखकर भी जो ईर्ष्या की अग्नि साधारण पादरियों के दिलों में धधक उठती है, उससे मेरे इस विचार को पुष्टि मिलती है कि गरीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने वाले के ईसाई पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी मिलने लगी तब वे ओछी करतूतों पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को यह विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को कम भय है, अधिक भय गवर्नमैंट को है।

ईसाइ पादरियों के डाले हुए इस सन्देह को आर्यसमाज के प्रारम्भिक नेताओं

के व्यवहार से भी कुछ पुष्टि मिलती रही। मुझे भली प्रकार स्मरण है और इसका संक्षिप्त वर्णन मेरी उस समय की डायरी में भी है कि संवत् १९४५ में जालन्धर आर्यसमाज के एक माननीय सभासद् (जो लाहौर के लीडरों के सत्संग में दो वर्ष तक रह चुके थे) के साथ मेरा इस विषय पर विवाद हुआ था कि लाहौरी लीडर साधारण बातों के लिए भी गुप्त कमेटियाँ करके बिना प्रयोजन दूसरों के सन्देह के शिकार बनते हैं। एक और भी कारण इस सन्देह को उत्पन्न करने वाला था। भाई जवाहरसिंह (जो खालसा कॉलेज कमेटी के महामन्त्री बने थे) उस समय आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री थे, उनकी रुचि अधिकतः राजनैतिक बातों की ओर थी, जैसा कि उनके शाहपुरा जाने के समय के पत्रव्यवहार से सिद्ध होता है। (देखो ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार, पृष्ठ १६,१७ तथा १२०) जब जवाहरसिंह जी आर्यसमाज से अलग हुए और कुछ समय के पश्चात् खालसा कॉलेज के मन्त्री बने तब इन्होंने आर्यसमाज के साथ बहुत विरोध किया और समाज के गले मढ़ दिया।

वकालत की अन्तिम परीक्षा

वकालत की परीक्षा संवत् १९४४ के मार्गशीर्ष-पौष (दिसंबर सन् १८८७) में होनी चाहिए थी। मैंने अपने काम के साथ-साथ उसकी तैयारी भी शुरू कर दी, और जब लाहौर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव समीप आया तो मैं परीक्षा की तैयारी करके सब पुस्तकादि सामान साथ ले लाहौर को चल दिया। २६ और २७ नवम्बर उत्सव की नियत तिथियाँ थीं। २७ नवंबर आदित्यवार को प्रातः १० बजे मेरे बड़े पुत्र हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। उस समय मैं आर्यसमाज मन्दिर लाहौर में बैठा हुआ पण्डित गुरुदत्त का वह अपूर्व व्याख्यान सुन रहा था जिसने वैदिक धर्म के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दलों में खलबली डाल दी थी। तीन सहस्र से अधिक जनसंख्या, और सन्नाटा ऐसा कि सुई गिरने का शब्द भी सुनाई दे। छोटा सा शरीर किन्तु मुख पर चन्द्र कान्ति और सूर्य के तेज की शोभा, गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि निकलती है **'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्'**- इत्यादि। बराबर चार मन्त्रों का ऋग्वेद का मण्डल १ सूक्त ३२ में से पाठ होता है। फिर एक-एक शब्द का जन साधारण के समझने योग्य अर्थ होता है। (इन्द्र) सूर्य कैसे (वृत्र) बादल को उठाता है, वह कैसे सूर्य को छिपा लेता है और फिर इन्द्र का वृत्र के साथ कैसे युद्ध होता है और फिर इन्द्र अपने वज्र से कैसे वृत्र को

मार गिराता है। यह दृश्य खींच कर ऋषि दयानन्द के जीवन का चित्र श्रोतागण के सामने लाया जाता है। ऋषि की शक्ति का वर्णन करके उनके महान् आत्मत्याग की घटना का चित्र जब वक्ता खींचता है तो सैकड़ों आँखों से आँसुओं का तार बँध जाता है। मुझे सुधि न रही कि मैं पृथ्वी पर हूँ। वक्ता के शब्द कानों को सुनाई देने बन्द हो जाते हैं, आँखे पोंछकर देखता हूँ। तो रुपयों की वर्षा हो रही है। दरवाजे पर एक ग्रामीण अधेड़ जंगी जवान दान की प्रेरणा कर रहे हैं, तो सिविल के नौकर दिखते जंगी जवान ही हैं। ये निहालसिंह हैं जो आर्यसमाज के लिए भिक्षा माँगने में पुराने अग्रणी थे। तार वाला उन्हें एक तार देता है जिसका लिफाफा लेकर भाई जी मेरी ओर चल पड़ते हैं। तार खोलता हूँ तो यह शुभ समाचार है कि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है। भाई जी शुभ समाचार सुनते ही झोली आगे कर देते हैं-'कुछ दिलवाइये' जेब में से निकाल कर १००/- का नोट उनके हवाले करता हूँ और भाई जी वहीं से ऊँचे स्वर में दान का हाल सुनाकर उसके साथ चुटकला जोड़ देते हैं-'ईश्वर करे, हमारे प्रधानों के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे नित्य दान मिले।'

वाषिकोत्सव के पीछे अभी दो दिन ही ठहरा था कि बहुत से वकालत के उम्मीदवारों की दरखास्त पर परीक्षा की तिथियाँ दो मास आगे जा रही। लोगों के घर तो घी के दिए जले किन्तु मेरे यहाँ अन्धेरा हो गया। तीसरी बार तो परीक्षा की तैयारी की, अब चौथी बार तैयारी कैसी होगी-यह चिन्ता थी। इसका परिणाम भी यही हुआ कि चौथी बार जब परीक्षा के लिए लाहौर गया तो मैंने सारा समय गप्पों में ही व्यतीत किया और किताबों को हाथ भी न लगाया। जब मैं परीक्षा भवन में गया तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरा मस्तिष्क कानून से सर्वथा शून्य है किन्तु प्रश्नपत्र हाथ में आते ही पुराने संस्कार जाग उठे और ग्रामोफोन की भांति पुराने भरे हुए विचार लेखनी द्वारा बाहर आने लगे। उस समय की अपनी अवस्था पर आध्यात्मिक विचार करने से मुझे अब पता लगता है कि जब तक मनुष्य का अचार दृढ़ न हो जावे तब तक बारम्बार की निराशा मनुष्य को बड़ा ही निरुत्साह बना देती है। मुझ से कोमल हृदय मनुष्य पर बार-बार अकृत कार्यता और विरोध के वज्र प्रहार होने ही चाहिये थे, नहीं तो वह निर्बल शरीर और मन आगामी भीषण घटनाओं में से बचकर कैसे निकल सकता।

मार्गशीर्ष के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर के आरम्भ) में ही मैं जालन्धर लौट आया

और अब आर्यसमाज जालन्धर का द्वितीय वार्षिकोत्सव मनाने की चिन्ता उत्पन्न हुई। किराये के मकान को तिलांजलि देकर हम लोग अपने आर्य मन्दिर के वर्तमान स्थान को कच्ची ईंटों की दीवार से घेर कर एक कच्चा कोठा बनाकर उसमें आ गये थे। मकान को सजाने का काम तो हो सकता था और यथाशक्ति धन भी एकत्र कर लिया था किन्तु वार्षिकोत्सव के लिए योग्य उपदेशकों की आवश्यकता थी। लाहौर ही उस समय सब कुछ था। लाहौर से हमें टका सा जवाब मिला। हमने अपने मित्र काली बाबू को जोर देकर लिखा। वे तो गये किन्तु और कोई उपदेशक न मिला। यह दूसरा अवसर था जब दूसरों पर निर्भर करने से निराश हुए और जालन्धर आर्यसमाज में 'आत्म भरोसे' की इसे ही बुनियाद समझना चाहिए।

हम लोगों ने काम बाँट लिये। दोनों बैठकों में धर्मोपदेश श्री देवराज जी मंत्री ने दिए। एक व्याख्यान मास्टर भक्तराम बी.ए. उपप्रधान ने दिया, दो व्याख्यान मैंने और दो काली बाबू ने इस प्रकार उत्सव भली प्रकार मनाया गया। इसी समय से मैंने जालन्धर आर्यसमाज के भाइयों सहित ग्रामों में जाकर वैदिक धर्म के प्रचार की प्रथा चलाई जो परमेश्वर की कृपा से कुछ वर्षों तक बहुत ही फलीभूत होती रही।

काली बाबू वैसे तो आर्यसमाजी बन गए किन्तु आर्यसमाज के सिद्धान्तों से निरे कोरे। जब माघ में पुनः लाहौर गया तो मैंने श्री लाला साईंदास जी से शिकायत की कि काली बाबू अपने सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं जानते, इन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़ने के लिए बाधित करना चाहिए। काली बाबू का उत्तर विचित्र था, वे बोले-'लाला जी मुझे कैसे कह सकते हैं? इन्होंने तो मुझे भाई तारूसिंह और बांधसिंह व धेलसिंह की कहानियाँ सुनाकर आर्यसमाजी बनाया था तुम्हारा जो मर्जी आवे कहो।' मैंने जोर दिया कि मेरे कहने पर ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ना आरम्भ कर दो तब काली बाबू ने ऐसा ही किया।

४ माघ संवत् १९४४ (१७ जनवरी सन् १८८८ ई०) को मैं वकालत की परीक्षा देने लाहौर की ओर फिर चला, रास्ते में गुरदासपुर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर उतरा। मुझे उस समाज की दशा देखकर बड़ा कष्ट हुआ। मेरी दिन-पत्रिका (डायरी) में लिखा है कि सायं काल को गुरदासपुर वहाँ के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने को पहुँचा। इस समाज की दशा शोचनीय है। इसलिए

समाज की सेवा करने के स्थान में वे उल्टे हानिकारक ही रहे हैं।'

इन्हीं शराबी–कबाबी वकीलों में से सवा दो वर्ष के पश्चात् एक ने जो करतूत जालन्धर प्रान्त में की थी उसे यहाँ भी भुगता देना ठीक है। मैंने बड़े परिश्रम से फिल्लौर में आर्यसमाज की स्थापना की थी। प्रधान और मंत्री को मद्य मांस की फैलावट से निकालकर वैदिक धर्म का सच्चा भक्त बनाया था। हमारे मंत्री जंगलात के महकमे में एक बड़े ओहदेदार थे। उनके एक गुरदासपुरी वकील मित्र (ऊपर लिखे आर्यसमाजी शराबियों में से एक) होलियों में फिल्लौर आ पहुँचे और न केवल हमारे स्थानिक मन्त्री को गिराकर किराये के समाज मंदिर में शराब ही ढुलाई प्रत्युत मंत्री और प्रधान को मना करने और बिगाड़कर चले जाने पर भी वेश्या को बुलाकर वहीं मुँह काला किया। तीसरे दिन मैं एक मुकद्दमे की पैरवी में फिल्लौर पहुँचा तो मेरे मित्र सैयद आबिद हुसैन तहसीलदार ने सारा हाल कह सुनाया। वेश्या ने फौजदारी में अर्जी दी थी क्योंकि शराबी वकील उसे बिना कुछ दिये रात को रेल में ही भाग गया था। सैयद साहब ने हमारे मंत्री और प्रधान को बदनामी से बचाने के लिए अपने पास से पाँच दस रुपये देकर अर्जी फड़वा दी। मैंने सैयद साहब की कृपा को धन्यवाद दिया किन्तु उनसे कहा कि ऐसा करने से उन्होंने पाप किया है। उसके लिए भी मेरा यह उत्तर नया ही था, क्योंकि वे बड़े चकित से प्रतीत हुए। किन्तु मैंने क्या किया? उसी समय सायंकाल व्याख्यान का ढिंढोरा पिटवा दिया और वैदिक धर्म के महत्त्व का सन्देश उपस्थित सज्जनों को सुनाकर अन्त में घोषणा कर दी, आर्य अधिकारियों के पतित हो जाने से अब फिल्लौर में कोई समाज नहीं है।

यह शायद पहिला ही अवसर था कि मैंने आर्यसमाज की सेवा की बदौलत एक शत्रु खड़ा कर लिया। फिल्लौर के प्रधान और मंत्री ने अन्त को अपने किए का प्रायश्चित्त किया और मुझे मिलते रहे। किन्तु गुरदासपुर के वकील साहब उसी दिन से मेरे विरोधी हो गये। मेरे विरोधी तो हुए किन्तु आर्यसमाज का पिण्ड उन से छूट गया और अपनी पौराणिक जाति के महामान्य लीडर बन गये।

माघ के मध्य (जनवरी मास के अन्त) में शनिवार को मैं अमृतसर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने को गया जहाँ मुझे देवराज जी भी मिले। परीक्षा इतनी समीप और मुझे वार्षिकोत्सव में जाने की सूझ रही थी। इसका

कारण सर्वथा मेरा आर्यसमाज के साथ अनुराग ही न था, विशेष कारण यह था कि पढ़ने में रुचि न थी और दिन कटने कठिन हो रहे थे, इसलिए दिल बहलाने के लिए अमृतसर चला गया।

२४ माघ (६ फरवरी) को मेरी परीक्षा शुरू हुई और २९ माघ (११ फरवरी) को समाप्त हो गई। प्रश्न पत्रों के उत्तर मैंने अच्छे लिखे थे और परिणाम भी अच्छा ही निकला। कुछ दिनों के पश्चात् जालन्धर समाचार पहुँचा कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूँ।

परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् तभी मैं एक सप्ताह लाहौर में और ठहरा। परीक्षा के बाद मैंने पहला उपदेश लाहौर आर्यसमाज की वेदी पर से दिया, जिसे श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया था। इसलिए मुझे फिर एक उपदेश देने के लिए बाधित किया गया। इसके अतिरिक्त इन्हीं दिनों विशेष विज्ञापन देकर मेरा एक अंग्रेजी का व्याख्यान रखा गया जिसका विषय था मैरेज, इट्स रेलिजस, मोरल एंड सोशल एस्पेक्ट। इस व्याख्यान के विषय में मेरी डायरी में लिखा है–'इस व्याख्यान में मेरी आशा के अनुसार कृतकार्यता न हुई। जनसंख्या केवल २०० के लगभग थी।' साथ ही लिखा है–'इसी दिन अग्निहोत्री के देवसमाज का वार्षिकोत्सव प्रारम्भ हुआ। १६-१७ फरवरी को मैंने अग्निहोत्री के दो व्याख्यान सुने।' मैं उन दिनों गुमनाम था, अग्निहोत्री की प्रसिद्धि अपने यौवन पर थी, उनके व्याख्यानों को छोड़ मुझे कौन सुनने आता।

फिर जालन्धर में

६ फाल्गुन (१८ फरवरी) को जालन्धर लौट आया। उन दिनों मुझे पिता से मिली हुई भूमि में एकान्त निवास के लिए मकान बनवाने और एतदर्थ उस भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने तथा उसके कुछ भाग पर वाटिका लगाने की धुन लगी हुई थी। इसी के प्रबन्ध के लिए एक निर्धन सम्बन्धी को कुछ वेतन पर नियत कर रखा था। (फरवरी मास के अन्त) में मैं उसी काम की देखभाल के लिए अपनी जन्मभूमि तलवन में चला गया।

फाल्गुन-चैत्र (मार्च के महीने) में मैं साधारणतया अपने काम में लगा रहा। इसी मास में वकीलों और अन्य अंग्रेजी पढ़े लिखे हुओं को इकट्ठा करके मैंने एक वाग्वर्धिनी सभा खुलवाई जिसका मैं ही मन्त्री नियुक्त किया गया। यह सभा कुछ

महीनों चलकर ही समाप्त हो गई। इसी मास में दिल्ली के रायबहादुर मास्टर प्यारेलाल जालन्धर सर्कल के इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स बनकर आये जिनके साथ मेरा बड़ा गहरा सम्बन्ध हो गया। आर्यसमाज के सम्बन्ध में इस महीने एक ही घटना हुई जिसने उसे अनपढ़ों में प्रचार के लिए एक पुरुषार्थी सेवक दिया। लुधियाने का चिरंजी एक बाँका पहलवान था। वह आर्यसमाजी होकर बैतुलबाजी किया करता था कि एक ब्राह्मण ने अपने यजमान से लाया हुआ दान सामने किया और कहा-'यदि हिम्मत है तो ले।' बहादुर चिरंजीव ने उपरने में बँधे चावल, नकदी सब ले लिया और चल दिया। ब्राह्मण हक्का-बक्का रह गया और अपना माल माँगने लगा। चिरंजीव धुतकार कर चल दिया। ब्राह्मण ने पण्डित लक्ष्मीसहाय मजिस्ट्रेट के यहाँ दावा दायर किया। वे ब्राह्मण थे। चिरंजीलाल को कैद का दण्ड मिला। मेरे पास उसी समय आदमी भागा आया। लुधियाने की अपीलें उन दिनों जालंधर के सेशन जज के यहाँ होती थी। मैंने अपील दायर की और चिरंजीलाल बरी होकर मेरे पास पहुँच गया।

धर्मप्रचार की धुन

वैशाख संवत् १९४५ के दूसरे (अप्रैल १८८८ के अन्तिम) सप्ताह में फिर अपने ग्राम तलवन में गया। अपने पुत्र के नामकरण संस्कार को केवल अपने दूसरे भाइयों से आग्रह पर रोके हुए था। उनकी इच्छा थी कि मैं उसका नामकरण अपनी जन्मभूमि के गृह में करूँ। इसलिए मैं १४ वैशाख (२७ अप्रैल) को तलवन पहुँचा। जालन्धर के दो आर्य भाई भी साथ गए थे और लुधियाना से चिरंजीवलाल पहुँच गया। हमारा कुलाचार यह था कि बालक को चूड़ाकरण से पहिले (जो तीसरे वर्ष होता है) कपड़े न पहिनाए जायें। हमारे सबसे बड़े चाचा जीते थे, वह कट्टर सनातनी और क्रोधी थे। मेरे भाइयों को भय था कि कहीं वे कुछ उपद्रव न खड़ा करें किन्तु मैंने उसको भी बुलावा भेजा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ जब कुलाचार के विरुद्ध उन्होंने हाथों से बालक को सिले हुए कपड़े पहिनाये और उस का नाम हरिश्चन्द्र रखा। मैंने अपने जीवन को प्राय: देखा है कि यदि निरभिमान होकर सरलता से बर्ताव किया जाये और बिना दूसरों को चिढ़ाए अपने मन्तव्य पर दृढ़ता दिखाई जाए तो कट्टर से कट्टर विरोधी की दृष्टि से भी मनुष्य माननीय बन जाता है।

तलवन में इन दिनों चिरंजीवलाल की बैतुलबाजी की धूम रही। जालन्धर

लौटते हुए रास्ते में नकोदर में प्रचार हुआ। चिरंजीवलाल ही मेरा सबसे बड़ा विज्ञापन था। वह इस प्रकार कि मुझे उस स्थान में बैठाकर जहाँ मैं व्याख्यान देना चाहता, चिरंजीवलाल बाजार में चला जाता, दुकानदार का ऊँचा मूढ़ा देखता वहीं खड़े होकर अपनी सिंहगरज से एक बैत सुनाता, फिर कहता, 'प्यारया, मूढ़ा कुछ चर लई दे तो होर बैताँ सुनावा।' वहाँ इनकार कब था, मूढ़े पर खड़े होकर बैतों द्वारा लच्छेदार खण्डन होने लगा। जब ५० एक आदमी जमा हो जाते तो चिरंजीवलाल मूढ़ा उठाकर २० कदम आगे हो जाता और मूढ़े पर चढ़कर फिर स्वर अलापता। जब १०० हो जाते तो पचास कदम आगे को चलकर पिड़ जमाया। इसी प्रकार जनसंख्या बढ़ाते-बढ़ाते चार-पाँच सौ मेरे सामने लाकर खड़े कर दिये और अपने श्रोताओं से कहा-'हुण विदवानां दियां गल्लां सुनो, दिखों कहीं अमृत वर्खा है।' लोग सब बैठ गये और मेरा व्याख्यान प्रारम्भ हो गया।

जालन्धर लौटकर मैंने वकालत के काम में जहाँ नियमपूर्वक भाग लेना आरम्भ किया वहाँ जीवन सुधार की ओर भी खिंच चला। प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर मैं भ्रमण करने जाता था, उसी समय थोड़ा दौड़ भी लेता था। यह प्रातःकाल का व्यायाम था, इसमें एक घण्टा लगाता। फिर स्नान करके सन्ध्या अग्निहोत्र, जिसके पश्चात् गौ-दुग्ध पीता और पत्रों के उत्तर देने में लग जाता। यह अभ्यास मुझे उसी समय से है। तुच्छ से तुच्छ और व्यर्थ पत्र को काम टोकरी से तब तक अलग न किया जावे, जब तक उसका उत्तर न भेजा जाय। एक विचित्रता मुझ में और भी थी, जो अब तक है। जब तक मेज पर पड़ा नित्य का काम समाप्त न हो जाए तब तक मन प्रसन्न नहीं होता। आठ बजे समाचारपत्र भी पढ़ निवृत्त हो मुकद्दमों वालों को बुलाया जाता और पौने दस बजे उनका सब काम तैयार। मुझे १०, १२ मुकद्दमों की तैयारी में भी इससे अधिक समय कभी नहीं लगा। फिर भोजन करके कचहरी। कचहरी से अपना सारा काम समाप्त होते ही मैं घर चल देता, अन्य वकीलों की तरह शिकार की प्रतीक्षा में बार रूम में न बैठा रहता। कभी-कभी घर लौटते समय २ वा २.३० ही बजते, तब छः बजे तक शतरंज चलती। हुक्का और शतरंज, ये दो व्यसन अब तक मुझ से नहीं छुटे थे, और हुक्के के शान्तिप्रद धुएँ का आनन्द लेने के लिए ही मैं शतरंज भी खेलता। जालन्धर द्वाबे के प्रसिद्ध हुक्काइयों में से न होते हुए भी मेरा

नम्बर कुछ बहुत नीचे न था। शतरंज एक बार छोड़ भी दी थी किन्तु जब एक दिन लाहौर में आर्यसमाज के दो प्रसिद्ध नेताओं को घण्टों शतरंज खेलते देखा तो घृणा का भाव दूर हो गया और मैं उसी व्यसन में फिर फँस गया। सच है–'**महाजनों येन गतः स पन्था।**' यदि सब अधेड़ और बूढ़े जवान नेता तक समझ लें कि कोई न कोई व्यक्ति अवश्य उनका अनुकरण करेगा तब व्यसनों के फैलाने की बहुत कम सम्भावना हो जाये। सम्वत् १९४५में कई बार मुझे इन दोनों व्यसनों से, विशेषतः शतरंज से घृणा हुई। एक दिन की दिन–पत्रिका (डायरी) में लिखा है 'मुझे शतरंज के व्यसन से मुक्त होना चाहिये, यह मेरा बहुत समय नष्ट करता है।' फिर लिखा है 'हम शतरंज खेलते रहे। समय को नष्ट करने का बुरा ढंग।' आत्मा की इस जागृति का परिणाम यह हुआ कि शतरंज का खेल चार महीनों में ही बन्द हो गया और हुक्का भी विदा हुआ। हुक्का तो बीच में फिर जारी होकर डेढ़ वर्ष चला था। किन्तु शतरंज सदा के लिए ही चल बसी।

सायंकाल या तो बग्घी में लम्बी सैर को चला जाता या म्युनिसिपल वाटिका में टेनिस के लिये ठहरता। भोजन के पश्चात् कुछ भाई मेरे मकान पर आते जिनके साथ नित्य सायंकाल ईश्वर प्रार्थना होती। इसके पश्चात् कुछ धर्मचर्चा होकर सब लोग विदा होते और मैं दस और कभी–कभी ग्यारह बजे तक पढ़ता रहता। इस दिनों ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के साथ मैंने इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विकासवादी लेखक स्पेन्सर के ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ किये थे।

राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध

ज्येष्ठ १९४५ में पहले मेरा सम्बन्ध नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ हुआ। प्रयाग के पायोनीयर और लाहौर के ट्रिब्यून का मैं बहुत पुराना ग्राहक हूँ इसलिए नेशनल कांग्रेस के विषय में सब कुछ पढ़ता रहता था, किन्तु इस वर्ष पहिले पहिल पंजाब में यह विचार हुआ कि कांग्रेस कमेटियाँ प्रत्येक जिले में बनाई जावें। हमारे मित्र काली बाबू जालन्धर और होशियारपुर का ठेका लेकर हमारे पास पहुँचे। उन्होंने इसे भाजीवाला मामला बना लिया था। हमारे गाढ़े समय में वे आड़े आये थे, अर्थात् जालन्धर आर्यसमाज के द्वितीय वार्षिकोत्सव पर जब सबने आने से इनकार कर दिया था, तो बाहर के ये ही अकेले व्याख्याता थे। इसलिए अब अपने पोलिटिकल मिशन

में हमसे सहायता माँगना उन्होंने अधिकार समझा। ४ ज्येष्ठ संवत् १९४५ (१८ मई १८८८ ईस्वी) के दिन बम्बई मेले में कालीबाबू जालन्धर पहुँचे। मेरी डायरी में लिखा है-'काली पोलिटिकल उद्देश्य लेकर यहाँ आया है, वह यहाँ कांग्रेस कमेटी स्थापित करना चाहता है। अपने साथ बाँटने के लिये कुछ पैफ्म्लेट भी लाया है। काली विचित्र आदमी है-इसके काम का ठीक मैदान यही राजनैतिक आन्दोलन प्रतीत होता है। धर्म सम्बन्धी काम उसके अनुकूल नहीं। बालकराम जी भी आ गए। हम नेशनल कांग्रेस कमेटी की स्थापना करने के साधनों पर विचार करते रहे।....एक बजे रात को एक आदमी आया और काली को होशियारपुर ले गया।' ज्येष्ठ (१९ मई) को होशियारपुर कमेटी बना काली बाबू ६ ज्येष्ठ (२० मई) आदित्यवार को जालन्धर लौट आए, मंदिर में उपदेश दिया। उसी दिन से मैं और बालकराम जी काली बाबू को उनके मिशन में कृतकार्य करने की चिन्ता में लगे। ज्येष्ठ (२१ मई, सोमवार) को काली बाबू ने फिर समाज मन्दिर में व्याख्यान दिया। फिर तो उनकी सहायता में सिरतोड़ प्रयत्न हुआ और एक बड़े आदमी की नई कोठी में १० ज्येष्ठ (२४ मई, महारानी विक्टोरिया के जन्मदिवस पर) को एक बड़ी सभा बैठी, और जगहों में तो रईस लोग कांग्रेस का नाम सुनकर कानों पर हाथ धरते थे, किन्तु लाला बालकराम के प्रेरित किये हुए जालन्धर का आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्युनिसिपल कमिश्नर, जमींदार से साहूकार सभी कांग्रेस कमेटी की बुनियाद डालने के लिए इकट्ठा हो गए। कांग्रेस के उद्देश्यों के साथ सहानुभूति के प्रस्ताव खानबहादुर जफल करीम खाँ वाइस प्रेसिडेण्ट, म्युनिसिपैलिटी ने पेश किया जिसका समर्थन सनातन धर्म सभा के प्रधान लाला हरभजराय जी आनरेरी मजिस्ट्रेट ने किया। इसी प्रकार वकीलादि को अलग रखकर बालकराम जी ने रईस से ही सारा काम कराया। मैंने दूसरे ही दिन इस अधिवेशन की रिपोर्ट लिखकर 'ट्रिब्यून' के लिए भेजी जो मुख्य लेख के स्थान में छपी और सारे पंजाब में जालन्धर के जलसे की धूम मच गई। किन्तु जिस मकान में दिन को हमारा जलसा हुआ था उसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है-'रात को उस मकान के अन्दर शराबियों में खूब जूतम-पैजार हुई। वाह! कांग्रेस की मीटिंग का कैसा शुभ परिणाम निकला।' इससे पता लगेगा कि **उस समय भी राजनीति को धर्म के प्रभाव से अलग करना मैं अधर्म समझता था।**

१७ ज्येष्ठ संवत् १९४५ (३१ सन् १८८८ ई०) के 'ट्रिब्यून' में कांग्रेस सम्बन्धी सम्मेलन का हाल छप गया। वकीलों के कमरे में धूम मच गई। उन दिनों सर सय्यद अहमद का व्यवस्थापत्र कांग्रेस के विरुद्ध निकल चुका था। जालंधर में भी एक अलीगढ़ पार्टी खड़ी हो गई थी जिसके मुख्य नेता वहां के एक नये मूंडे हुए वकील थे। इनके बाप-दादा ने कभी गोमांस भी नहीं किया था, किन्तु अलीगढ़ के पक्षपात का पहिला परिणाम यह हुआ कि इन्होंने गोमांस खाया। किन्तु सृष्टि-नियम भी विचित्र है, गो मांस खाते ही इनके हृदय-शूल उठा और उनके घर वालों ने भी उस शूल को पाप का फल ही बतलाया-अस्तु। अलीगढ़ पार्टी को कांग्रेस पार्टी वालों ने खूब छेड़ना शुरू किया, परिणाम यह हुआ कि अलीगढ़ियों ने सब मुसलमान सभ्यों को, दो के अतिरिक्त, कांग्रेस के पक्ष से जुदा कर लिया। दो पक्षपातहीन मुसलमान भाई, जिनकी ओर मैंने इशारा किया है, श्री ख्वाजा साहब मुहम्मद साहेब वकील और श्री परीरजादा खाँ साहेब मुख्तार थे। ये दोनों सदैव मेरे मित्र रहे और इनके लिए मेरे मन में बड़ा ही आदर का भाव था।

इस वर्ष (१८८८ ई०) कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन प्रयाग में होने वाला था। वहाँ के लाट महोदय सर आक्लेण्ड कलविन ने विरोध भी किया था और उस पर कांग्रेस के जनरल सैक्रेटरी मिस्टर ह्यूम ने उनको लताड़ भी खूब बतलाई थी। उस विरोध को दूर करने के लिए पंजाब में बम्बई के महाशय अली मुहम्मद भीमजी भेजे गए थे। उनका पहला व्याख्यान शायद सितम्बर में हुआ था, जब मैं जालन्धर में उपस्थित न था। उस समय अलीगढ़ पार्टी ने बड़ा विघ्न डालने का प्रयत्न किया। बाजार की उन तिमुहानी पर जहाँ इस समय शराब वाले की दुकान है, महाशय भीम जी का व्याख्यान होने वाला था। पास ही 'फखरे-कौम' मुन्सिफ फखरुद्दीन साहब का मकान था। आपने काफीगाने की मजलिस की ठान ली। एक ओर लोग व्याख्यान सुनने को जमा और दूसरी ओर साथ ही सारंगी, तबला, ताऊस और रोगियों के गले फाड़ने का शोर-शराबा भला व्याख्यान क्या होता? इस पर जब मुसलमान रईसों का लानत-मलामत की गई तो सूबेदार मेजर गुलामहुसैन साहब ने बालकराम जी द्वारा महाशय भीम जी को फिर बुला भेजा। एक बड़े मैदान में उनका व्याख्यान ठहराया गया। मैंने ही अधिवेशन का सारा प्रबन्ध किया था। पहिले तो डेढ़ हजार से अधिक

पुरुष इकट्ठे हुए जिनमें ५० के लगभग मुसलमान सज्जन थे, किन्तु फिर श्रोताओं ने उठना आरम्भ कर दिया और ७०० के लगभग जनसंख्या रह गई। इसका भी एक विशेष कारण था जिसका वर्णन पाठकों के लिए बड़ा मनोरंजक होगा। जालन्धर में लिखित विज्ञापनों के अतिरिक्त हम लोग जलसों की सूचना डुगडुगी द्वारा भी दिया करते थे। डुगडुगी पीटने वाले को 'अली मुहम्मद' और लेक्चर आदि शब्द भूल गए और उसने मनघड़न्त हाक लगानी शुरू कर दी–'ढप! ढप!! ढप!!!' बोल खलक खुदा दी, मुल्क मुल्का दा हुकुम कम्पणी बहादुर दा! होकर आर्यों दा लश्कर भी आयगा ठीक चार बजे लाला सालिगराम दी मण्डी विच पण्डित भीमसेन दा समाज हो–वैगा! सब लोग हाजिर हो जाओ।'

इस हाँक को सुनकर बूढ़े बनिये–ब्राह्मण भी टेढ़ी कमर को लाठियों का सहारा दिए चल दिए। 'चलो ! बड़े स्वामी का चेला पण्डित भीमसेन आया है। बड़ा उत्तम धर्मोपदेश होगा। यह दुर्लभ समय फिर कब मिलेगा।' इसी प्रकार की किंवदन्ती करते सैकड़ों सनातनी पहुँच गए। परन्तु जब लम्बा चोगा और खोजों वाली पंगड़ी किए महाशय अलीमुहम्मद के मुँह से अंग्रेजी रिपोर्टों के हवाले निकलने आरम्भ हुए तो इन बूढ़ों की आँखें खुली और शनैः–शनैः कांग्रेस और राजनीति से अनभिज्ञ सब पँछी उडन्छू हो गए।

कांग्रेस के साथ अपना सम्बन्ध जतला कर उसकी एक वर्ष की कहानी एक स्थान में ही समाप्त करना उचित समझकर बीच में आवश्यक घटनाएँ मैं छोड़ गया था। अब उनको क्रमशः लेता हूँ।

मेरी डायरी से पता लगता है कि १८८८ ई० वैखाश (ज्येष्ठ, संवत् १९४५) में ही मैंने वर्ण व्यवस्था पर एक लघु–पुस्तक लिखनी आरम्भ कर दी थी। १८ ज्येष्ठ (१ जून) को डायरी में लिखा है–'पेम्पलेट का थोड़ा भाग ही लिखा था कि आँधी चल पड़ी और काम बन्द करना पड़ा।' यह वह लघु पुस्तक है जो पहिले मैंने उर्दू में छपवा कर मुद्रित की थी।

२० ज्येष्ठ संवत् १९४५ (३ जून सन् १८८९ ई०) का दिन विशेष स्मरण के योग्य है। जो बड़ा मकान मैंने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की सेवा में अर्पण कर दिया है और जिसे बेचकर सभा ने २० हजार रुपये गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा कर दिए

हैं। उसकी आधारशिला उसी दिन रखी गई थी। मेरे मकान की बुनियाद पड़ने से पहिले सड़क की दूसरी ओर इसी भूमि के सामने समाज मन्दिर का कच्चा आँगन गिर चुका था। तब अपने नैतिक कामों का अंग मैंने यह भी बना लिया कि नित्य सायंकाल की अपनी नई इमारत का काम देखकर ही समाज मन्दिर में प्रवेश करता। सायंकाल की संध्या भी प्रातः समाज मन्दिर में होती और नित्य नए भगवे-पोष साधुओं से भेंट होती। भारतवर्ष के आधे से अधिक साधु जालंधर के सोढल स्थानों में घूमते हैं। आर्यसमाज में सायंकाल की इसी ज्ञानचर्चा ने मुझे भारतवर्ष के आधे से अधिक साधुओं से परिचित करवा दिया था।

एक दिन जून (ज्येष्ठ-आषाढ़) मास में नास्तिक रोड्डे साधुओं का गुरु मुकद्दमा लेकर आया। उसकी हँसी उसी प्रकार की थी जैसी इंग्लैण्ड के प्रधान कवि मिल्टन ने खुदा के विपक्षी की उपमा में लिखी है। अश्रद्धा की स्वयं मूर्ति होने के साथ ही यह मेलाराम किसी भी बुराई में कम नहीं मालूम होता था। इसको मिलने के पश्चात् ही मुझे रोड्डे साधुओं के आचरणों का अधिक हाल मालूम हुआ।

संवत् १९४५ (सन् १८८८) को ग्रीष्म ऋतु में ही आर्य धर्मप्रचार के लिए हमारे, कपूरथला राजधानी पर धावे आरम्भ हुए। पहली बार १६ आषाढ़ (३० जून) को, जब मैं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिवेशन के लिये लाहौर जाने की तैयारी कर रहा था, कपूरथला से एक आर्य भाई व्याख्यान का निमन्त्रण देने आये। मैं लाहौर के स्थान में उन्हीं के साथ चला और कपूरथले पहुँचकर चिरंजीव लाल को बाजार में भेज दिया, जहाँ उसने अपनी खड़ी बोली की बैतों द्वारा हलचल मचा दी। चिरंजीव लाल की बैतुलबाजी ने ही विज्ञापन का काम दिया जो दूसरे प्रातः को व्याख्यान के लिए था।

दूसरे दिन (आदित्यवार को) प्रातःकाल ४ बजे से वर्षा का आरम्भ हुआ। मेरी डायरी में लिखा है-'भाई देवराज मूसलाधार वर्षा से ही भीगते हुए साढ़े छः बजे पहुँचे। कैसा महान् आत्मसमर्पण! ८ बजे के पश्चात् कुछ बादल उमड़े। देवराज जी ने बड़ी जन-उपस्थिति में नई सराय के अन्दर व्याख्यान दिया। मैंने मूर्तिपूजा विषय पर मास्टर पोल्होमल के साथ शास्त्रार्थ किया। लाला धूमामल जी की बग्घी में हम जालन्धर लौटे। जालन्धर समाज मन्दिर में मैंने ईश्वरोपासना के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश

की कथा की। फिर सुना कि लाहौर के अग्निहोत्री का शिष्य रामजवायामल आया है। कुछ आर्य भाइयों को लेकर उसे सुनने गया। यद्यपि उसका गुरु हमें गालियाँ देना ही अपना धर्म समझता है, तथा वह हमारा भाई है। जब हम पहुँचे, एक भी श्रोता न था। हमारे जाने पर रामजवाया ने ईश्वर प्रार्थना की और हमीं लोगों को व्याख्यान सुनाया।' मालूम होता है कि इस समय के देवगुरु भगवान् ने जो उस समय परम गुरु की उपासना का ढोंग भी रचता था, आर्यसमाज को मसालेदार गालियाँ देनी आरम्भ कर दी थी।

कपूरथले में वैदिक धर्म-प्रचार के बड़े भारी विरोधी रियासत के अकाउण्टेण्ट जनरल मिश्र अछरूमल थे। ये महाशय वैसे तो सदाचारी थे किन्तु कट्टर सनातनी होने के कारण आर्यसमाज के पूरे शत्रु थे। इनके मकान की दीवार का आर्यसमाज के अधिवेशन का विज्ञापन लगाने यदि कोई जाता, उसे मारकर भाग देते, यदि कभी आँखें बचाकर लगा ही जाता तो सारी दीवार को पानी से धुलवा डालते। १७ श्रावण (२ अगस्त) को एक आर्य भाई की माता के देहान्त पर मैं उसका अन्त्येष्टि-संस्कार कराने फिर कपूरथला गया। दीवान मिश्र अछरूमल ने फिर बड़ा विरोध किया। किन्तु श्मशान भूमि में मृतक की अर्थी के साथ चार-पाँच सौ के अनुमान से नर नारी पहुँच गये। इन पर संस्कार का बड़ा धार्मिक प्रभाव पड़ा और अन्तिम ईश्वर प्रार्थना तथा उपदेश को सुनकर कइयों ने वैदिक धर्म ग्रहण किया। इस बार दीवान अछरूमल ने कहला भेजा 'अब के तो मौत के कारण छोड़ दिया, फिर आवेंगे तो कैद करा दूँगा।' इसी चैलेंज को स्वीकार करके मैं कई बार फिर कपूरथले गया किन्तु साहब की धमकी कार्य में कभी भी परिणत न हुई।

अशान्ति में शान्ति

जुलाई के महीने में ही मेरे सबसे ज्येष्ठ भ्राता का एक मुकद्दमा था। एक मुसलमान ने उन पर मस्जिद का कुछ स्थान अपने तबेले में मिला लेने का झठा अभियोग चलाया। तब तबेला बन रहा था तो मुसलमान ने धमकी दी यदि उसको २००/-रु० न दिये तो वह धार्मिक भावों पर आक्रमण करने के दोष में दावा कर देगा। भाई साहेब ने मेरी सम्मति पूछी। मैंने उन्हें कहा कि झूठे की धमकी की परवाह न कर सत्य पर आरूढ़ रहना चाहिए। मेरी इस सम्मति का यह फल हुआ कि बेचारे दो तीन

महीनों तक अभियोग में घिसटते फिरे। मैंने कानूनी पैरवी तो की किन्तु जब सनातनी ब्राह्मण मैजिस्ट्रेट को मुसलमान ने धमकी दी कि वह उन पर हिन्दू का पक्षपात करने का दोषारोपण करेगा तो मजिस्ट्रेट ने बिना सबूत के ३०/-रु० जुर्माना कर दिया। डिविजनल जज के यहाँ भी यही सिद्ध हुआ कि दावा झूठा है और वह भूमि भी भाई साहब के कब्जे में रही किन्तु मुझे उन दिनों बड़ा मानसिक कष्ट रहा। मेरी डायरी से पता लगता है कि जून और जुलाई के आषाढ़-श्रावण महीनों चित्त बड़ा अशान्त रहा, किन्तु २८ जुलाई (१२ श्रावण) को जब लाहौर गया तो उस बड़े नगर से अशान्ति के स्थान में शान्ति लाया। मेरी डायरी में लिखा है-'पण्डित गुरुदत्त को मिला। मुक्ति विषय में उनके साथ बहुत बातचीत हुई। सर्व मुख्य नियमों में उनकी मेरे विचारों के साथ सहमति है। दूसरे दिन आदित्यवार को लाहौर आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। उपस्थिति ३०० से अधिक थी। वहाँ से लाला साईंदास के मकान पर पण्डित गुरुदत्त सहित गया, जहाँ सामाजिक नियमों पर परस्पर विचार होता रहा। प्रिय गुरुदत्त को मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।'

सन् १८८८ का सितम्बर मास (भाद्रपद-आश्विन, संवत् १९४५) मैंने अपने ग्राम तलवन में व्यतीत किया। नैत्यिक सत्संग के अतिरिक्त मैंने एक कन्या पाठशाला भी खुलवा दी किन्तु आध्यापिका की अयोग्यता के कारण जालंधर लौटते हुए उसे बन्द करना पड़ा। अपने कुटुम्ब में बहुत से सामाजिक संशोधन का भी प्रयत्न किया। अच्छे कामों के लिए जहाँ एक कौड़ी देने का भी अभ्यास न था वहाँ सामूहिक शक्ति के काम करना और उसके लिए धन व्यय करना भी मैंने यथाशक्ति अपनी पुरानी बिरादरी वालों को सिखाया। मास के अन्तिम धर्म भाग में एक अताई का नुस्खा लेकर मैंने यूनानी जुलाब लिया जिसने मुझे बहुत निर्बल कर दिया। उसी अवस्था में १५ आश्विन (१ अक्तूबर) को मैं तलवन से चल दिया। कुछ अस्वस्थ होने पर इसी मास में एक नये काम की बुनियाद डाली गई जिसने मेरे चिरकाल के विचार को क्रिया में परणित कर दिया। जिस संस्था का नाम इस समय कन्या महाविद्यालय जालंधर है उसके संस्थापक की कथा बहुत ही साधारण किन्तु शिक्षाप्रद है। जिस समय मैं वृत्तान्त लिख रहा हूँ उस समय जालंधर में एक पहाड़ी वृद्ध स्त्री रहती थी, जिसे 'माई लाडो' कहकर लोग पुकारते थे। जो भी कुछ अक्षराभ्यास हिन्दी का हिन्दू महिलाओं

का था, इस माई की कृपा का परिणाम था। मेरी धर्मपत्नी ने भी इसी माई से कुछ पढ़ा था। इस माई को कुछ विशेष लालच देकर ईसाइयों ने अपनी पुत्री पाठशाला में रख लिया। यह अपनी शिष्या स्त्रियों की लड़कियों को लिहाज–मुलाहजे के दबाव से ईसाई पुत्री पाठशाला में ले जाया करती थी। इसी प्रकार मेरी पुत्री को भी उन्हीं की पाठशाला में बैठाया गया। २ कार्तिक, संवत् १९४५ (१९ अक्तूबर १८८८) को डायरी में लिखा है–'कचहरी से लौटकर जब अन्दर गया तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीखकर आई थी, सुनाने लगी–'इकबार ईसा, ईसा बोल तेरा क्या लगेगा मोल। ईसा मेरा रास रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया, इत्यादि।' मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखाई जाती है। निश्चय किया कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिए।'

तीसरे दिन आदित्यवार था। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन में रायबहादुर बख्शी सोहनलाल प्लीडर भी सम्मिलित थे। हम दोनों घर को इकट्ठे लोटे। मैंने बख्शी जी से आर्य पुत्री पाठशाला की बात छेड़ी, वे पहिले ही से तैयार मिले क्योंकि उनको भी पता लग चुका था, कि उनकी लड़की को क्या पढ़ाया जाता है। फिर क्या था, मैंने उसी रात बैठकर एक अपील लिखी और दूसरे दिन से ही चन्दा लिखाना शुरू हो गया। मेरी डायरी से पता लगता है कि मध्य कार्तिक (अक्तूबर के अन्त) तक मैं बराबर चन्दा इकट्ठा करता रहा। १७ कार्तिक (६ नवम्बर, दिवाली) को ऋषि दयानन्द का मृत्यु दिवस था। उसी दिन प्रातः काल अपने घर में बृहद् हवन कराया। ४० महाशय उपस्थित थे। वहाँ कन्या पाठशाला के लिए फिर अपील की गई। रात को समाज मन्दिर में ऋषि दयानन्द के जीवन पर मैंने ही व्याख्यान दिया। इन्हीं दिनों एक दूसरे बड़े लाभ की बुनियाद डालने का विचार उपस्थित हुआ। धर्म सेवा के लिये जहाँ अन्दर से उत्साह उत्पन्न होने लगा वहाँ साथ ही साथ साधन भी प्राप्त होने लगे। इन्हीं दिनों में से एक दिन राज–मजदूरों को साप्ताहिक वेतन बाँटना था, पास फूटी कौड़ी नहीं थी। बड़ी चिन्ता थी कि तीसरे पहर तक १३० की आमदनी हो गई। मेरी डायरी में लिखा है–'मनुष्य को कभी निराश न होना चाहिये, परमात्मा पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये।' मुझे इन दिनों अपने विचार सर्वसाधारण तक पहुँचाने के

लिये किसी साधन की आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्मा ने मार्ग दर्शा दिया और ऋषि उत्सव के दूसरे दिन ही 'सद्धर्म प्रचारक' साप्ताहिक उर्दू पत्र के निकालने का विचार दृढ़ हुआ। दूसरे ही दिन पच्चीस-पच्चीस रुपयों के १६ हिस्सेदार पैदा हो गये और प्रेस का सामान क्रय करने की सूझने लगी। सभी जालन्धरी हिस्सेदार आये थे। इस समय से चैत्र संवत् १९४६ के अन्त तक सब प्रबन्ध होता रहा और १ वैशाख १९४७ को प्रचारक का पहिला अंक निकला।

एक ब्रिटिश शासक से भेंट

इन्हीं दिनों शिक्षा समिति के प्रधान सर चार्ल्स एचीसन महोदय अपने कमीशन का काम समाप्त करके जालन्धर में अपने सम्बन्धी मैकवर्थ यंग, कमिश्नर को मिलने आये थे। जो सर मैकवथर्स संग बनकर पीछे पंजाब के लाट साहब बने थे। उन्हें मिलने जालन्धर के रईस आग्रहपूर्वक मुझे साथ ले गये। उस मिलाप का हाल मेरी डायरी में लिखा है-'रईस लोग तो प्रशंसायुक्त अत्युक्तियों पर ही भेंट समाप्त करना चाहते थे परन्तु मैंने स्कूलों और कॉलेजों में फीस बढ़ाने का विषय छोड़ दिया।' सर चार्ल्स ने मुझे रोकने के लिए कहा, 'मैं तो फीस बढ़ाने का पक्षपाती हूँ, जब गवर्नमैंट अपनी प्रजा के भोजन का प्रबन्ध नहीं करती तो शिक्षा का प्रबन्ध उनका उसके लिए किसी युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।' मैंने उत्तर में कहा, 'मनुष्य स्वभावत: भोजन का सामान एकत्र करने को बाधित होते हैं, किन्तु छोटे बच्चों की तरह वे अभी शिक्षा के लाभों से परिचित नहीं। इसलिए दयालु माता की नाई गवर्नमैंट को शिक्षा के लिए लोगों को उत्साहित करना चाहिये।' मेरी डायरी में लिखा है कि सर चार्ल्स ने इस पर विषय को बदल दिया और नगर के समाचार पूछकर सब को विदा किया। इन दिनों मालूम होता है कि अपने नित्य कर्मों के नियम-बद्ध होने के कारण मेरी मानसिक दशा अच्छी रहने लगी थी। समाज के साप्ताहिक जलसों में उपदेशादि के अतिरिक्त घर पर कई सज्जनों को सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ भी मैं पढ़ाता था, कन्या पाठशाला के लिए आन्दोलन के अतिरिक्त आर्य पत्रिका के लिए लेख भी भेज दिया करता था और रात को शयन से पहले मेरे मकान पर आर्य भाई हरकीर्तन के लिए जमा होते थे।

लाहौर आर्यसमाज का बारहवां वार्षिकोत्सव

हम लोग लाहौर आर्यसमाज मन्दिर को एक तीर्थ स्थान समझते थे और बड़ी श्रद्धा से वहाँ के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए यात्रा करते थे। ७ मार्गशीर्ष (२५ नवम्बर) को नगर कीर्तन था, उस दिन रात को हम सब अपने घरों से चलकर रेलवे स्टेशन पर पहुँचे। ट्रेन दो बजे प्रात: चलती थी। हम दस-ग्यारह आर्य भाई पहिले तीसरे दर्जे के मुसाफिरखाने में गये। भाई देवराज ने आँखें बन्द करलीं और वेदमन्त्र का उच्चारण करके परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् बल तथा ज्ञान के लिए प्रार्थना की। आँखें खोलते ही पता लगा कि जनसंख्या अच्छी इकट्ठी हो गई है। मैंने पौन घण्टे तक धर्मोपदेश दिया और दो बजे की ट्रेन से लाहौर चल दिये। सारा प्रात:काल भजनों में बिताया, जिस स्टेशन पर रेल पहुँचती, हमारे भजनों को सुनने चुपचाप सब खड़े हो जाते। सन्ध्या से रास्ते में ही निवृत्त होकर ७ बजे प्रात: लाहौर पहुँचे। उन दिनों लाहौर में घोड़े से ट्राम चलती थी। एक ट्राम भरकर भजन गाते हुए उतारे के स्थान पर पहुँचे। वहाँ से लाहौर के बाजारों में भजन गाते हुए समाज मन्दिर में पहुँचे।

इस उत्सव में ही मास्टर दुर्गाप्रसाद जी का सोलह संस्कारों पर व्याख्यान सुनकर मेरा प्रेम उनके साथ अधिक हो गया था। किन्तु सब से बढ़कर पण्डित गुरुदत्त का व्याख्यान था जिसके विषय में मेरी डायरी में लिखा है-'इस व्याख्यान की क्या उपमा दूँ? ऋषि दयानन्द के उपदेशों के पश्चात् यही एक व्याख्यान सुनने में आया है।' यह उत्सव इसलिए भी स्मरणीय रहेगा कि मैंने पहले पहल पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान के पश्चात् ९ मार्गशीर्ष, संवत् १९४५ (२५ नवम्बर १८८८) के ११ बजे से हुक्का पीना छोड़ दिया था। १ मार्गशीर्ष (२ नवम्बर) को डायरी में लिखा है कि सारा दिन तम्बाकु नहीं पिया। ११ मार्गशीर्ष (२७ नवम्बर) को लिखा है 'तम्बाकू छोड़ने से बड़ा लाभ होगा। अभी पता लगता है कि बहुत सी सुस्ती दूर हो गई।' इसके कुछ दिन पीछे भूख अधिक लगने का लेख है। लाहौर से लौटकर मैं अपने ग्राम तलवन में गया। इन दिनों ही सांसारिक ऐश्वर्य तथा सांसारिक मान के संचय करने का विचार यद्यपि शिथिल हो चुका था किन्तु पर्याप्त धन इकट्ठा करके मानसिक जीवन व्यतीत करने के विचार दृढ़ हो रहे थे। इसलिए जहाँ जालन्धर वाले बंगले के नक्शों में उपासनालय के साथ-साथ पुस्तकालय के बड़े कमरे की बुनियाद रखी गई थी, वहाँ विचार के लिए एकान्त निवासार्थ ग्राम से दूर अपनी भूमि पर वाटिका तथा आश्रम बनाने का

काम भी हो रहा था। तीस दिवस जन्म-भूमि में धर्मप्रचार कर तथा नई वाटिका को हरियावल देकर जालंधर लौट आया।

इस वर्ष जालन्धर आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव भी बड़ी धूमधाम से हुआ। केवल धूमधाम ही न थी, जालन्धर निवासियों का काया पलट हो गया। उत्सव से पहिले एक तो मैंने विविध स्थानों में विशेष धर्मसम्बन्धी व्याख्यान दिए फिर पण्डित लेखराम आर्यपथिक से विचार कराया। जालन्धर के पौराणिक भी ऐसे काबू चढ़े कि एक विशेष अधिवेशन में पण्डित देवीचन्द्र न्यायाचार्य तथा वृद्ध पण्डित रामदत्त तक बाल विवाह का खण्डन कर गये।

ब्राह्म मुहूर्त में हरिकीर्तन

जब कभी मैं नवयुवक आर्यसमाजियों से पुराने समय अर्थात् संवत् १९५१ (सन् १८९४) की धर्म तथा सदाचार में श्रद्धा का वर्णन करता हूँ तो उनके मुख पर अविश्वास के से चिन्ह दिखाई पड़ते हैं और कोई-कोई स्पष्ट कह देते हैं कि उस समय सब ढकी-ढकाई बात थी इसलिए वह पुराना समय स्वर्णिम ज्ञात होता है। किन्तु मेरा अनुभव यही है कि जिस समय का मैं वर्णन कर रहा हूँ उस समय कम से कम जालन्धरी आर्यों में श्रद्धा की मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। यह स्वयं सिद्ध सच्चाई है कि जिस समय आराम लेकर सब इन्द्रियाँ स्वस्थ होती हैं उस समय (ब्राह्म मुहूर्त में) मनुष्य के आत्मा पर बुराई वा भलाई दोनों का प्रभाव प्रबल पड़ता है। इसी सच्चाई को अपना पथप्रदर्शक मानकर कुछ जालन्धरी और आशा के शक्तिदायक अलाप के साथ वैराग्य, श्रद्धा भक्ति और ईश्वर-स्तुति के भजन गाना आरम्भ करते थे। हमारे काम का ढंग यह था कि मुहल्ले वा गली के बीचों बीच खड़े होकर एक भजन पूरा करते और एकतारा पर स्वर छेड़ते आगे चल देते जहाँ तक मुझे याद है पाँच वर्षों तक हम लोग अपने वार्षिकोत्सव से डेढ़ दो महिने पहिले ऐसा ही अमल करते थे। कई बार हमारे साथ लाहौर ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध सभासद लाला काशीराम तथा बाबू अविनाशचन्द्र मजूमदार भी सम्मिलित हुआ करते थे। प्रातःकाल हरिकीर्तन के समय भी कभी-कभी विचित्र घटनाएँ होतीं। कभी किसी माता को कहते सुनता-बेचारा बड़ा भला फकीर है, केवल भजन गाता है।' माँगता कुछ नहीं और जब फिर दरवाजा खोलकर उसके निकलते में चल देता तो आवाज आती-'ऐ भाई! खैर लेजा!! किन्तु

जब मैं लौटकर भीख के लिए आंचल फैलाता, तो देवी को विस्मित देखकर बतला देता कि मैं आर्यसमाज का भिक्षुक हूँ और इसलिए फेरी डालता हूँ कि नर-नारी धर्म पिपासा बुझाने के लिए आर्य मन्दिर में एकत्र हों। कई देवियाँ तो हमें भिखमँगे समझकर ही अनाज, पैसा, दुअन्नी, आंचल में डाल जाती। मुझे याद है कि एक सवेरे की भीख की कमाई १० रुपये से कुछ अधिक मैंने उत्सव निधि में दी थी। वे दिन कैसे स्वच्छ और सुन्दर थे और उन्होंने मेरे आत्मा की उन्नति में क्या किया, उसे स्मरणी करके कभी-कभी हृदय मुग्ध हो जाता है। और मुझे पश्चात्ताप होता है कि ऐसी शक्तिदायक सेवा से पृथक होकर क्यों पत्थरों से टकराने का कठिन काम पकड़ लिया।

शायद यह प्रातःकाल का नगर कीर्तन बहुत वर्षों तक चलता किन्तु जब कुछ विरोधियों ने ढोलक को गले में डालकर प्रातः रासलीला और आर्यसमाज को गालियों के भजन गाने आरम्भ किए और पंजाबी वाग् व्यवहार के अनुसार हरिकीर्तन के स्थान में 'धम्मड़-धस्मा' मच गया तो जालन्धर आर्यसमाज में धर्मप्रचार का एक बड़ा अंग शिथिल हो गया।

जालन्धर आर्यसमाज का तीसरा वार्षिकोत्सव

यह उत्सव मेरे लिए सदा स्मरणीय रहेगा। पहिला कारण तो यह है कि उसी उत्सव पर सबसे पहले नगर कीर्तन की शान्ति का मैंने अनुभव किया। लाहौर आर्यसमाज के उत्सव के पश्चात् यहाँ पहले संन्यासी स्वामी स्वात्मानन्द जी आर्यसमाज को मिले वहाँ श्री स्वामी अच्युतानन्द जी पण्डित गुरुदत्त की विद्वत्ता और उनके धर्म भाव के काबू चढ़कर अपनी बड़ी मण्डली को छोड़ (जिसके वह महन्त थे) शुद्ध वैदिक धर्म की शरण में आ चुके थे। इन सब स्वामियों को साथ लेकर लगभग ४० आर्यभाइयों सहित १० पौष, संवत् १९४५ (२५ दिसम्बर १९८८) के मध्यान्होतर पण्डित गुरुदत्त जी रेल पर से उतरे। स्व॰ लाला साईंदास और लाला हंसराज बी.ए. भी साथ ही उतरे किन्तु रात की ट्रेन से ही अजमेर पधार गए। उन्हें परोपकारिणी के सभा के सम्बन्ध में पूरा भाग लेने की लगन थी और गुरुदत्त को वैदिक धर्म के प्रचार की। मुझे उन दिनों पता ही न था कि धार्मिक समाज में भी राजनीति के लिये स्थान हो सकता है और इसलिए अजमेर से पत्र प्राप्त होने पर भी मैं

जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव की तैयारी में लगा रहा।

नगर कीर्तन क्या था, सारे नगर-निवासियों के लिये प्रेम और शान्ति का सन्देश था। बाजे के साथ 'ओ३म्' का झण्डा लिये जालन्धर के एक प्रसिद्ध रईस, उनके पीछे पण्डित गुरुदत्त संन्यासी मण्डल सहित वेदमन्त्रों की अमृतवर्षा करते जा रहे हैं और उस साधु मण्डल के पीछे गृहस्थों के कई दल हरियशगान करते हुए जा रहे हैं। आं ! आं ! ऊ ! ऊ ! का अलाप वलाप कुछ नहीं और ना ही बाँह हिलाने से काम, किन्तु नगर-निवासियों पर प्रभाव ऐसा कि सारे बाजारों में शान्ति का राज्य दिखाई देता था।

दूसरी स्मरणीय बात उतारे के स्थान पर पहुँचकर सब भाइयों का सन्ध्या करना था जिसके पश्चात् सबने इकट्ठे होकर हवन किया। फिर स्वामी स्वात्मानन्द जी ने सन्ध्या की विधि और उसके लाभों पर व्याख्यान दिया और बहुत रात जाते तक आर्य भाई संन्यासी महात्माओं तथा पण्डित गुरुदत्त जी से धर्मविषयक निर्णय करते रहे।

संन्यासियों को सन्ध्या-अग्निहोत्र में सम्मिलित होते देख मुझे सन्देह हुआ था। मैंने पण्डित गुरुदत्त जी से अपनी शंका प्रकट की। पण्डित गुरुदत्त जी ने कहा कि जो संन्यासी, महात्मा, योगी हैं और सांसारिक वासनाओं से सर्वथा मुक्त, अल्पाहारी तथा उच्चकोटि के साधनसम्पन्न हैं उनके लिए इन बन्धनों से सर्वथा मुक्ति का विधान है। किन्तु जो संन्यासी दिन रात गृहस्थों की सेवा में लगे हुए सब प्रकार के भोजन छादन में फँसे हुए हैं उन्हें दो काल संध्या तथा अग्निहोत्र करना ही उचित है। इसी समय उन्होंने श्वेताश्वतरोपनिषत् का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया था-

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

शायद यही कारण है कि पण्डित गुरुदत्त के सत्संग में रहे हुए सर्व संन्यासी महात्मा दोनों काल संन्ध्या करते हैं जिस अवस्था में उनसे कम साधना वाले अन्य पुरुष संध्या करने में अपना अपमान समझते हैं।

तीसरी विशेषता यह थी कि इस उत्सव ने सर्वसाधारण को निश्चय करा दिया कि आर्यों में वेदशास्त्र के जाननेवाले प्रगल्भ विद्वान् विद्यमान हैं।

११ पौष, संवत् १९४५ (२६ दिसम्बर१८८८) को प्रातः स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज का धर्मोपदेश संस्कृत भाषा में हुआ। इस व्याख्यान के लिये पौराणिक पण्डितों के निमन्त्रण पत्र मैंने अपने हाथ से लिखकर भेजे थे। स्वामी जी ने नवीन वेदान्त का खण्डन करके जब वैदिक मत की स्थापना की तो एक पौराणिक पण्डित जिसके हाथ उक्त स्वामी जी का ही पुराना उपनिषद् भाष्य था, बोला-'इसमें क्या लिखा है और अब क्या अनर्थ कर रहे हो।'-स्वामी जी ने उत्तर दिया-'वह भी तो मेरा ही ग्रन्थ है, जब आँख खुलने पर मैंने ही उसका संशोधन किया।' पौराणिक पण्डित चुप हो गया। तीसरे पहर प्रश्नोत्तर (शंका समाधान) का समय था। पहले जालन्धर के प्रसिद्ध वेदान्ती मौनीजी को लोगों ने वेदी के सामने कुर्सी पर शास्त्रार्थ के लिए बैठा दिया। आर्यसमाज की वेदी पर श्री पण्डित गुरुदत्त जी आ विराजे। मौन साध के बैठे रहे, कुछ भी न बोले। तब उन्हें संकेत किया गया कि कुर्सी से नीचे आ जायें, जिससे दूसरों को शंका समाधान का समय मिले। किन्तु मौनी जी ऐसे जम के जड़-भक्त बन गये। तब उन्हें स्पष्ट कहकर नीचे बैठाया गया। इसी समय किसी ने नियोग और विधवा-विवाह पर प्रश्न किये। स्वामी स्वात्मानन्द जी ने बड़ा उत्तम समाधान किया। बाल-विधवा के विवाह को पण्डित गुरुदत्त जी ने ऐसी प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया कि करतारपुर (जिला जालन्धर) के एक प्रसिद्ध साहुकार ने अपनी बाल-विधवा पुत्री के विवाह कर देने का दृढ़ संकल्प धारण किया। भाई देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी भी उसी समय से बाल-विधवा के पक्षपाती हुए थे।

सायंकाल को पण्डित गुरुदत्त का व्याख्यान था। जालन्धर में भी उनकी धूम थी। बड़े बीची साहब, स्पैन्सर साहब, वकील और कुछ अन्य अंग्रेज सुनने आये थे पण्डित जी बड़ी गम्भीर भूमिका बाँध रहे थे। पण्डित जी की भूमिका सर्वसाधारण अनपढ़ों के लिए शुष्कसी प्रतीत होती थी, किन्तु सर वाल्टर स्काट के उपन्यासों की तरह जो भद्र पुरुष आधा घण्टे की (उनके लिए नीरस) भूमिका को सहन कर लेते उनके फिर पौन घण्टे तक स्वर्ग के झकोलों का आनन्द आता। मैं किसी काम के लिये उठा और प्रबन्ध एक और महाशय के सुपुर्द हुआ। लोगों ने तंग किया कि पण्डित गुरुदत्त का कुछ समय बाबू बेचाराम जी को देकर अन्तिम अपील उनसे कराई जावे। स्थानापन्न सभापति ने लिखकर दिया:-

'आपके पश्चात् बाबू बेचाराम जी अपील करेगें।' संस्था के दास गुरुदत्त ने पाँच मिनट में ही व्याख्यान समाप्त करके सबको आश्चर्य में डाल दिया।'

पण्डित गुरुदत्त का गुरुत्व

बेचाराम बाबू के हाथ पैर मारने और भाषा की बेजोड़ गढ़न्त पर कुछ जोशीले आर्यसमाजी तो प्रसन्न हुए किन्तु अंग्रेज और अन्य सुशिक्षित पुरुष आये थे उठकर चले गए। उन अंग्रेज भद्र पुरुषों ने पीछे मुझसे शिकायत की कि ऐसी विशाल भूमिका के पश्चात् न जाने कैसा सारगर्भित व्याख्यान होना था जिससे उनको वंचित रखा गया। १३ पौष (२८ दिसम्बर) को प्रातःकाल ही सब स्वामियों को देवराज जी अपने यहाँ ले गए किन्तु पण्डित गुरुदत्त जी लाला बालकराम को साथ ले मेरे यहाँ पहुँचे। वहाँ से दुग्धपान करके एक बड़ा चक्कर काटते हुए हम तीनों लाला देवराज के मकान को चल दिये। बालकराम जी को प्रश्नों द्वारा दूसरों की सम्मतियाँ जानने का बहुत अभ्यास था। बहुत से अन्य प्रश्नों के पश्चात् आपने पूछा-'पण्डित जी नेशनल कांग्रेस के बारे में आपकी क्या राय है' पण्डित जी चलते-चलते खड़े हो गए और बोले, 'नेशनल कांग्रेस के बारे में मेरी क्या राय है? अच्छा एक बड़े मैदान में लकड़ियों का एक ढेर लगाइये और उनमें आग लगा दीजिये। उस ढेर के नीचे चारों ओर ऊँचे मीनारों पर पानी के नल लगा दीजिए। फिर एक ओर तो भड़की हुई आग में ईन्धन डालते जाइये और दूसरी ओर पानी के नलकों में से सीधी धारा उस ज्वाला पर छोड़ते जाइये। यह है नेशनल कांग्रेस जिसका उद्देश्य कांस्टिट्यूशन एजिटेशन (वैध आन्दोलन) है।' लाला बालकराम ने दूसरा प्रश्न न पूछा ओर हम सब देवराज की हवेली में पहुँच गए।

उसी दिन राय रामलाल जी इन्जीनियर ने दूसरे दिन के लिए भी पण्डित जी को उनके साथियों सहित भोजन का निमन्त्रण दिया और प्रार्थना की कि पण्डित जी का एक व्याख्यान अवश्य कराया जावे क्योंकि पहिला व्याख्यान अधूरा छूटने से शिक्षित दल को शान्ति नहीं हुई। पण्डित जी ने उत्तर में कहा, 'मुझे कोई नई बात सुनाने के लिए सूझी नहीं फिर कैसे कह सकता हूँ कि व्याख्यान दूंगा वा नहीं।' इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वक्ता जान ब्राइट की नाई पण्डित गुरुदत्त बिना आवश्यकता और अनुभव के बोला नहीं करते थे। अस्तु।

देवराज जी के यहाँ सबने इकट्ठे भोजन किया और फिर विविध विषयों पर बातचीत होती रही। मध्यान्होत्तर में मैं और बालकराम जी धर्मसभा के जलसे में जो जुआखाने के मैदान में हो रहा था, जाने के लिए तैयार हुए। पण्डित गुरुदत्त जी ने भी चलने की इच्छा प्रकट की। शायद बालकराम जी ने उन्हें मना करके कहा-'पण्डित जी! व्याख्यानों की रिपोर्ट हम आपको देंगे। आप हमारे शिरोमणि लीडर हैं, आपको हम नहीं ले जाएँगे।' पण्डित जी का उत्तर घड़ा-घड़ाया था। संन्यासी स्वामियों की ओर संकेत करके बोले, 'गद्दी पर इन सबको बैठने दो, मुझे तो सुनने में ही आनन्द आएगा।' यह कहकर हमारे साथ हो लिए। दशोपनिषद् का गुटका हाथ में था। जलसे में पहुँच, एक ओर खड़े हो गए। एक पण्डित मूर्तिपूजा का खण्डन कर रहे थे, देर तक सुनने के पश्चात् पण्डित जी ने कहा-'लीजिए! अब जन साधारण के लिए सन्देश सूझ गया, अब आपका जी चाहे तो नोटिस दे दीजिए।' मेरा इशारे करते ही उसी जन-समुदाय में से २५ आर्य भाई इकट्ठे हो गए। सबको कह दिया कि सभा विसर्जन होते ही निकलनेवालों को पण्डित जी के व्याख्यान की सूचना देते जायें। सभा विजर्सन हुई और काम शुरू हो गया। हम लोग तो दूसरी ओर से समाज मन्दिर को चले और जन-समुदाय ने सीधा आर्यमन्दिर का रास्ता लिया। हमारे पहुँचते-पहुँचते चार-पाँच सौ आदमी इकट्ठे हो गए। एक भजन समाप्त होने पर आँख उठाई तो दो सहस्र की भीड़ दिखाई दी। राय शालिग्राम, वजीर कर्मचन्द्र मण्डी वाले, पण्डित जविन्दलाल म्यूनिसिपल कमिश्नर आदि नगर के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित सज्जन कुर्सियों और बेंचों पर शोभायमान थे। पण्डित गुरुदत्त ने शनैः-शनैः भूमिका उठाकर परमात्मा का निरुपण किया और फिर आत्मा के साथ उसके सम्बन्ध का चित्र खींच निराकार पूजन के मण्डन में ही मूर्तिपूजा का खण्डन कर दिया। फिर जब जनता के लिए प्रेम के भाव से प्रेरित होकर कहा, 'मुझे बड़ा कष्ट होता है, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि मेरे पिता के पुत्र, भाई, चेतन के पुत्र होते हुए जड़ का पूजन करते हैं तो उस समय लोगों के दिल भर आए। वजीर कर्मसिंह की, अन्य सामग्री के अतिरिक्त, एक मन से कम बोझ की मूर्तियाँ न होंगी जिनका वह नित्य पूजन किया करते थे। उन्होंने राय शालिग्राम से कहा-'कल से मैं मूर्तिपूजा कदापि न करूँगा।'

पण्डित जी के पश्चात् औरों के भी व्याख्यान हुए। स्वामी प्रकाशानन्द ने हँसाते-हँसाते लोगों को लोटपोट कर दिया, किन्तु पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यान का अन्त तक बड़ा प्रभाव रहा। इस प्रभाव का पता उस वाक्य से लगता था, जो अकस्मात् धर्मसभा के स्तम्भ, पण्डित जविन्दलाल के मुँह से आर्यसमाज के बाहर होते ही निकला। उन्होंने अपने साथियों से कहा-आज मूर्तिपूजा दी 'वो काटे हो गई।' सचमुच जैसे उस्ताद के ढील देने पर अनाड़ी के हाथ की तुक्कल कटकर नाक की सीध पर चल देती है वैसे ही उपस्थित सज्जनों के मानों से मूर्ति-पूजा पलायन कर गई है।

पण्डित गुरुदत्त चौमुखी चलते थे

१३ पौष (२८ दिसम्बर) की रात को मैं भाई देवराज जी के यहाँ ही सोया था। १४ पौष (२९ दिसम्बर) को प्रातः काल स्नान सन्ध्या वन्दनादि से निवृत्त होकर पण्डित गुरुदत्त जी को उनके नियत स्थान में न पाया, पूछने पर पता चला कि पण्डित जी दो बजे से ही स्नान करके एकान्त स्थान में दरवाजे बन्द कर अपनी योग क्रिया में निमग्न हैं। ८ बजे जब किवाड़ खुले तो मुझ से एकान्त में बातचीत हुई। मैंने पण्डित जी से पूछा तो पता लगा कि जब तक एकान्त में न्योली कर्म न कर लें तब तक वे अभ्यास नहीं कर सकते। मैंने निवेदन किया कि यदि पूरा अभ्यास जारी रखते हुए बढ़ाना है तब तो व्याख्यान, लेखादि का कार्य बन्द कर देना चाहिए और यदि यह काम जारी रखना है तो अभ्यास को साधारण अवस्था में लौटा कर कुछ काल वहीं स्थित करना चाहिये। पण्डित जी मेरे साथ सहमत होते हुए बोले 'मुन्शीराम जी! जानता मैं भी सब कुछ हूँ किन्तु एक ओर तो अभ्यास का आनन्द नहीं छोड़ा जाता और दूसरी ओर सब सज्जन आ घेरते हैं तो उन्हें कोरा जवाब देना मेरी शक्ति के बाहर हो जाता है' मैं इस सरल उक्ति का क्या उत्तर दे सकता था? किन्तु जब तक कभी-कभी रात को एक सर्द आह दिल से निकलती है, और हृदय पुकार उठता है, हाँ! गुरुदत्त के मूर्ख मित्रो! तथा अन्धे श्रद्धालु भक्तो! यदि तुम जानते कि अपने पूज्य पण्डित जी को दो-दो बजे रात तक पठन-पाठन और शंका-समाधान के लिए जगाकर तुम उन्हें मौत के मुँह में धकेल रहे हो तुम्हें कितना अनुताप होता?' किन्तु इसमें भी शायद परम पिता की ओर से हमारे लिए शिक्षा थी जिसे यदि हम समझते तो कृतार्थ हो जाते।

१४ पौष (२९ दिसम्बर) के सवेरे की दो घटनाएँ मुझे याद हैं। भाई देवराज के कचहरी वाले कमरे में तीन खिड़कियों वाले ऊँचे चबूतरे पर संन्यासी मण्डल बैठा हुआ है और उस बड़े दालान के एक ओर एक चारपाई पर पण्डित गुरुदत्त जी लेटे हुए हैं। उनका एक चेला (चौधरी रामभज दत्त) चारपाई की पाटी पकड़े नीचे बैठा है। गुरु शिष्य में कुछ गोष्ठी हो रही है। अकस्मात् मेरा बुलावा होता है। मुन्शीराम जी! इधर आइये, मैं जाकर चारपाई पर बैठा जाता हूँ। कहिए, क्या आज्ञा है? पण्डित जी ने प्रश्न पूछा–'सच कहिए, क्या एक आदमी वकालत करते हुये काँसेंसस पुण्यात्मा रह सकता है?'

मेरे उत्तर में एक पल की देर न थी–'मेरा अनुभव यह है कि नहीं रह सकता।' इस पर पण्डित जी ने अपने शिष्य से कहा, 'देखो जिनका तुमने दृष्टान्त किया था, जब वे भी मानते हैं कि एक धार्मिक मनुष्य के लिए पेशा ठीक नहीं तो तुम मुख्तारी का ख्याल क्यों नहीं छोड़ देते। तुम स्वयं शिक्षा ग्रहण कर कहीं शिक्षक बनो, इस प्रकार तुम सैकड़ों युवकों को सदाचारी बना सकोगे।'

रामभज दत्त ने अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य समझकर सिर झुका दिया और उसी समय से मुझे युवक के साथ विशेष प्रेम हो गया। प्यारे गुरुदत्त! यदि तुम्हें अकाल मृत्यु का ग्रास न बनना पड़ता तो न जाने वीर रामभज दत्त सांसारिक प्रलोभनों से सुरक्षित किस उच्चतम पद को प्राप्त होता है। किन्तु

होई है सोई जो राम रचि राखा

एक दूसरी घटना दूसरा रंग लिए हुए थी जिसका वर्णन गुरुदत्त की सत्यप्रियता तथा निर्भयता का परिचय देगी। यह वही व्यसन था जिसका अनुकरण करते हुए मैंने भी बीसों शत्रु बना लिए हैं। विजयवाड़ा ग्राम (श्री महात्मा हंसराज जी की जन्मभूमि) के श्री लाला ठाकुरदास रईस धर्मसभा के जलसे पर आए हुए थे। वे हमारे स्वामियों के दर्शनार्थ आये। भाई देवराज ने उन पर काम करना आरम्भ किया–'देखिए लाला जी! देवी को जगन्माता कहते और फिर उनके स्थान पर बकरे-भैंसे काटते हैं। क्या यही सनातनधर्म है इत्यादि? लाला ठाकुरदास जी बूढ़े अनुभवी पुरुष थे, बात को टाल गए। कुछ देर के पश्चात् देवराजजी से पूछा–'भला जो हमारे यहाँ के चिरंजीव हंसराज जी तो आपके बड़े माननीय हैं' देवराज जी को

और क्या चाहिए था, फिर अलाप शुरू कर दिया–'हंसराज जी तो महात्मा हैं। हम सबमें शिरोमणि हैं। भला बताइये कि सनातन धर्म सभा में उनके त्याग का कोई मुकाबिला करने वाला है? लाला जी सनातन धर्म हमारा है, वह नहीं जिसे आप समझते हैं।' लाला ठाकुरदास जी बड़ी सरलता से बोले 'हमारे चिरंजीव हंसराज जी मांस खाते हैं, फिर जो आचरण अपना एक शिरोमणि महात्मा करता हो वह पाप कैसे हो सकता है।' बस फिर क्या था, दो तीन पल के लिए तो सन्नाटा छा गया। स्वामी अच्युतानन्द जी ने पण्डित गुरुदत्त को सम्बोधन करके पूछा कि ऐसे घोर आक्षेप का खंडन क्यों नहीं करते? पण्डित जी ने उत्तर दिया–'पाँच दिन हुए तक तो खाते थे, अब छोड़ दिया हो तब तो मुझे ज्ञान नहीं। यद्यपि ऐसे उत्तरों ने पण्डित गुरुदत्त के शत्रुओं की संख्या बहुत बढ़ा दी थी और अन्त को वह दिन आया कि जिस दयानन्द कॉलेज की कृतकार्यता के लिए गुरुदत्त ने किसी से कम परिश्रम नहीं किया था उसके निर्माणकर्ताओं में से उनका नाम ही उड़ा गया।'

लाला ठाकुरदास विजयवाड़ी के कथन ने मुझे बहुत विस्मित किया। मेरे स्वप्न में भी उस समय तक यह नहीं आ सकता था कि एक मनुष्य आर्यसमाज का सभासद् होता हुआ भी मांसाहारी हो सकता है। श्री महात्मा हंसराज जी के आत्मत्याग के लिए तो वही श्रद्धा मेरे मन में स्थित रही किन्तु मांस–भक्षण के विषय ने लाहौरी आर्य लीडरों पर से मेरी श्रद्धा कम कर दी।

उसी शाम को धर्मसभा के जलसे में पण्डित गुरुदत्त जी फिर गए। दीवान रामजस सी.एस.आई. कपूरथले वाले भी वहाँ उपस्थित थे। वे उठकर आये और पण्डित गुरुदत्त जी को हम लोगों सहित अन्दर ले गए। दीवान जी ने एक लम्बी वक्तृता में पण्डित जी से पूछा कि जब दोनों सभाओं की माननीय धर्म पुस्तक एक है तो क्या मेल असम्भव है? पण्डित जी ने उत्तर दिया कि असम्भव तो नहीं है किन्तु यदि आप आज रात को मेरा व्याख्यान सुनें और कल मुझे अपना आशय प्रकट करने के लिए दो–तीन घण्टे दें तो बहुत कुछ हो सकेगा। श्री दीवान जी ने प्रतिज्ञा की कि ऐसा ही करेंगे। किन्तु जब आर्यसमाज मन्दिर के पास बग्घी पहँची तो उसके खड़े होते ही मिश्र अछरूमल जी ने दीवान जी के पैर पकड़ लिए और कहा–'यदि अब भी तुम उस आर्य का व्याख्यान सुनने जाओगे तो तुम्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।' दीवान जी

मजबूर होकर चले गए और पण्डित गुरुदत्त जी ने अपना अन्तिम व्याख्यान दिया।

पण्डित गुरुदत्त के सत्संग से इस बार मुझे बड़ा लाभ हुआ। जहाँ मैंने एक अपूर्व नया मित्र बनाकर धर्मप्रचार में उत्साह प्राप्त किया वहाँ पण्डित गुरुदत्त के मेरे विषय में सन्देह दूर हो गये और उनको मेरे साथ प्रीति हो गई। पण्डित गुरुदत्त जी को न जाने किसने यह विश्वास दिलाया था कि जालन्धरवालों को मेरे कारण, ब्राह्मो स्पिरिट है। शायद उनको यह विश्वास इसलिए हुआ हो कि हम जालन्धरियों को वैयक्तिक प्रेम कुछ ब्राह्मसमाजी भाइयों के साथ था और वे हमारे उत्सव के संकीर्तन में सम्मिलित हुआ करते थे। पण्डित गुरुदत्त ने अपनी भूल मानकर जो शब्द कहे थे, उसने हम दोनों को हमेशा के लिए एक ग्रंथ में बाँध दिया। पण्डित ने कहा-'यदि मैं यहाँ न आता तो शायद हमेशा के लिए एक सहकारी को खो बैठता।'

जालन्धर आर्यसमाज के इसी वार्षिकोत्सव पर मैंने उपन्यास पहन (नाव्हेल रीडिंग) को हमेशा के लिए नमस्तक कह दी थी। उससे पहले एक वर्ष से मैं इस दुर्व्यसन को त्यागने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु कृतकार्यता न होती थी। शतरंज की तरह इसने भी बहुत सा समय व्यर्थ खराब कर रखा था। परमेश्वर की दया से इसके पश्चात् दोनों ने पिण्ड छोड़ दिया।

इस वार्षिकोत्सव पर बहुत से नए सभासद् आर्यसमाज को मिले। पण्डित छज्जूराम वकील इसी समय आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए थे। वे चार-पाँच महीनों के पश्चात् ही आर्यसमाज से पृथक् हो गए किन्तु उनके बिछोड़े ने भी आर्यसमाज जालन्धर के गौरव का प्रमाण दिया। पण्डित छज्जूराम और सब सिद्धान्तों में तो आर्यसमाज के साथ सहमत थे परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने में उन्हें संकोच था। उनका त्यागपत्र १० वैशाख १९४६ विक्रमी के सद्धर्म प्रचारक में छपा है। शिक्षाप्रद होने के कारण मैं उसका अनुवाद यहाँ देता हूँ-'आप मेरा नाम आर्यसमाज के रजिस्टर में से खारिज कर दीजिए। संक्षिप्त कारण इस प्रार्थना-पत्र का यह है कि मैं तीसरे नियम पर पूरे तौर विश्वास नहीं रखता और मैं यह नहीं चाहता कि जब तक मेरा पूरा विश्वास न हो, अपने आपको भी आक्षेपों का लक्ष्य बनाऊँ और समाज की सुकीर्ति बढ़ाने का साधन होने के स्थान में उलटा प्रभाव डालूँ। मैं यह भी प्रकट करना चाहता हूँ कि यद्यपि एक नियम पर मेरा विश्वास नहीं है परन्तु बहुत से अन्य विषयों में

आर्यसमाज के सभासदों के साथ सहानुभूति रखता हूँ और रखता रहूँगा।' कैसा स्वर्णिम समय था, जब इस प्रकार सच्चाई का राज्य था, और कहाँ आज का समय कि दुराचारी और आप पन्थी आदमी भी मुँह छिपाकर समाज से पृथक होने के स्थान में अपना जत्था खड़ा करके समाज में दनदनाते और उलटे कोतवाल को डाँटनेवाले चोर के सदृश समाज को कलंकित करते रहते हैं।

इसी समय मेरे दो बड़े भाई और कुछ अन्य सम्बन्धी आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए जिसके कारण मुझे वैदिक सिद्धान्तों पर चलने में अधित सुगमता हो गई।

एक अन्तिम लाभ इस उत्सव का एक जैन साधु का आर्य धर्म में प्रवेश था। पूजमोनी रिख (पूज्य मुनि ऋषि) नकोदर में रहता था। मेरे दो व्याख्यान सुन उसकी रुचि वैदिक धर्म की ओर बढ़ी, अपने दल में ही शास्त्रार्थ करके जालन्धर में आ गया। २३ पौष (२८ दिसम्बर) के दो बजे दिन के उसका प्रवेश संस्कार करके नाम 'ब्रह्मचारी ऋषि' रख गया।

इस प्रकार यह वार्षिकोत्सव मेरे लिए अनगिनत आशीर्वाद की वर्षा करके समाप्त हुआ।

कृतकार्यता का मद

जालन्धर आर्यसमाज के तृतीय वार्षिकोत्सव की कृतकार्यता ने मुझे ऐसा उन्मत्त कर दिया कि कुछ दिनों तक सब आर्यसमाजी कामों से उदासीनता को मैंने अपना अधिकार समझ लिया। उन दिनों मेरे आत्मा का क्या आदर्श था, यह बतलाने के लिए मैं अपनी डायरी का अनुवाद नीचे देता हूँ। अनुवाद इस लिए कि उस समय तक कॉलेजी शिक्षा का प्रभाव दूर नहीं हुआ था और मैं अंग्रेजी में ही डायरी लिखने का अभ्यासी था।

'ओ३म्-अब सन् १८८९ का आरम्भ है। पहले महीने (जनवरी) के २५ दिनों तक मैंने वास्तव में कुछ नहीं किया-कुछ भी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समाज ने जो कृतकार्यता इस उत्सव में प्राप्त की है उसने मेरी शक्तियों को सर्वथा शिथिल कर दिया। इस वर्ष हमारे समाज पर परम पिता परमात्मा की बड़ी कृपा हुई है उसके अनुग्रह के आधिक्य ने मुझे विवश कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि हमसे पापियों का स्थापित किया हुआ समाज उन्नत हो रहा है। किन्तु जब सोचता हूँ

कि उसी परम पिता का सच्चा अनुग्रह है तो आश्चर्य दूर हो जाता है। हे प्रभु! मुझे सर्व प्रकार की पापकामनाओं से बचाइए; मुझे सत्य की ओर ले चलिए और वह मेधा प्रदान कीजिए जिसकी खोज में प्राचीन ऋषि कई जीवन अर्पण कर देते थे। हाँ, सचमुच उत्सव की कृतकार्यता ने मुझे शिथिल कर दिया था, जिससे मैंने आज सायंकाल ही मुक्ति उपलब्ध की है।'

फिर डायरी मे लिखा है :-

'शुक्रवार २५ जनवरी-प्रातः उठकर कल का बचा पायोनियर अखबार पढ़ा। फिर स्नान सन्ध्यादि से निवृत्त होकर कुछ बहुत ही आवश्यक पत्र लिखे। १० बजे कचहरी गया और न्यायधीशों की कृपा से १ बजे कार्य समाप्त करके समाज मन्दिर गया। वहाँ अलावलपुर ग्राम का एक पत्र मिला। व्याख्यान के लिए निमन्त्रण था। उत्तर भेज दिया कि दूसरे दिन आऊँगा। इमारत बन रही है। एक घण्टा समाज का काम किया। तब देवराज जी आकर मुझे अपने यहाँ ले गये। वहाँ वजीर कर्मसिंह जी (जिन्होंने मूर्तिपूजा छोड़ दी थी) के साथ बड़ी उत्तम चाय पी। फिर कम्पनी बाग में गया और प्रतापसिंह (अहुलवालिया सी.एम.आई.) और राजकुमार मियां जनमेजय के साथ टेनिस की तीन बाजियाँ खेलीं। छः बजे घर लौटा। सन्ध्या के पश्चात् सुस्ती छोड़ देने का प्रण किया, फिर भोजन के पश्चात् ९ बजे तक पढ़ता रहा।'

धर्मप्रचार की लगन

१३ माघ (२६ जनवरी) को जालन्धर आर्यसमाज के अन्य सभासदों सहित अलावलपुर चल दिया। ३ बजे हम जब अलावलपुर पहुँचे, लोग प्रतीक्षा में बैठे थे, ३ बजे आर्यसमाज के नियमों पर व्याख्यान आरम्भ हो गया। १ घण्टे तक मैंने आर्यसमाज का उद्देश्य समझाया, जिसके पश्चात् शंका-समाधान के लिए समय दिया गया। बहुत से प्रश्न हुए जिनका प्रेमपूर्वक उत्तर देकर उसी शाम ७ बजे जालन्धर लौट आया।

इसके तीसरे दिन १५ माघ (२८ जनवरी) की डायरी में लिखा है:-

'गौरीशंकर आज आया, जिससे बातचीत करने पर पता लगा कि लसाड़ा ग्राम में हमारे काम के लिए बड़ा मैदान है। बहुत से प्रतिष्ठित ग्रामनिवासी हमारे सिद्धान्तों के साथ सहानुभूति रखते हैं। गृहस्थ मुझे अपने अन्तरात्मा की आवाज सुनने से रोकता है, नहीं तो बहुत काम हो सकता है। फिर भी कुछ कर सकता हूँ उसके

लिए परमात्मा को धन्यवाद है।'

इन दिनों अहर्निश वैदिक धर्म को फैलाने की ही धुन लगी रहती। १६ माघ (२९ जनवरी) को दिन रात वर्षा होती रही। कचहरी के काम के अतिरिक्त शेष समय मैंने नये ब्रह्मचारी मुनिऋषि को दिया। उसे ब्रह्मचर्य्य के नियम समझाकर उससे प्रतिज्ञा ली कि वह विवाह के समय तक बराबर इन नियमों के अनुकूल चलता रहेगा। इस ब्रह्मचारी ने जैन धर्मसम्बन्धी अपनी सब पुस्तकें आर्यसमाज जालन्धर को भेंट कर दी थी और जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की रजिस्ट्री होकर लाहौर में वैदिक पुस्तकालय खोला गया तो उस समय वे सब हस्तलिखित पुस्तकें उस पुस्तकालय में रख दी गई। मुझे ज्ञान नहीं कि अब उन स्मरणीय पुस्तकों की दशा क्या है?

ब्रह्मचारी से निबट कर मैंने कई भद्रपुरुषों को संन्यास की विधि समझाई। इस प्रकार का समय विभाग नित्य ही रहता था। १७ माघ (३० जनवरी) को प्रातःकाल ही अजमेर से पत्र मिला जिसमें लिखा था कि पौराणिकों ने जालंधर शहर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के विषय में बहुत कुछ असत्य अपवाद फैलाया है। मैं उसी समय लाहौर की 'आर्य पत्रिका' के लिए उत्सव का हाल लिखने बैठ गया। फिर कचहरी में जो भी समय खाली मिलता रहा उसमें यही काम जारी रहा और मुझे चैन न आया। जब तक कि उस लेख को समाप्त करके चार बजे डाक में न डाल दिया।

१९ माघ संवत् १९४५ (१ फरवरी १८८५) के दिन जालन्धर में गप्प उड़ी कि सनातन धर्म महामण्डल का लाहौर में बड़ा विजय हुआ है। आर्यसमाज के व्याख्यान बन्द कर दिये गये हैं। जब अपने सभासदों के लाये हुए इस समाचार पर मुझे विश्वास न आया तो दूसरे दिन वे एक जालन्धर के अनपढ़ ब्राह्मण को ले आए जिसने आंखों देखी साक्षी इस प्रकार दी:-

'कमीश्नर साहब ने आर्यों से सनातनी पण्डितां नूं बुलाके शास्त्रार्थ कराया सी। खलकत बेशुमार सी। मैं वी सब कुछ देखदा ते सुणदां सी। दुहां पासियां दी गल्लां सुण के कमीश्नर साहब ने आख्या कि आर्यसमाज मंजूर नहीं, हमान्नं सनातन धर्म मंजूर सी।'-इस बेतुकी हाँक को सुनकर मुझे तो हँसी छूटी किन्तु हमारे सभासद् मेरे पीछे ही लगे रहे। तब उसी रात को रेल में मैं लाहौर चला गया। वहाँ का हाल मेरी २१ माघ (३ फरवरी) की वृत्तान्त पंजिका में इस प्रकार लिखा है-

साढ़े सात बजे समाज मन्दिर में पहुँचा। वहाँ चिरंजीव भी था। वहाँ पता लगा कि जो किंवदन्तियाँ फैलाई गई थी और जो कुछ 'कोहेनूर' में निकला था वह सब गप्प है। उसी समय सनातन धर्म मण्डल के उत्तर में बाबू मुन्नालाल और स्वामी स्वात्मानन्द जी के व्याख्यान हुए। तब एक बड़े विद्वान् संन्यासी स्वामी महानन्द जी ने अपनी सेवा आर्यसमाज को अर्पण की। स्वामी जी के बहुत साधु शिष्ट हैं और उनकी विद्या की पण्डित गुरुदत्त ने स्वयं प्रशंसा की। उस समय २० अन्य महाशयों ने समाज में प्रवेश के लिए प्रार्थना पत्र दिये। यह भी सुनाया गया कि ३५ नये सभासद् पहिले प्रविष्ट हो चुके हैं। उस समय उत्साह की लहर चल रही थी। सभा ११ बजे विसर्जित हुई।

भोजन के पश्चात् मैं भी लाला साईंदास जी के वहाँ गया। यहाँ स्वामीगण, लाला हंसराज, लाला मुल्कराज और चिरंजीव भी थे। अन्य आवश्यक कार्य उपस्थित हो जाने के पश्चात् मैंने यह विषय उपस्थित किया कि लकीर के फकीर बनते हुए आर्यसमाजियों को पुरानी संकुचित जातियों में विवाह सम्बन्ध परिमित नहीं रखना चाहिए, प्रत्युत गुण कर्मानुसार वर्ण–व्यवस्था को व्यवहार में लाना चाहिए। लाला साईंदास जी ने उस समय मुझे परम अत्याचारी (एक्सट्रीम रैडिकल) की उपाधि दी। वहाँ से पण्डित गुरुदत्त के पास गया। वे मुझे पण्डित सभा में ले गये, जहाँ पण्डित दीनदयालु जी के मुख से मूर्तिपूजा का विचित्र मण्डन सुना। फिर साढ़े आठ बजे की ट्रेन से जालंधर लौटा।

इन दिनों आर्यभाइयों को पता लग गया कि मैं धन के राजीनामे का सर्वथा विरोधी हूँ। इसका एक उदाहरण मैं अपनी डायरी में से उद्धृत करता हूँ।

'५ जनवरी १८८९ मंगल। वसन्त का दिन था। प्रातः संध्या अग्निहोत्र करके अन्य सभासदों को साथ लेता हुआ समाज मन्दिर में पहुँचा। प्रथम भजन हुए फिर सामूहिक हवन किया गया। इस समय वेदमंत्रों का पाठ वास्तव में अत्युत्तम तथा प्रभावशाली था। फिर साढ़े ग्यारह बजे तक एक भजन होकर प्रीतिभोज प्रारम्भ हुआ। सब भाइयों ने मिलकर सहभोज किया जिससे दो बजे निवृत्त हुए। इसके पश्चात् ४ बजे तक अन्तरंग सभा होती रही। अत्यन्तावश्यक विषय इस अधिवेशन में एक रामगोपाल नामी पुरुष की शुद्धि का था, जो कुछ काल में मुसलमान हो गया था।

अन्तरंग सभा ने बड़ी निर्बलता दिखाई और उसे स्वयं शुद्ध करने के स्थान में अमृतसर भेज दिया।

यहाँ यह जतलाने की आवश्यकता है कि अमृतसर आर्यसमाज एक नत्थूराम पण्डित को फांसे हुए था जो स्वयं दक्षिणा लेकर पतित को हरिद्वार भेज देते थे और वहाँ के पण्डे को १५ दिलवा गोबर मलकर स्नान कराने के पश्चात् शुद्धिपत्र दे देते थे। जिस पर अमृतसर के आर्यसमाज की बूब्बेशही मोहर लग जाती थी। कहाँ वह समय और कहाँ आज, जबकि आर्यसमाज में जन्म के ईसाई, मुसलमानादि भी बेधड़क सम्मिलित हो सकते हैं।

धर्मपरायणता का पहला दृश्य

१४ माघ (२७ जनवरी) को आदित्यवार था। उस दिन के वृत्तान्त में अपने साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित होने के हाल लिखे हुए हैं। मैंने लिखा था–

'देवराज ने सत्य पर बड़ा उत्तम और शिक्षाप्रद व्याख्यान दिया। आज के व्याख्यान में कुछ विशेष रंग चढ़ा हुआ था। शायद वह व्याख्यान किसी आनेवाली घटना की सूचना थी। देवराज जी के पिता ने उन्हें स्पष्ट लिख दिया था कि यदि आर्यसमाज का प्रचार करना है तो बर्मा आदि की ओर चले जाएँ, जालन्धर में रहकर अपने पिता को मित्रों से उलाहना न दिलाएँ। देवराज जी के सुपुर्द अपने परिवार की रियासत का खजाना था परन्तु उन्होंने सब हिसाब ठीक करके अपने निज जेब खर्च के डेढ़ सौ रुपये लिये और बर्मा जाने के लिए कलकत्ते चल दिये। तब पिता को होश आया और उन्होंने आदमी भेजकर उन्हे लौटा मँगाया। उधर मैंने नित्य किसी न किसी पास के ग्राम में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया इससे राय शालिग्राम जी को पता लग गया कि आर्यसमाज के प्रचार का काम किसी विशेष व्यक्ति पर ही निर्भर नहीं है।

देवराज जी के इस अपूर्व साहस का परिणाम यह हुआ कि धर्म के कार्यों में उनके रास्ते की रुकावटें दूर हो गई। पिता जी की दृष्टि में उनका गौरव बढ़ गया और वे बेधड़क काम करने लग गये।

इस अन्तर में अन्तरंग सभा के अन्दर शुद्धिविषयक आन्दोलन मैंने जारी रखा और बहुत से सभासदों को अपनी सम्मति के अनुकूल कर लिया किन्तु देवराज जी के

लौटाने पर मामला ही स्पष्ट हो गया क्योंकि वे अब 'समय के न आने' के ढकोसले से मुक्त हो चुके थे। इन दिनों मेरा अधिक समय नगर के अन्दर प्रचार करने में लगता था क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि कोई भाई भी देवराज जी की अनुपस्थिति को अनुभव करे। प्रेस और समाचार-पत्र चलाने के विचार ने मेरा पत्रव्यवहार भी बढ़ा दिया था, किन्तु इन सब बढ़े हुए कामों के साथ एक ओर तो मैंने भूमिका लिखकर एक भजन-पुस्तक का आरम्भ कर दिया और दूसरे ओर हर्बर्ट स्पेन्सर की पुस्तकों के साथ ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य का स्वाध्याय भी आरम्भ कर दिया।

इधर वह सब कुछ हो रहा था और उधर अपने ग्राम तलवन से दो मील दूर अपनी भूमि में लगवाने के लिए फलों के वृक्ष भेज रहा था क्योंकि इस समय यही विचार था कि एकान्त सेवन के लिए यहाँ एक छोटा सा बंगला बनवाया जाये।

इन सब कामों के अतिरिक्त अपनी प्रस्तावित पुत्री पाठशाला को भी नहीं भूला था, क्योंकि ९ फाल्गुन(२१ फरवरी) को राय बहादुर मास्टर प्यारेलाल इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स को मिलकर उसके विषय में बातचीत की थी।

'सद्धर्म प्रचारक' का जन्म

जालन्धर आर्यसमाज के तीसरे वार्षिकोत्सव से पहिले ही समाज के बढ़ते हुए काम को देखकर अपना एक प्रेस खोलकर समाचार पत्र चलाने का विचार हो रहा था। उन दिनों जालन्धर और होशियारपुर के आर्यसमाजियों का भाईचारे का सम्बन्ध था, इसलिए महाशय रामचन्द्र भी हमारे विचार के साथ सहमत थे। उन्होंने मुझे लिखा कि आर्यसमाज की ओर से समाचार पत्र चलाने के लिए कोई कम्पनी बनाई जाये तो एक हिस्सा वह भी लेंगे, इस पर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर कुल १६ हिस्से २५/- रुपये के स्थिर किये। श्री लाला रामकृष्ण (वर्तमान प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब) जालन्धर में वकालत करने आ चुके थे और स्थानीय समाज के उपप्रधान नियत हो चुके थे। वे भी हिस्सेदार हुए। लाला देवराज और लाला सालिग्राम वैश्य प्रसिद्ध भण्डारी, गुरुकुल कांगड़ी) कपूरथला के लाला शरणामल इत्यादि ने भी हिस्सा लिया।

प्रश्न तो पहिले से ही हो रहा था, किन्तु जब लाला देवराज जी चले गए तो सभासदों को और भी अधिक जोश आया। २ फाल्गुन संवत् १९५४ (१४ फरवरी सन्

१८९८) की हिस्सेदारों की बैठक हुई। कपूरथले से लाला गोविन्दसहाय को बुलाया गया था, इन्हीं के द्वारा प्रेस आदि का सौदा हो रहा था। उसी शाम को सब कुछ निश्चित होकर गोविन्दसहाय जी को ५० रुपये बयाना दिया गया।

निश्चय यह हुआ कि प्रेस का नाम सद्धर्म प्रचारक रखा जाय और प्रथम वैशाख संवत् १९४६ विक्रमी से 'सद्धर्म प्रचारक' नामी डेली छोटे आठ पृष्ठों का एक 'उर्दू' सप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया जाए। लाला देवराज और मैं सम्पादक नियत हुए। कचहरी में प्रकाशन (डिक्लेरेशन) देने का काम मेरे सुपुर्द हुआ इसलिए मैं ही मैनेजर नियत हुआ।

अखबार की नीति के विषय में बड़ा झगड़ा पड़ा करता है। उसका फैसला यह हुआ कि सारी नीति का निर्भर सम्पादकों पर रखा जाए। उसमें कोई भी हिस्सेदार हस्तक्षेप न करे। यह सब बातें तय करके ४ फाल्गुन (१६ फरवरी) को मैंने यन्त्रालय तथा पत्र की नीति आदि के विषय में एक लेख लिखा। प्रेस आदि के आने पर वही छपाई का पहिला नमूना था, जो हमने सर्वसाधारण के सामने रखा। मैंने उस लेख की बहुत ढूंढ की किन्तु वह कहीं भी न मिला। इसमें शक नहीं कि 'सद्धर्म प्रचारक' में मैंने प्रचारक की भविष्य नीति तथा उद्देश्य लिख दिए थे। परन्तु पहिले विज्ञापन में कुछ अधिक शब्द होंगे क्योंकि जब चैत्र के उत्तरार्द्ध (मार्च के अन्त व अप्रैल के प्रारम्भ) में विज्ञापन बाँटने के लिए मेरे साथ फिरोजपुर के जलसे पर गये तो उन्हें पढ़ते ही लाला साईंदास जी ने जालन्धरियों को एक्सट्रीम रेडिकल पार्टी (गरम उदार दल) को उपाधि दे दी थी।

जब से प्रेस खोलना निश्चित हुआ तभी से मैंने स्वाध्याय की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। रात को डेढ़ व दो घंटे पश्चिमीय विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ता। उन दिनों हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थों के अतिरिक्त ड्रेपरक्रर कनफ्लिक्ट बिट्वीन रेलिजन एण्ड साइन्स, वेनकृत एजूकेशन जज ए साइन्स, गोबोकृत हिस्टरी ऑफ सविलिजेशन, त्यालकृत एशियाटिक स्टडीज आदि तथा इसी प्रकार की २० से अधिक पुस्तकें छः मास में पढ़ी और प्रातःकाल १ घण्टे तक सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य का स्वाध्याय होता। पहले पढ़ी हुई लघुकौमुदी की पुनरावृत्ति भी आरम्भ हुई। यही कारण था कि जब संवत् १९४२ (सन् १८८५) के पश्चात् पहिली बार

लाला लाजपतराय ने मेरा व्याख्यान फिरोजपुर आर्यसमाज के जलसे पर सुना तो पूछा था 'यह इतनी उन्नति संस्कृत में कब की?'

प्रेस जब दो सालों से अधिक घाटे पर चला और १५ रुपये प्रति हिस्सा बढ़ा देने पर भी घटा रहा और रामकृष्ण जी से व्यवहार-निपुण को प्रबन्ध का कार्य देने पर भी प्रेस चलने की कोई सूरत दिखाई न दी तो हिस्सा का रुपया मैंने दे दिया और प्रेस का स्वतन्त्र स्वामी बन गया। यह बात मैं भूला नहीं कि कुछ हिस्सेदारों ने अपने हिस्से के रुपये मुझसे वापिस नहीं लौटाये।

'प्रचारक' का आर्य-सामाजिक-जगत् पर क्या प्रभाव रहा? इसने वैदिक धर्म की क्या सेवा की? सदाचार के फैलाने में इसने क्या भाग लिया? और समाचार पत्रों की लेख शैली के संशोधन का इसने कितना काम किया? इसका इतिहास कोई सद्धर्म-प्रचारक के ऐसे ही प्रेमी लिख सकते हैं जिन्होंने पहले अंक से अब तक के अंक सुरक्षित रखे हैं।

सद्धर्म-प्रचारक यंत्रालय खुलने के दिनों आलस्य का नाम न था। पहिले तो हमेशा किसी न किसी की शंकाओं का समाधान करता फिर कोई ऐसी सभा (आर्य-समाजिक व अन्य) न थी जिसकी बैठक में समिर्मलित न होता। प्रात: सायं के स्वाध्याय का वर्णन कर ही चुका हूँ और इन कामों के साथ ही एक बाल विधवा के विवाह की भी चिन्ता थी, उसके लिए भी यत्न होता। २२ फाल्गुन (६ मार्च) की डायरी में लिखा है 'कचहरी से लौटकर देवराज जी के यहाँ गया और उन्हें ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का एक कठिन स्थल समझाया। यहाँ से लौटती बार एक घंटा समाज मन्दिर में ठहरा, जहाँ परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप-भेद पर दो भाइयों को उपदेश दिया। फिर ब्रह्मचारी मुनि ऋषि को आध घंटा पढ़ाकर धर्म-सभा के जलसे में गया। वहाँ व्याख्यानों में वेद की महिमा का ही वर्णन था, कोई पंथाई झगड़ा न था। जालन्धर आर्यसमाज के निष्पक्ष भाव का प्रभाव पौराणिकों पर भी पड़ रहा है। धर्मसभा-मन्दिर से अपने निवास स्थान को गया जहाँ मेरी संध्या में पण्डित बुड्ढामल नूरमहल के बड़े साहूकार सम्मिलित हुये। यह वृद्ध महाशय ऐसे प्रभावित हुए कि अग्निहोत्र में भी भाग लिया। चलते हुए ५० रुपये हमारी भावी पुत्री पाठशाला को दान दे गये। सत्यार्थप्रकाश के स्वाध्याय के पश्चात् मैं ९ बजे सोने की तैयारी कर रहा था

कि मेरे बुलाये हुए रलाराम अपील-नवीस टाण्डा से पधारे और उन्होंने साखीराम साहूकार की बाल विधवा पुत्री से मेरे समझाने पर विवाह करना स्वीकार किया।'

होली की छुट्‌टी पर समाज-मन्दिर में हवन आदि के पश्चात् सहभोज हुआ। कपूरथले के लाला धूमामल भी सम्मिलित थे। उपदेशकों का अभाव अनुभव करके इस समय निश्चय हुआ कि जालन्धर आर्यसमाज की ओर से एक उपदेशक पाठशाला खोली जावे। मैं तो पहिले ही ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मचारी मुनि ऋषि को पढ़ाया करता था। मैंने भी इस भावी उपदेशक विद्यालय का एक अवैतनिक अध्यापक बनना स्वीकार किया। यह उपदेशक विद्यालय कुछ दिनों ही चलकर बन्द हो गया।

कन्या गुरुकुल की धुन

सद्धर्म प्रचारक के दूसरे अंक से ही मैंने एक लेखमाला का आरम्भ कर दिया था। जिसका शीर्षक था 'अधूरा इन्साफ (न्याय)' इस लेखमाला में मैंने स्त्रियों को सुशिक्षित होने का पुरुषों के साथ समानाधिकार जतलाते हुए लिखा था-'स्त्री को आत्मिक विद्या का वैसा ही अधिकार है जैसा पुरुषों को, इसलिए जिस प्रकार पुत्रों का, पवित्र वेद की आज्ञानुसार पहले छोटी आयु में माता-पिता को अधिकार है कि शिक्षा दें और जब यज्ञोपवीत संस्कार हो जावे तो तत्काल ही लड़का गुरुकुल में भेजा जाना चाहिए, वैसे ही लड़कियों के साथ भी बर्ताव होना चाहिए।' उस समय मैं दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज को ही पुरुषों के लिए गुरुकुल समझता था इसलिए कन्या गुरुकुल को स्थापित करने का प्रस्ताव मैंने पेश किया था। उन्हीं दिनों कण्टक निवासी लाला धनपतराय ने मेरे लेख पढ़कर अपनी पुत्री भगवानदेवी का स्वयंवर रचाने का नोटिस दिया था और फिरोजपुर की पुत्री पाठशाला के साथ आश्रम खोलने का विचार भी उठा था। आन्दोलन तो इन विषयों पर बहुत हुआ किन्तु जहाँ कुमारी भगवानदेवी के स्वयंवर का शोर मचकर अन्त को एक ब्राह्मण देवता की कृपा से कुमारी जी का विवाह एक सन्तान रखने वाले धनाढ्‌य रंडवे के साथ हो गया। वहां फिरोजपुर का प्रस्तावित आश्रम कन्या का आवासमात्र भी न बन सका।

सत्यार्थप्रकाश की कथा

जहाँ धर्म-प्रचार के लिए इन दिनों में बाहर जाया करता था। यहाँ अपनी जाति की प्राचीन कथा-विधि को पुनर्जीवित करने का विचार भी मेरे अन्दर काम

करने लगा। १० ज्येष्ठ संवत् १९४६ (२४ मई सन् १८८९) से सूदों के चौक में सत्यार्थप्रकाश की कथा का आरम्भ किया गया। जब पहिले दिन कथक्कड़ बनकर मैं आसन पर बैठा और कथा शुरू की तो केवल २०, २५ आर्य भाई ही मेरे सामने बैठे हुए थे। बाजार का चौगान बड़ा था इसलिए दुकानें दूर-दूर थी। दुकानदार दुकानों पर हुक्के गुड़गुड़ाते रहे और हमारी दरी पर न आये, किन्तु जब मैंने ऊँचे स्वर से वेदमंत्रों को पढ़कर उनकी व्याख्या पंजाबी बोली में आरम्भ की तो शनैः-शनैः गुड़गुड़ी हाथ में लिए बहुत से लाला लोग मेरे समीप आ बैठे। दूसरे दिन उपस्थिति सौ के लगभग और चार दिनों के पीछे दो ढाई सौ तक पहुँच गई। लोग बड़ी श्रद्धा से हमारी धर्मकथा सुनने लगे और हुक्का आदि का उस स्थान में लाना बन्द कर दिया। इस प्रकार एक मास से अधिक कथा की श्रृंखला बन्द हो गई। मुझे एक कार्य विशेष के लिए अपने ग्राम में जाना पड़ा। पीछे पण्डित जी ने ईश्वरप्रार्थना ही चलाई थी कि आँधी आ गई और तब श्रोतागण उठ खड़े हुए। बस फिर लौटने पर कुछ न बन सका। वर्षा ऋतु भी आ गई, जिसके कारण बाहर बैठना कठिन हो गया।

एक आर्य वीर परीक्षा में

जिस चौक सूदों में कथा होती थी, वहीं जालन्धर आर्य सभा के मन्त्री की दुकानें थी। उनकी दुकान लाला शालिग्राम आर्य के भाइयों के पास किराये पर थी। धर्म सभा के मन्त्री का नाम लाला वसन्तराम था। उन्होंने भण्डारी जी के भाइयों से कहा कि यदि वे अपने भाई को आर्यसमाज से अलग न कर लेंगे तो उनसे दुकान छीन ली जायेगी। भाइयों ने मिन्नतें की, समझाया कि आर्यसमाज में जाना छोड़ देवें, परन्तु बहादुर शालिग्राम ने एक न सुनी। घर छोड़कर समाज मन्दिर में डेरा लगाया परन्तु फिर भी निर्दयी धर्मसमाजी ने तो समझा था कि जब अपनी पैंठ की दुकान अलग लेंगे तो इनका अनाज न बिकेगा और यह सब भूखों मरेंगे परन्तु मारने वाले से रक्षा करने वाला ज्यादा बलवान् होता है। उस समय न बिका हुआ गेहूँ कुछ दिनों के बाद बड़े महंगे भाव बिका और शालिग्राम के भाइयों को दुगुना लाभ हुआ जिससे उनकी श्रद्धा भी उस आर्यसमाज और वैदिक धर्म पर बढ़ गई।

जिन दिनों भण्डारी जी घर छोड़कर आर्यसमाज मंदिर में आ टिके थे उन्हीं दिनों से इनके अन्दर देवनागरी अक्षर और संस्कृतभाषा जानने का अनुराग अधिक हो

गया। मुझसे आर्यसिद्धान्तों के विषय में वे ऐसे प्रश्न किया करते जिनसे मुझे अपनी डायरी में यह लिखना पड़ा कि व्याख्यानदाता बनने का बड़ा चाव है और संस्कृत का शौक ऐसा दृढ़ हुआ कि शायद बीस वर्ष बाद संस्कृत व्याकरण को छोड़कर फिर घोटना आरम्भ किया।

श्री पूर्णानन्द जी का प्रवेश

श्री पूर्णानन्द जी भी आर्यसमाज में उन्हीं दिनों प्रविष्ट हुए। किस प्रकार अपने देश सिन्ध से लड़कपन में ही ये निकले, किस प्रकार साधु वेश में विद्या प्राप्ति का प्रयत्न करते रहे और अन्त को किस प्रकार यह जालन्धर पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित देवीचन्द्र जी से विद्याध्ययन करने लगे, इन सब प्रश्नों का उत्तर पण्डित पूर्णानन्द जी ने पीछे दिया। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि जब आर्यसमाज जालन्धर शहर का पहिला वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था तब मैंने एक युवक साधु को दीवार पर लगे वेदमन्त्रादि की अशुद्धियों पर कटाक्ष करते देखा। पूछने पर पता लगा कि इस युवक साधु का नाम 'टीकमानन्द' है। जालन्धर की पढ़ाई से असन्तुष्ट होकर इस युवक साधु ने काशी का रास्ता लिया। वहाँ वैशाख सम्वत् १९४६ के उत्तराद्ध (सन् १८८९ के मई मास के आरम्भ) में आर्यसमाज के उपदेशक स्वामी रामानन्द जी का व्याख्यान माइकल लाइब्रेरी हाल में सुनकर साधु टीकमानन्द ने वैदिक धर्म ग्रहण किया। इससे पहिले कई साधु आर्यसमाज में सम्मिलित हुए परन्तु किसी ने भी आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन में अधिक रुचि न दिखाई थी। इस नये साधु ने मत परिवर्तन करते ही स्वामी रामानन्द से प्रार्थना की कि वे उसकी पढ़ाई का प्रबन्ध कर दें। स्वामी रामानन्द ने टीकमानन्द को पूर्णानन्द तो बना दिया किन्तु उनके आर्ष ग्रन्थ पढ़ने का काशी में प्रबन्ध न करा सके। तब आर्यसमाजों में उपदेशक विद्यालय खोलने का आन्दोलन करते हुए दोनों संन्यासी महोदय ज्येष्ठ के आरम्भ में जालन्धर पहुँचे और ३ ज्येष्ठ (२७ मई) के सायंकाल दोनों के व्याख्यान आर्यसमाज मन्दिर में हुए।

उपदेशक क्लास का झगड़ा

जब १९ वैशाख संवत् १९४३ (२ मई सन् १८८९ ई०) को स्वामी रामानन्द जी अपने नये शिष्य पूर्णानन्द जी को लेकर जालन्धर आये थे तब उन्हीं दिनों 'द्वाबा

उपदेशक मण्डली' खोलने का विचार पक्का हो चुका था, इस मण्डली के दो विभाग सोचे गये थे- एक 'संगीत-मण्डली' और दूसरी 'उपदेश मण्डली' १३ ज्येष्ठ (२७ मई) को स्वामी रामानन्द ने बाल संन्यासी टीकमानन्द के 'पूर्णानन्द बनने का हाल सुनाया और पूर्णानन्द जी ने भी कुछ कहा। स्वामी रामानन्द ने काशी में उपदेशक पाठशाला खोलने का विचार प्रकट कर मुझसे सहायता माँगी। मैंने उन्हें कहा कि काशी तो पौराणिकों का गढ़ है, उपदेशक पाठशाला का चलना कठिन है, क्यों न लाहौर में प्रयत्न किया जाय जहाँ दयानन्द कॉलिज से भी अच्छी सहायता मिल सकती है। स्वामी रामानन्द जी को मेरी सम्मति पसन्द आई और वह लाहौर चले गए। वहाँ पण्डित गुरुदत्त जी तथा उनके सहायकों ने भी सम्मति और उपदेशक क्लास की अपील कर अपने हस्ताक्षर कर दिए। स्वामी रामानन्द जी पूर्णानन्द जी को लेकर ५ आषाढ़ (१९ जून) की दोपहर की रेल से मेरे पास लौट आये। स्वामी रामानन्द जी तो चन्दा जमा करने चल दिए किन्तु पूर्णानन्द जी को संतोष न हुआ वे एक दिन भी व्यर्थ गंवाना नहीं चाहते थे। उसी समय पता लगा कि स्वामी पूर्णानन्द जी के एक पुराने परिचित विद्वान् कपूरथले में पढ़ाया करते हैं। स्वामी पूर्णानन्द जी पढ़ने के लिए उन्हीं के पास जाने को तैयार हो गये। इस सम्बन्ध में १७ आषाढ़ १९४६ के सद्धर्म प्रचारक में जालन्धर का निम्न समाचार निकला था-स्वामी रामानन्द जी होशियारपुर २१ जून के प्रातः उपदेशक क्लास के आन्दोलन के लिए गए थे, वहाँ से लौटकर २५ जून को लाहौर चले गए। अब तक ३० रुपये मासिक चन्दा लिख चुके हैं। ईश्वर कृतकार्य करें स्वामी पूर्णानन्द जी जालंधर समाज की ओर से दर्शनों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कपूरथले भेजे गये।'

पाठक काषाय-वस्त्राधारियों में स्वामी और साधु का भेद देख कर कुछ विस्मित होंगे। परन्तु उस समय, न जाने क्यों जहाँ पुराने प्रवष्टि भगवेपोशों को आर्यसमाज में स्वामी की उपाधि मिलती थी वहाँ नयों को साधु कहा जाता था। साधु पूर्णानन्द जी जब सान पर चढ़कर इस्पात सिद्ध हुए तो उन्हें भी श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ही कहा जाने लगा।

जिनके टेढ़े प्रश्न पर उपदेशक क्लास का आन्दोलन आरम्भ हुआ वह तो विद्याध्ययन के लिए अलग जा बैठे और सारा बखेड़ा मेरे गले पड़ गया। उन दिनों

पण्डित गुरुदत्त जी लाहौर की सामाजिक व्यवस्था से अप्रसन्न थे। एक ओर तो उनकी यह शिकायत थी कि दयानन्द कॉलेज के बोर्डिंग हाउस में मांस का बाबरचीखाना है और दूसरी ओर राय मूलराज से वेदों और वेदकर्ता परमात्मा तक को जबाब देने वाले आर्यसमाज के अगुवा बने हुए हैं। उन दिनों राय बहादूर नारायणदास एम.ए. पण्डित गुरुदत्त के अनन्य भक्त थे, उन्हीं की चेष्टा पर भक्त ईश्वरदास एम.ए. के स्थान में एक सम्मेलन हुआ जिसमें पण्डित गुरुदत्त ने स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त विषयों पर अपनी सहमति प्रकट की। विस्तारपूर्वक सम्मेलन का वर्णन उचित स्थान पर होगा, यहाँ जतलाने से यह तात्पर्य है कि पण्डित गुरुदत्त से राय मूलराज के सब अनुयायी उपर्युक्त कारण से रुष्ठ हो चुके थे। इसलिए अब उपदेशक क्लास के आन्दोलन को दयानन्द कॉलेज के अधिकारियों ने टाला और मैंने अपनी स्वतंत्र सम्मति से प्रचारक में लिख दिया कि जब तक दयानन्द कॉलेज कमेटी उपदेशक क्लास को अपने अधीन खोलना स्वीकार न करे तब तक उक्त कार्य के लिए धन श्री पण्डित गुरुदत्त के नाम पर भेजा जाया करे, तब राय मूलराज और उनके अनुयायी गुरुदत्त के पीछे हाथ धोकर पड़ गए। कभी गुरुडम की बुनियाद डालने का दोष उन पर लगाया, कभी कॉलेज की प्रिंसिपलशिप का अभिलाषी उन्हें बतलाया तात्पर्य यह कि जितने मुँह उतनी बातें, पण्डित गुरुदत्त के सम्बन्ध में गढ़ी जाने लगी।

पण्डित गुरुदत्त तो अपनी प्रकृति के अनुसार इन सब लांछनों का उत्तर मौन साधकर देते थे, किन्तु मुझे उत्तर देने के लिए बाधित होना पड़ा।

तीन वर्षों तक यह झगड़ा खूब चला, जिसका वृत्तान्त प्रचारक के १,२,३ भागों में बड़ा ही शिक्षाप्रद है। आर्यसमाज में घरू युद्ध का यह प्रस्तावमात्र था और इसलिये जब आर्यसमाज का इतिहास लिखा जाए उस समय प्रचारक के प्रथम तीन वर्षों की फाइल उस इतिहास की पूर्ति में बड़ी सहायता देगी।

यहाँ पर स्वामी रामानन्द जी के विषय में इतना ही लिखकर समाप्त करता हूँ कि उपदेशक क्लास के लिये बहुत साधन एकत्र करा तथा पर्याप्त मासिक लिखाने के पश्चात् उक्त स्वामी जी बीमार हो गये। उनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गई कि सिविल सर्जन ने भी रोग असाध्य कहकर इलाज छोड़ दिया, तब मेरे मित्र राजकुमार जनमेजय के पुराने हकीम शेरअली के इलाज से स्वामी जी उठ बैठे इसी इलाज के कारण मैंने

पूर्ण श्रद्धा से हकीम शेरअली को भी पण्डित गुरुदत्त जी के इलाज के लिए भेजा था जिसका आश्चर्यजनक वर्णन आगे आवेगा। स्वामी रामानन्द जी बीमारी की खटिया से उठकर जो गये तो फिर मुझे उनके दर्शन ही न हुए।

पण्डित गुरुदत्त के अन्तिम दिवस

संवत् १९४६ का बड़ा भाग मैंने पण्डित गुरुदत्त जी के सत्संग तथा दूर से ही उनकी सेवा में बिताया। मैं लिख चुका हूँ कि श्रद्धालु भक्तों ने श्रद्धा सम्पन्न गुरुदत्त को दिन रात घेरकर उनके स्वास्थय को बिगाड़ दिया था। साथ ही विरोधी लोग मांस का झगड़ा छेड़कर अहिंसक गुरुदत्त को बड़ा कष्ट देते थे और वह सब कुछ सहते थे।

इस सम्बन्ध में एक कहानी कड़ी मनोरंजक है जिससे गुरुदत्त की अपूर्व वाक्‌चातुरी का पता लगता है। एक बार एक एम.ए. महाशय जो एक बड़े सरकारी पदाधिकारी थे और साथ ही प्रेमचन्द स्कालर भी, पण्डित गुरुदत्त के पास आकर बोले–'पण्डित जी आयुर्वेद का क्या बनाओगे! सुश्रुत में तो मांसभक्षण की खुली आज्ञा है।' उत्तर मिला–'कुछ है तो परन्तु क्या आप सुश्रुत के उपदेशानुसार आचरण करोगे?' एम.ए. महाशय चकित होकर पूछने लगे, 'क्या मांसभक्षण को ठीक मानने लग गये? उत्तर मिला–'मैं ठीक मानने लगा या नहीं, इससे कुछ प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि मांस खाना हो तो उत्तम ही खाना चाहिए। तो सबसे उत्तम मांस मनुष्य का है। मनुष्यों में से भी यदि एम.ए. का हो तो अत्युत्तम और फिर प्रेमचन्द स्कालर का कहीं मिल जाय, तो सोने पर सुहागा। अतीव उत्तम भोजन होगा।' एम.ए. महाशय नमस्ते कहकर रफूचक्कर हो गए।

उन दिनों एक ओर तो पण्डित गुरुदत्त को क्षय रोग का प्रारम्भ था और दूसरी ओर उनके विरुद्ध विचित्र प्रकार के प्रवाद फैलाये जा रहे थे। कभी कहा जाता कि वह दयानन्द कॉलिज के प्रिंसिपल पद के अभिलाषी हैं, कभी कहा जाता कि भगवे धारण कर लिये हैं और गुरु बनना चाहते हैं, कभी यह गप्प उडाई जाती कि वह सारे उपदेशकों को वश में करके मनमानी चलाना चाहते हैं। बड़ी बात यह थी कि जिन लाला साईंदास जी ने बड़े यत्न से गुरुदत्त को आर्यसमाज का रत्न बनाया था, जिनका सचमुच गुरुदत्त के साथ पिता पुत्र का सम्बन्ध था, उनको लोग बराबर भड़काते थे। एक बार शायद ज्येष्ठ १९४६ के अन्त में लाहौर पहुँचकर यह बातें सुनी। पण्डित

गुरुदत्त जी के पास गया और अपनी प्रकृति के अनुसार उनसे सीधे प्रश्न पूछे। मुझे वे प्रश्नोत्तर अभी तक याद हैं।

मैं –'पण्डित जी! यह आपके प्रति क्या जनश्रुतियाँ फैल रही हैं? लोग कहते हैं कि आप दयानन्द कॉलेज के प्रिंसिपल के अभिलाषी हैं और मुझे कालिज कमेटी के एक अधिकारी ने बतलाया है कि आपने कॉलिज के प्रोफेसर पद को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि आप प्रिंसिपल बनना चाहते हैं।'

पं० जी–'मेरी तो कोई अभिलाषा प्रिंसिपल बनने की नहीं। जिस कॉलिज के लिये मैंने स्वयं धन दिया और भिक्षा माँगी उससे वेतन कैसे लूं? मुझे निकम्मा समझ कृपा करके अधिकारियों ने साइन्स का प्रोफेसर बनाना चाहा था। मैंने उत्तर दिया कि वेतन लेकर तो काम करूँगा नहीं–यह दो तीन घण्टे वैसे ही पढ़ा दिया करूँगा। परन्तु साईंस नहीं प्रत्युत वेद। उन्होंने मुझ से वेद पढ़वाना माना नहीं और बात समाप्त हो गई।' उसी समय मास्टर दुर्गाप्रसाद जी आ गये जिन्होंने बतलाया कि पण्डित गुरुदत्त को पता नहीं है परन्तु उन्होंने (मास्टर दुर्गाप्रसाद) एवं लाला लालचन्द जी ने प्रधान से कहा था कि वैदिक कॉलिज का प्रिंसिपल वेद का जानने वाला ही होना चाहिये। फिर मैंने पूछा–' क्या आपने संन्यासियों का वेश धारण कर लिया है?' उत्तर मिला–' अब धन तो पास है नहीं और गर्मियों के दिन हैं, धोबी को बहुत पैसे क्यों दूं? मैंने घर पर पहिनने का कुर्ता रंग लिया है जिसे नित्य धो लेता हूँ।' मैंने फिर पूछा–'यह बहुत से भगवेपोश चेले क्यों मूंडे हैं? इस पर पण्डित जी कुछ दु:खी हुए और बोले–'मुन्शीराम जी! यह संन्यासी महात्मा सब मेरे गुरु हैं। इनके विषय में ऐसा प्रवाद सुनकर मुझे खेद होता है।'

गुरुदत्त जी के पास होकर मैं लाला साईंदास जी की सेवा में गया और उनको सब कुछ सुनाया। फिर मैंने कहा, 'लाला जी! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता पुत्र में लोग तो द्वेष फैलाने का प्रयत्न करते हैं, आप क्यों नहीं स्वयं गुरुदत्त से स्पष्ट बातचीत करते?' श्री लाला साईंदास जी को मेरी बात पसंद आई और मेरे साथ पण्डित गुरुदत्त के मकान को चल दिये। यदि उस दिन पण्डित गुरुदत्त घर होते तो शायद आर्यसमाज का इतिहास भी बदल जाता, परन्तु वह बाहर भ्रमण को चले गए थे। मैं जालन्धर को चला आया और जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त, मित्रों के अनुरोध पर मरी

पर्वत पर सरदार उमराव सिंह मजीठिया के अतिथि बनकर चले गये।

पण्डित गुरुदत्त की अकाल मृत्यु

मरी पर्वत से हितैषियों के रोकते हुए भी, पण्डित गुरुदत्त अपने प्रिय समाज में से एक के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए। ऐसे कर्मवीर के लिए विश्राम के कुछ अर्थ ही न थे। पेशावर से अधिक बीमार होकर लाहौर लौटे। तब मुझे पण्डित गुरुदत्त के दर्शन लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर हुए। इन्हीं दिनों में दयानन्द कॉलिज कमेटी का भी अधिवेशन हुआ करता था और किसी कार्य में तो पण्डित जी सम्मिलित न हो सके, केवल कॉलिज कमेटी के उत्सव पर पहुँचे। अभी अधिवेशन आरम्भ होने में देर थी, पण्डित गुरुदत्त निर्बलता के कारण बेंच पर लेट गये। उसी वर्ष दयानन्द कॉलिज में आर्ष ग्रन्थ की शिक्षा पर बल दिया जाने लगा था।

यह पहिला वर्ष था, जब लाहौर आर्यसमाज के उत्सव की वेदी वेदज्ञ गुरुदत्त की विद्यमानता से वंचित रही। पण्डित गुरुदत्त का स्थान लाला लाजपतराय ने लिया और व्याख्यानों का क्रम ही बदल गया। इसके पश्चात् पण्डित गुरुदत्त का रोग बढ़ता गया। पण्डित जी अपने पूर्ण भक्त रामनारायण दास जी के यहाँ गुजरांवाले पहुँच गये। डॉक्टर फतहचन्द सिविल सर्जन बड़े योग्य वैद्य समझे जाते थे, उन्हीं की कोठी में पण्डित गुरुदत्त की चिकित्सा शुरू हुई। डॉक्टर फतहचन्द ने बड़ी सेवा की, भोजन तक अपने हाथ से बनाकर खिलाया, परन्तु रोग का पता न लगा। तब लाहौर मेडिकल कॉलेज के प्रसिद्ध डॉक्टर मलरोनी को बुलाया गया। पण्डित गुरुदत्त ने पहले उन्हीं की परीक्षा लेनी आरम्भ की और जब उनकी योग्यता पर विश्वास हो गया तो विश्वासपूर्वक उनसे शरीर परीक्षा करवाई। डॉक्टर मलरोनी की सम्मति में क्षय रोग न था। परन्तु उन्होंने यह कहा, 'गुरुदत्त का मस्तिष्क दिन रात काम करता है। ऐसा उद्योगी पुरुष मैंने भी कभी नहीं देखा। यदि उनको स्वस्थ करना हो तो किसी ऐसे वायुमण्डल में ले जाओ जहाँ मस्तिष्क काम करना ही छोड़ दे।' आर्य पुरुष यह सुनकर प्रसन्न हुए कि क्षय रोग नहीं, परन्तु डॉक्टर मलरोनी की चेतावनी पर किसी ने भी ध्यान न दिया।

संवत् १९४६ के अन्त में पण्डित गुरुदत्त की शारीरिक अवस्था के कारण कोई और काम न कर सका। लाहौर में पहुँचते ही जालन्धर से हकीम शेर अली को

इलाज के लिए भेजा गया था। उनकी औषध का अद्‌भुत चमत्कार, पण्डित गुरुदत्त की जालन्धर के लिए तैयारी, कुपथ्य के कारण फिर बीमार होना, फिर पण्डित जर्नादन की चिकित्सा और उससे निराश होकर फिर अंग्रेजी इलाज, रोग का भयानक रूप धारण करना और 'शान्ति सरोवर में स्थान' की उत्कण्ठा पूर्वक विद्या तथा बुद्धि के अवतार का प्राणत्याग करना, ऐसी घटनाएँ हैं जिनका वर्णन हो नहीं सकता। यद्यपि पण्डित गुरुदत्त का जीवन लिखा जा चुका है परन्तु उनके पवित्र जीवन से जो शिक्षा ली जा सकती है उसका अन्तरीय सार अब तक सर्वसाधारण के सामने नहीं आया। वह सार सर्वसाधारण के सामने रखा हुआ, निस्सार ही सिद्ध हुआ होगा क्योंकि ऐसे महान् आत्मा के साथ सम्बन्ध हुए बिना उनके जीवन का वास्तविक रहस्य प्रकट नहीं होता।

पण्डित गुरुदत्त को तीन आर्यसमाजों से बड़ा प्रेम था, पेशावर, क्वेटा और जालन्धर। तीनों से प्रेम का प्रेरक कारण एक ही था। तीनों आर्यसमाज में सभासदों के सदाचार पर बल दिया जाता था। पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु ५ चैत्र संवत् १९४३ (९ मार्च १८९०) के दिन हुई। ११ चैत्र १९४६ (१५ मार्च १८९०) के प्रचारक में लिखा है-'क्वेटा आर्यसमाज की योग्य अन्तरंग सभा ने निश्चय किया है कि आगे के लिए मद्य मांस का सेवन करने वालों को समाज की सभासदी में न लिया जाय और वर्तमान सभासदों को नोटिस दिया गया है कि १ जुलाई तक इन नियम विरुद्ध आचरणों से मुक्ति लाभ करें। क्वेटा समाज की वह स्पिरिट सराहनीय है। अन्य आर्यसमाजों को भी इसका अनुकरण करना चाहिए।

पेशावर आर्यसमाज में सदाचार पर इतना बल था कि यदि कोई सभासद् निर्बलता के कारण आचार में शिथिल हो जाता तो आजकल की तरह कुछ लुंगाडे साथ मिलाकर भले मानसों की पगड़ियाँ उतारना शुरू न कर देता, प्रत्युत प्रार्थनापत्र पेश कर देता कि जब तक वह नियम पालन में दृढ़ न हो जाय उसका नाम चन्दा देनेवाले सहायकों में लिखा जाये, और जालन्धर आर्यसमाज में तो नव प्रविष्ट आर्य की दस महीनों तक परीक्षा करके उसे आर्यसभासद् बनाया जाता था।

पण्डित गुरुदत्त के कार्यों का वर्णन इस लेखमाला में आगे भी कभी-कभी आयेगा। परन्तु उनकी योग्यता का दृष्टान्त देना यहाँ आवश्यक है। अपनी मृत्यु के एक

वर्ष पहिले तक पण्डित गुरुदत्त ही दयानन्द कॉलिज के लिए धन एकत्र करने के अद्वितीय साधन थे और इस कॉलिज की उन्नति का बड़ा आधार उन पर था। परन्तु आज उस संस्था में उनका नामलेवा भी कोई नहीं। किन्तु एक काम है जिस पर से गुरुदत्त का नाम मिटाने की शक्ति किसी व्यक्ति में नहीं है। वह वैदिक मैगजीन के तीन अंकों के लेख हैं जिन्होंने फ्रांस और इंग्लैण्ड में हलचल मचा दी थी। जब जीवात्मा विषयक उनका पहिला लेख निकला था तब जालन्धर के बड़े योग्य अंग्रेजीदां लोगों को भी उसके समझने के लिए चार-चार बार उस लेख की आवृत्ति करनी पड़ी थी और अब तक योरुप और अमेरिका में आर्यसमाज के उच्च विचार फैलाने का गुरुदत्त के लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। जो उपनिषद् व्याख्यान का क्रम पण्डित गुरुदत्त ने अंग्रेजी में आरम्भ किया था उसको भी आगे लेजानेवाला कोई उत्पन्न न हुआ। वैदिक मैगजीन का नाममात्र के लिए पुनरुज्जीवन किया गया, परन्तु उसे सचमुच वेदों का प्रचारक बनाने में अभी बड़ी मञ्जिलें बाकी हैं।

एक वर्ष की कठिन परीक्षा

पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु से पहले ही मेरी धार्मिक परीक्षा आरम्भ हो गई थी। स्त्री-शिक्षा के भक्त लाला देवराज के बड़े भाई श्री बालकराम जी मेरे बड़े मित्र थे। इसका कारण शायद यह भी था कि मेरी धर्मपत्नी को उनके सब भाइयों में से यही अधिक प्यार करते थे जिन निर्बलताओं में बालकराम जी के साथ मैं सहकारी रह चुका था उनसे स्वयं मुक्त होने पर मैं उनको भी मुक्त कराना चाहता था इसलिए उनसे बड़ा गाढ़ा सम्बन्ध था। संवत् १९४६ का श्रावण मास मेरे लिए बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। एक ओर तो प्रस्ताविक उपदेशक श्रेणी के झगड़ों को सामने रखकर पण्डित गुरुदत्त के विरोधी उन पर कटाक्ष करते थे जिसका अज्ञात साधन वे मुझे बना लेते थे। मैंने कहीं लिख दिया कि जब तक कॉलिज श्रेणी का खोलना दयानन्द कॉलिज कमेटी व आर्य प्रतिनिधि सभा नियमपूर्वक स्वीकार न करले तब तक उक्त श्रेणी के लिए धन पण्डित गुरुदत्त के पास भेजा जाये। फिर क्या था, शोर मचकर आकाश और पाताल एक कर दिया गया। मनुष्य पूजा की बुनियाद पड़ रही है, गुरुडम की आधारशिला रखी जा रही है-इत्यादि। यह कोलाहल वे लोग मचाते थे जो सब

संस्थाओं को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का प्रयत्न कर रहे थे और उन्होंने संगठन के सब नियमों को पाँव तले रौंद डाला था।

दूसरी ओर उस महीने अनावृष्टि के कारण गर्मी बहुत पड़ी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस श्रावण की तीन चार रातें ऐसी भयानक व्यतीत हुई कि नगर की घनी बस्ती से व्याकुल होकर मेरे कई मित्र खुले अहाते में आते और रात को दो-दो बार मेरे ठण्डे पानी के कूप पर स्नान करने के लिए डोल को खटखटाते रहते।

ऐसी अवस्था में प्रचारक का सम्पादन तथा साथ ही आर्यसमाज का अन्य कार्य और इस पर इमारत बनने के कारण धन कमाने की आवश्यकता कचहरी को घसीट रही थी और सबसे बढ़कर हैजे का आक्रमण, विचित्र दशा हो रही थी। यह अवस्था थी जब श्रावण के अन्तिम दिवस १४ अगस्त १८८९ ई० की रात को लाला बालकराम का देहान्त हो गया। आर्यसमाज जालन्धर ने अनावृष्टि के चिन्ह देखते ही बड़े-बड़े यज्ञों पर बल दिया था। बजाजे वाले बड़े चौक में जिस दिन हवन हुआ उस दिन पूर्णाहुति पड़ते ही, मूसलाधार वर्षा होने लग गई। हम लोगों ने उठकर शामियाने के बीच में बांस की चोब लगा हवन कुण्ड की रक्षा की और दो घण्टों तक हरिकीर्तन से बाजार को गुंजा दिया। यज्ञ की तैयारी के समय जो दुकानदार विरोध कर रहे थे वे हम लोगों के धर्म-प्रेम की नुमाइश को देख आप खिंच आये और हमारा साथ देने लगे। सारे शहर में धूम मच गई कि आर्यों ने आनावृष्टि को दूर कर दिया और १५ स्थानों से हवन के लिए वही निमन्त्रण मिल गया।

वर्षा तो हुई परन्तु हैजा साथ ही फूट निकला, और बालकराम जी की अकाल मृत्यु ने शहर में भूचाल डाल दिया। वकील और रईस बाहर को भागने लगे और आर्य पुरुष अपने कर्तव्य को समझते हुए बीमारों की सेवा में लगे रहे।

बालकराम जी के देहान्त पर मेरे सारे परिवार को कष्ट हुआ। मेरी धर्मपत्नी बड़ी लाजवन्ती थी और इसलिए उनमें दिखलावे का लेशमात्र की स्वभाव न था। दु:ख को प्रकट करने से, रो पीट कर, कुछ काल में शान्ति सी आ जाती है, परन्तु हृदय की गहराई में कष्ट को अनुभव करने वाले की सहन शक्ति का कुछ पारावार ही नहीं। सौभाग्यवती शिवदेवी को जो दु:ख हुआ उसे घर का कोई व्यक्ति, उनकी माता व मेरे अतिरिक्त, कोई न समझ सका।

जिस समय बालकराम जी की मृत्यु हुई उनके पिता घर न थे और सबसे छोटे भाई पिता के साथ गए हुए थे। भक्तराम जी उस समय इंग्लैण्ड में बैठकर बैरिस्टरी की तैयारी कर रहे थे। घर में केवल देवराज ही थे, जिनका कोमल हृदय व्याकुल हो जाता यदि मैं पास न होता। दिन रात मुझे उनके पास रहना पड़ा। उसी समय मुझे छूटा हुआ हुक्के का रोग फिर से आ लगा। पृथ्वी पर सोने का कभी अभ्यास न था। श्री देवराज जी की बिरादरी के सब लोग आकर जमीन पर सोते थे; मुझे भी भूमि पर सोना पड़ता था। तीसरी रात को पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। बहुत यत्न किए, जो औषधियाँ थी, उनसे काम लिया, जीरे का तेज अर्क मिला उसका भी सेवन किया परन्तु दर्द दूर न हुआ। तब उपस्थित वैद्य ने चिलम में कुछ रखकर दम लगवाया जिससे पीड़ा दूर हो गई। सम्भव है कि पीड़ा निवृत्ति अन्य औषधियों का परिणाम हो, परन्तु मुझे स्वयं हुक्का पीने वाले डॉक्टर ने निश्चय दिलाया कि जिस व्यक्ति ने वर्षों हुक्के की गुलामी की हो उसे अपनी पाचनशक्ति की सहायता के लिए हुक्के की शरण फिर से लेनी चाहिए। दूसरे दिन से ही हुक्केबाजी का आरम्भ हो गया, परन्तु दूसरी बार जो दो वर्षों पश्चात् इस व्यसन को तिजांजलि दी, तो आज तक यही नहीं कि व्यसन का नाम नहीं लिया प्रत्युत इसकी बदौलत बहुत से और व्यसनों से भी मुक्ति लाभ की।

इस मौत पर भी आर्यसमाज के सभासदों ने विचित्र शान्त अवस्था का दृश्य दिखाया। बालकराम जी म्यूनिसिपल कमिश्नर थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे, सब राष्ट्रीय सभाओं के उत्तेजक थे, इसलिये उनकी मौत पर जहाँ एक दिन मण्डी बन्द रही, म्यूनिसिपिल बोर्ड स्कूल बन्द रहा, यहाँ तक कि सनातन धर्म सभा ने भी शोक में अपनी सभा का साप्ताहिक अधिवेशन बन्द कर दिया, वहाँ आर्यसमाज का साप्ताहिक अधिवेशन बराबर हुआ और मैंने ईश्वर-प्रार्थना करके पूर्ववत् ही उपदेश दिया। जालन्धर आर्यसमाज में उन दिनों कुछ विचित्र ही भाव काम करते थे जिनका अब प्राय: आर्यसमाजों में अभाव सा दीख पड़ता है।

श्री बालकराम जी की अकाल मृत्यु ने मेरी धर्मपत्नी को बहुत उदास कर दिया था, इसलिये सितम्बर की छुट्टियों में उन्हें दोनों पुत्रियों तथा हरिशचन्द्र को साथ लेकर मैं हरिद्वार पहुँचा। हरिद्वार में कुछ वर्षों पहले मैं केवल एक दिन रहकर

ऋषिकेश नहीं गया। एक दिन १८८९ के सितम्बर (संवत् १९४६ के भाद्रपद) में मेह बरसते में हम सब हरिद्वार पहुँचे। हरिशचन्द्र की आयु उस समय दो वर्ष की थी। हम कपूरथले की हवेली में उतरे थे। हमारे आंगन के सामने ही गँगा बहती थी। हरिशचन्द्र ने कुंजियों का गुच्छा खेलते-खेलते जोर से गंगा में फेंक दिया। जब ढूंढ पड़ी तो गँगा की और बेपरवाही से हाथ बढ़ाकर बोला, 'वह गई, कुंजियाँ बह गई।' हम सब हँस पड़े और घर लौटने पर हमे सब ताले तुड़वाने पड़े। हरिशचन्द्र की निरपेक्षता बहुत पुरानी है। मेरे आर्यसमाज नाम रूपी वज्र-प्रहार पर भी पंडा जी ने आ घेरा। हमारा पंडा था भलामानस, बोला-'मुझे तो सेवा करनी है चाहे कुछ देना वा न देना।' पंडे यात्रियों को चारपाई पर सोने से मना किया करते हैं। हमारे पंडे ने चरपाईयाँ ला दीं। नित्य घर से बाँस का आचार तथा दही लाकर देने लगा। पाँच दिन इतना सुख पहुँचाया जो २० रुपये व्यय करने पर भी न मिल सकता। मैंने चलते समय ५ रुपये भेंट किये। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। मैंने तो समझा कि पंडा जी घाटे में रहे परन्तु पंडा जी ने मेरी धर्मपत्नी के पास पहुँचकर ५ और वसूल कर लिये।

अब तो पंडा जी का हौंसला बड़ा बढ़ गया। उन्होंने खोलकर बही सामने रख दी। और बोले-'यजमान आप आर्यसमाजी हैं तो हम भी आपसे मूर्तिपूजा के लिए नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिये कि इस यात्रा में मैंने आपकी सेवा की थी।' मैने लिख दिया, 'हरिद्वार में सैर के लिये आया, यदि यहाँ पांडे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीक और निवास के योग्य है।' उस समय पंडा जी ने बड़ी प्रसन्नता से समझा कि मैदान मार लिया है, परन्तु जब पीछे से किसी से पढ़वाया होगा (क्योंकि प्राय: पण्डों के लिए काला अक्षर भैंस बराबर होता है) मुझे खूब सुनाई होगी।

मैं अपने एक वृद्ध सम्बन्धी को साथ लाया था जिनके साथ परिवार को अपने ग्राम तलवन पहुँचाने भेज दिया और मैंने मेरठ की ओर प्रस्थान किया। डॉक्टर रामचन्द्र जी मेरे पुराने परिचित तथा सम्बन्धी भी थे, उनके यहाँ मैंने डेरा किया। इसी समय 'रामचन्द्र वैश्य, लाल बाजार, मेरठ' से मिला। इनका नाम लाला के बाजार से अलग, समझ में नहीं आ सकता था। शोक यह कि यह महाशय अब मर चुके हैं। उस समय वह देव-समाजी गुरु अग्निहोत्री के बड़े चेले थे। डॉक्टर भी उन्हें अग्निहोत्री कहकर पुकारा करते थे। मुझ से मिलकर वह आर्यसमाज की ओर झुक गये और

इसके पश्चात् दूसरे वर्ष ही अपनी धर्मपत्नी सहित पंजाब में दौरे के लिए आए थे। मेरठ में पहुँचकर मैंने २३ भाद्रपद (८ सितम्बर आदित्यवार)को स्थानीय समाज मन्दिर में 'अमर जीवन' विषय पर उपदेश दिया। बड़ा चबूतरा था जिस पर दरियाँ बिछ गईं। चारों तरफ लैम्पों की रोशनी भी हो गई। उपस्थिति २५ की थी, एक-एक लाइन बन गई। स्थान ४०० तक का समेट लिया और श्रोता केवल २५ बैठे। अन्य लैम्प तो बड़े उत्तम परन्तु उपेदशक की चौकी पर एक बड़ी मैली पुरानी लालटेन थी जिसके शीशों पर मिट्टी चढ़ी थी और अन्दर धुन्धला सा दिया जल रहा था। जब लैम्प लाने को कहा गया तो उत्तर मिला-'यह श्री स्वामी दयानन्द जी के समय की लालटेन है यह न बदलेगी।' अस्तु। एक नये पण्डित नौकरी के लिये बुलाये गये थे, उनकी परीक्षा होनी थी। वह ईश्वरोपासना के लिये बैठाये गए। उनकी परीक्षा लेनी थी इसलिए एक-एक शब्द व्याकरण की रीति से सिद्ध करते-करते उन्होंने बहुत समय ले लिया। तत्पश्चात् मैंने अपना कथन कह डाला। भजनों का कोई प्रबन्ध न था अन्त में एक वेदमन्त्र बोलकर अधिवेशन समाप्त हुआ करता था। परन्तु उस समय नये पण्डित जी किसी कार्य के लिये चले गये थे। सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, तब एक भद्र पुरुष ने कहा-'चन्द्रभान जी! आप भी तो ब्राह्मण हैं, मन्त्र बोल दीजिए।' तब पता लगा कि सभा-विसर्जन का मन्त्र ब्राह्मण कुलोत्पन्न को ही बोलना चाहिए। इससे पाँच मास पश्चात् यही लीला मैंने राजा साहब मण्डी के यहाँ देखी, जो सायंकाल की संध्या के लिये उस समय तक नहीं उठा करते थे, जब तक पण्डित विद्यासागर जी एक विशेष श्लोक चेतावनी का न बोल देते थे।

मेरा उपदेश सुनकर युवकों ने आग्रह किया कि मैं व्याख्यान दूँ, परन्तु कठिनाई यह हुई कि बिना अन्तरंग की आज्ञा के मेज-कुर्सी लगाकर व्याख्यान नहीं हो सकता था। इसलिए यह ठहरी थी कि मैं अपने भाई साहब से, जो बहादुरगढ़ में थानेदार थे मिलने चला जाऊँ और लौटते हुए व्याख्यान दूँ, तब तक अन्तरंग सभा का जलसा हो चुकेगा।

बहादुरगढ़ में भाद्रपद २८, २९ (१३ और १४ सितम्बर) को व्याख्यान देकर मैं फिर मेरठ लौटा और ३० भाद्र (१५ सितम्बर) को फिर उपदेश दिया। मैंने चाहा कि भजन-कीर्तन की प्रथा यहाँ चला दूँ, इसलिये एक युवक को हारमोनियम बजाने

पर राजी भी कर लिया। परन्तु समय पर उसको इतने ताने मिले कि उसने बजाने में लज्जा प्रकट की। डॉक्टर रामचन्द्र जी को साथ ले मैंने वैसे ही भजन गाया तब कुछ और भाई सम्मिलित हो गये। जब इसके तीन-चार साल बाद उत्सव पर नगर कीर्तन कराया गया था उस समय भी मेरठ के बाजारियों ने खूब फबतियां उड़ाई थी। अब की बार तो मेज-कुर्सी लग गई और तीन सौ उपस्थिति में मैं दो व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आया।

कार्तिक में आर्यसमाज अमृतसर के जलसे पर मैंने दो व्याख्यान दिये थे, परन्तु उसी समय से पण्डित गुरुदत्त का रोग बढ़ने लगा और मेरे लिए हर सप्ताह जाना एक आवश्यक कार्य हो गया। यद्यपि पण्डित जी की बीमारी की चिन्ता अधिक थी, परन्तु इससे धर्म के कार्यों में कुछ शिथिलता नहीं आती थी। इन्हीं दिनों वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचाने का मैंने दृढ़ व्रत धारण किया था।

जालन्धर प्रान्त में शास्त्रार्थों की धूम

मैं लिख चुका हूँ कि स्वामी रामानन्द, युवक संन्यासी पूर्णानन्द को वैदिक धर्म की शरण में लाये थे। वह स्वामी पूर्णानन्द जी कपूरथले अपने पुराने परिचित पण्डित हरिकृष्ण के पास छः दर्शनों की पुनरावृत्ति करने गये थे। उक्त पण्डित जी ने हमारे संन्यासी को पुराणों के हेर-फेर में ही फँसा रखा और कपूरथला के अर्थ-सचिव मिश्र अछरूमल जी ने उन्हें तंग करना शुरू किया। तब स्वामी पूर्णानन्द जी ने विज्ञापन देकर १५, १६, १७ कार्तिक (१,२,३ नवम्बर) को प्रातः खूब व्याख्यान दिये और पौराणिक मत की पोल खोली। मुझे भी स्वामी जी ने सूचना भेज दी थी। एक ओर तो स्वामी जी की ओर से सूचना आई और दूसरी ओर से मिश्र अछरूमल जी का खुला चेलेंज था कि यदि मैं कपूरथले में प्रचार के लिये आऊँगा तो वह मुझे गिरफ्तार करा लेंगे। मैंने १६ कार्तिक (२ नवम्बर) को ही दीवान अछरूमल जी को सूचना भेज दी और १७ कार्तिक (३ नवम्बर) को व्याख्यान के लिए पहुँच गया। मिश्र अछरूमल कट्टर सनातनी थे, इसलिये आर्यसमाज के सभासद् उन्हें दूर से छेड़ा करते थे। एक आर्य मेरे व्याख्यान का विज्ञापन मिश्र जी के मकान की दीवार पर लगा आया। उन्होंने उसे पढ़ते ही फड़वाकर पाँच-छः कलसे पानी से दीवार को धुलवा डाला। मेरे व्याख्यान में एक महाशय बोले, मैंने उनसे ही प्रश्नोत्तर आरम्भ कर

दिये। मिश्र जी के कहने पर कोई मजिस्ट्रेट तो मेरे नाम वारंट गिरफ्तार देने को तैयार न हुआ, परन्तु कुछ लुच्चे अवश्य व्याख्यान-गृह की छत पर आ बैठे और उनमें से एक पक्की ईंट मेरी खोपड़ी को ताक कर फैंकी। सच कहा है-'मारने वाले से बचाने प्रबल है।' जब ईंट ताककर चलाई तो मेरा सिर उसके निशाने में था परन्तु मैं दूसरी ओर मुँह करके उधर सम्बोधन कर जा खड़ा हुआ और ईंट जोर मेज पर पड़ी। ८०० के लगभग श्रोतागण थे जो प्राय: हमारी ओर हो चुके थे, कुछ ने उन लुच्चों को पकड़ लिया और उनका मुँह बंद कर बाहर छोड़ आये। कपूरथले पर इसके पश्चात् कई धावे हुए परन्तु दीवान अछरूमल की धमकी-धमकी ही रही।

इस समय एक ओर तो स्वामी लक्ष्मणानन्द जो कुछ दिनों तक प्राणायाम की शिक्षा कुछ आर्य सभासदों को देते रहे और दूसरी ओर स्वामी पूर्णानन्द जी से संस्कृत की पढ़ाई आरम्भ कर दी। उन दिनों मैंने भी फिर से स्वामी जी के आये पत्र रखे और लाला रामकृष्ण जी प्रधान तथा कुछ अन्य सभासद् भी पढ़ने लगे थे जिनमें सुकेत के राजकुमार जनमेजय मुख्य थे।

जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव से लगभग २२ दिन पहिले मण्डी के राजा विजयसेन जी ने जालन्धर आकर यह इच्छा प्रकट की कि आर्यसमाज और सनातन धर्म सभा के मन्तव्य, दोनों के प्रसद्धि व्याख्याताओं द्वारा सुनें। १९ मार्गशीर्ष १९४६ के दिन यह प्रसिद्ध धर्म-चर्चा आरम्भ हुई, उसी दिन राजा साहब आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित हुए। राजा साहब पौराणिक थे इसलिये पटियाले के प्रसिद्ध राजपण्डित श्री कृष्ण शास्त्री राजा साहब को सहायता देते रहे और प्रश्नों के उत्तर मैं, स्वामी पूर्णानन्द तथा श्री देवराज जी देते रहे। राजा साहब ने बहुत विषयों में आर्यसमाज के मन्तव्यों से सहमति प्रकट की और भोलेपन से कहा-'आपकी सब बातें मान लेंगे परन्तु मूर्तिपूजा मनवायेंगे।' इधर से उत्तर मिला-'महाराज देखिये कौन किसको मना लेता है।' दूसरे दिन पण्डित आर्य-मुनि तथा पण्डित श्री कृष्ण शास्त्री का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि वेद में साकार पूजा का विधान है वा निराकार पूजा का। इस शास्त्रार्थ का बड़ा प्रभाव पड़ा और नगर में धूम मच गई।

पौष संवत् १९४३ के पूर्वार्द्ध में (दिसम्बर १८८९ के अन्त में) मैं जालन्धर और लुधियाना आर्यसमाज में सम्मिलित हुआ और उन्हीं के काम में फँसा रहा।

ब्रह्मानन्द ने भी इन्हीं दिनों स्वामी पूर्णानन्द जी से विद्याध्ययन करना आरम्भ किया। द्वाबा उपदेशक–मंडली ने भी इन्हीं दिनों कार्यारम्भ किया। जालन्धर आर्यसमाज की ओर आर्यजनता की विशेष दृष्टि पड़ने लगी। यह हालत थी जब शिकारपुर के पण्डित प्रीतमदेव शर्मा जालन्धर पधारे। उदासी केशवानन्द के अनुकरण में इन्होंने भी आर्यसमाज को गालियां देकर ही सनातनियों से अपना उल्लू सीधा करना शुरू किया। प्रीतमदेव कुछ मन्तव्यों में आर्यसमाज के साथ सहमत भी थे परन्तु जब स्वामी दयानन्द को गाली देते तो 'सनातन धर्म की जय' बोलकर धर्म–सभा के साथ मतभेद भूल जाते। जालन्धर आर्यसमाज ने लाहौर आर्यसमाजियों के तानों से तंग आकर इस समय स्वयं ही इस व्यक्ति का मुकाबला किया। अपने सभासदों द्वारा ही उनके व्याख्यानों का खण्डन कराया और शास्त्रार्थ के लिए भी तैयार हो गये। परन्तु धर्म–सभा ने उसकी जिम्मेदारी से इनकार कर दिया। इस हलचल में भी आर्यसमाज को कुछ नये सभासद् मिले। प्रीतम शर्मा के भड़काने से एक युवक आर्य दौलतराम को उसके पिता ने घर से निकाल दिया। दौलतराम ने बड़ी दृढ़ता दिखाई और समाज मन्दिर में निवास आरम्भ किया। समाज ने इस युवक की शिक्षा का भार अपने ऊपर लिया। फिर ठीक आयु होने पर उसका विवाह एक आर्य कन्या से करा दिया, और उसे धन कमाने के योग्य कर परिवार पालने योग्य बना दिया।

प्रीतम शर्मा का हम लोगों ने न केवल जालन्धर छावनी तक ही पीछा किया प्रत्युत होशियारपुर में भी स्वामी पूर्णानन्द तथा ब्रह्मानन्द को भेजने के अतिरिक्त मैंने भी व्याख्यान दिए और जो शंकाएँ वह सत्यार्थप्रकाश में दिए प्रमाणों पर उठाता, उनका समाधान पुराणों द्वारा उनके पास पहुँचा देता।

५ चैत्र संवत् १९४६ (१८ मार्च १८९०) की पण्डित गुरुदत्त का देहान्त हुआ। शोक सभा में सम्मिलित होने के पश्चात् चिरकाल तक मैंने लाहौर के दर्शन न किए। पण्डित गुरुदत्त के जीवन से दिव्य आत्मिक ज्ञान उपलब्ध करने जाया करता था और श्री लाला साईंदास के अनुभव से शिक्षा प्राप्त किया करता था, परन्तु पण्डित गुरुदत्त के बिछोड़े का दुःख अभी कम नहीं हुआ था कि ३० ज्येष्ठ संवत् १९४७ (१३ जून १८९०ई०) को लाला साईंदास भी ५१ साल की आयु में इस भौतिक शरीर को त्याग गये। अब लाहौर के साथ कोई विशेष लगाव न रहा। 'प्रचारक' में मेरे नोट

वर्तमान विषयों पर होते थे और मर्त्यलोक की खबर लाते थे, श्री देवराज जी के नोट आकाश में उड़ान भरते थे।

लाहौर की झगड़ालू रंग-भूमि से छुटकारा पाकर मैं संवत् १९४८ में बड़े उपयोगी कामों में लगा रहा। 'प्रचारक' के कुछ अंकों में आर्य पुत्री पाठशाला के न खुलने पर अपने ऊपर फटकार डालने के पश्चात् आखिर वह कन्या पाठशाला खुल गई जिसे आज हम 'कन्या महाविद्यालय' के रूप में देखते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म प्रचार में भी अत्यन्त अधिक भाग लिया। फगवाड़ा की सैर करके हमारे धार्मिक योद्धा ब्रह्मानन्द जी लुधियाने पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने हलचल डाल दी जिसके कारण मुझे वहाँ भी पहुँचना पड़ा। वहाँ वैदिक धर्म का खूब प्रचार हुआ। छः-छः घण्टों तक व्याख्यान हुए। क्रम यह था- मैंने आधे घण्टे तक धर्म विषय पर कहते हुए दूसरे यम (सत्य) की व्याख्या प्रारम्भ की, एक भाई बोल उठे कि है तो, परन्तु कलियुग में 'सत्य' कैसे चल सकता है। मैंने उस भाई से कुछ और शंका उठाई जिस पर तीसरा विषय आरम्भ हो गया। अन्त को वहाँ बड़ा प्रबल आर्य समाज स्थापित हुआ।

पंजाब के ग्रामों में, साधारण बुद्धि तथा विद्या रखने वाला मनुष्य धर्म प्रचार नहीं कर सकता। वहाँ ब्रह्मज्ञानी ही नहीं प्रत्युत चारवाकों के कान कतरने वाले भी मिल जाते हैं। इसी कारण के एक साधारण व्यक्ति से ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द की बड़ी मनोरंजक बातचीत हुई।

रतजगा करके मैं लुधियाना पहुँचा, इसलिए भोजन करके लेट गया। केवल कोपीन धारण किए एक नंगा जाट भादों की धूप में घास काटकर लाया था, घास का गट्ठर उतारकर विश्राम के लिए ब्रह्मचारी जी के पास बैठ गया। ब्रह्मचारी जी का पहले से परिचित मालूम देता था। वे उसे ईश्वर का अस्तित्व समझाने लगे। उसने कुछ बेढबसा उत्तर दिया। ब्रह्मचारी जी बोले-'क्या प्राचीन शास्त्रकार ऋषि महात्मा सब मूर्ख थे,? वे सब ईश्वरवादी थे।' जाट मुस्कराकर बोले-'मेरी गल सुन लओ। रातून गली विच विड़क होई। कुत्ता भौंकने लगा। सारे पिण्ड दे कुत्तीयां के चक्क लिया। विड़क सुनने वाले कुत्ते ने सिर चक्क के देखयां तां कुछ दिख्या। ओह तां सो गया। पर पिण्ड दे कुत्ते सारी रात भौंक दे ही रहे।'

ज्यों-ज्यों जाट की अकाट्य युक्ति को मैं सुनता त्यों-त्यों हँसी, विवश होकर

बाहर आती थी। मतलब उसका यह था कि जब एक ने भ्रम से ईश्वर कह दिया तो लाखों उसके चेले 'ईश्वर' ही कहने लगे। पहले का तो भ्रम दूर हो गया परन्तु उसके चेले उसी धुन राग को अलापते रहे। इसलिए मूर्खों की साक्षी की कोई युक्ति नहीं है। मुझे ब्रह्मचारी जी की फंसावट पर दया आई और मैंने बहुपक्ष की दलील को छोड़कर उसके साथ उस गंवारी भाषा में उसी प्रकार का विवाद आरम्भ कर दिया, फिर वह बड़े प्रेम से मेरे व्याख्यानों में अच्छे वस्त्र पहिनकर आया और अन्त को हमारा सहायक बन गया।

भादों और आसौज के महीनों में भी मैं बराबर धर्मप्रचार के लिए बाहर जाता रहा। नवांशहर और राहों की इस निमित्त से दो बार यात्रा की। जहाँ सवारी न मिली वहाँ पैदल चलकर समय पर पहुँच अपने कर्तव्य का पालन किया। इन्हीं यात्राओं में एक बार इक्का ऊपर आ गिरा और माथे पर ऐसा घाव लगा जिसका निशान अब तक बाकी है।

संवत् १९४७ में कई बार अपने ग्राम तलवन को जाते और आते हुए नूरमहल तथा नकोदर आदि स्थानों में धर्मप्रचार करता रहा। विशेष प्रचार का कार्य ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी करते रहे। इन्हीं दिनों अटक से दुकान करने वाले अमृतसर निवासी लाला धनपतराय ने सद्धर्म प्रचारक द्वारा अपनी पुत्री के लिए स्वयंवर विवाह का नोटिस दिया था। उस पर कई प्रसिद्ध आर्यसमाजियों की विचित्र प्रकार की सम्मतियाँ निकली थी जो इस समय बड़ी मनोरंजक प्रतीत होंगी; इनके उत्तर देने में मेरा बहुत समय लगा था। फिर द्वाबा गुरदासपुर उपप्रतिनिधि सभा का संघटन भी इन्हीं दिनों किया गया था जिसका विशेष काम मुझे ही करना पड़ता था। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द इस उपप्रतिनिधि सभा के अधीन बड़ा संतोषजनक काम करते रहे। ब्रह्मचारी जी को काम की बड़ी लगन थी। जालन्धर के इर्द-गिर्द इन दिनों खूब जोर से प्रचार हुआ। आर्यपुरुषों में उन दिनों कितनी दृढ़ता और शान्तिप्रियता का संचार था यह एक दृष्टान्त से ही विदित हो जाएगा।

शेख की बस्ती में पं॰ श्रीपति जी अध्यापक आर्यसमाज जालन्धर ने अपने गृह पर आर्यपुरुषों को धर्मप्रचार के लिए निमन्त्रित किया। बीच में विघ्न डालने के लिए विरोधी पौराणिकों ने झांझ बजाये, ढोलक पीटा और पंजाबी गन्दा गीत गाया।

परन्तु उपासक ईश्वरोपासना में मग्न रहे और जब प्रचारक ने इस पर भी दृढ़ता से उपदेश आरम्भ कर दिया और शान्ति को हाथ से न छोड़ा तो श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा और विघ्न डालनेवाले लज्जित होकर लौट गए।

इसी वर्ष मार्गशीर्ष में श्री पूर्णानन्द जी ब्रह्मचारी ने ब्रह्मानन्द को साथ लेकर द्वाबा गुरदासपुर उपप्रतिनिधि सभा की ओर से बिना वेतन प्रचार आरम्भ किया। श्री पूर्णानन्द जी तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी ने उस समय से जिस प्रेम से जीवन पर्यन्त वैदिक धर्म का प्रचार किया उसका वर्णन बड़ी विस्तृत पुस्तक में ही आ सकता है। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी तो वर्षों तक पंजाब में धर्मप्रचार करने के पश्चात् काशी जा विराजे और वहाँ से वैदिक धर्मोपदेशक मण्डली बनाकर निकलने का शुभ विचार था परन्तु उनकी आयु थोड़ी ही थी। योगाभ्यास करते हुए, सीमा से अधिक परिश्रम के कारण पहिले मस्तिष्क में विकार हुआ और फिर उनका देहान्त हो गया।

इसी वर्ष आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव में मैं सम्मिलित हुआ परन्तु लाहौरियों के साथ अधिक सम्बन्ध न जोड़ सका। यह पहला अवसर था कि पण्डित गुरुदत्त का स्थान लाहौर आर्यसमाज के प्लेटफार्म पर लाला लाजपतराय ने लिया और उसे उन्होंने उस समय निभाया भी बड़ी उत्तमता से। उस समय उनका सिद्धान्त यह था कि योरुप में केवल प्रकृति की उपासना में ही विद्वान लोग लगे हुए हैं और आर्यावर्त में आत्मिक जगत् की ओर ऋषियों के समय में पदार्थविद्या और ब्रह्मविद्या का मिलाप ही उपनिषद् जैसे ग्रन्थों के निर्माण का कारण हुआ है। इसलिए जब तक आर्यावर्त की ब्रह्मविद्या को पदार्थ विद्या की कसौटी पर नहीं परखा जाता तब तक जीवन का वास्तविक उद्देश्य ज्ञात नहीं हो सकता। इस कसौटी पर ब्रह्मविद्या को परखनेवाला भी समय की आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुआ और हमें दिखला गया कि जीवन का परमोद्देश्य क्या है?' अन्त में दयानन्द कॉलिज के लिए अपील करते हुए श्री लाजपतराय जी ने कहा कि–'प्राकृतिक धन को अमृत जीवन में बदलकर अपनी सन्तान के लिए एक स्मारक छोड़ जाओ।'

मांस विषय पर आन्दोलन इन दिनों छिड़ चुका था। २७ मार्गशीर्ष १९४७ के प्रचारक में स्पष्ट लिखा है कि–'मांसभक्षण पर दो दल हो रहे हैं।' इसके पश्चात् इस प्रश्न का चित्र कुछ भयानक सा होता गया। स्त्रियों को उच्च शिक्षा का अधिकार है या

नहीं? इस पर भी खूब विचार हुआ करता था। प्रचारक मांस-भक्षण को पाप तथा देवियों को उच्च शिक्षा का अधिकार बतलाने वाला था।

इसी वर्ष जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर द्वाबा गुरदासपुर उपप्रतिनिधिसभा के नियम स्वीकृत हुए। इस सभा का प्रधान मैं बना और मन्त्री श्री रामकृष्ण जी वर्तमान प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब। श्री पूर्णानन्द जी इस सभा के प्रथम उपदेशक बन ही चुके थे। बड़े जोर से प्रचारक का कार्य शुरू हो गया।

जालन्धर से मैं लुधियाना आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ जहाँ आर्यसमाज सम्बन्धी विशेष कार्य हुए। इन्हीं दिनों प्रो० मैक्समूलर ने अपना प्रसिद्ध 'मत्स्य सूक्त' लिखा था जिस पर प्रचारक में बड़ा जबरदस्त नोट निकला।

हरिद्वार का कुम्भ मेला ऋषि दयानन्द जी की मृत्यु के पश्चात् पहिली बार ही आने वाला था। संक्रान्ति वैशाख १९४८ को स्नान का दिन था। प्रचाकर में तैयारी के लिए बहुत लेख निकले परन्तु उस आन्दोलन को बीच में ही छोड़कर मुझे जालन्धर त्यागना पड़ा।

सुकेत पहाड़ में एक छोटी सी रियासत है। उसके दुष्टनिकन्दन सेन पर प्रजा की ओर से कई अभियोग चलाये गए। मनुष्य-घात, डाका, लूटमार, सभी प्रकार के दोष प्रजा ने लगाये थे। राजा के चचा मियां शिवसिंह रिसायत से निकाले हुए चिरकाल से जालन्धर में थे, उनके भी घर को राजा ने लूट लिया था। एक लाख का उन्होंने दावा किया था। राजा ने कमिश्नर साहब को जज मान लिया और स्वीकार किया कि जो दण्ड वह निश्चित करेंगे राजा सहन करने तैयार हो जाएँगे। जब मियां शिवसिंह सुकेत बुलाए गये तो उन्होंने यहाँ पहुँचते ही मुझे अपनी तथा अन्य प्रजा की ओर से वकील नियत कर बुलाने के लिए तार दिया।

सुकेत जाने से पहले मेरे अन्दर विचित्र देवासुर संग्राम हो रहा था। २७ पौष संवत् १९४७ (११ जनवरी, १८९१) की डायरी में लिखा है कि-'मैं अपने गत दो वर्ष के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हूँ, यद्यपि मैंने उस बीच में आर्यसमाज की बहुत सेवा की है। मैंने लगभग अकेले ही सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन किया है, वर्ण व्यवस्था पर एक ट्रैक्ट लिखा है, कुछ शास्त्रार्थ भी किए, बहुत सा व्याख्यान वैदिक धर्म के प्रचारार्थ दिया। परन्तु क्या मेरी आत्मिक अवस्था में वास्तविक उन्नति हुई है? हे हमारे

मनों को जाननेवाले! तू ही जानता है कि इस दिखावे में कैसे अपवित्र चेष्टाएँ छिपी हुई हैं। हे प्राणेश्वर! मुझे शक्ति दो कि मैं धर्ममार्ग पर चल सकूँ और सत्य पर दृढ़ रहूँ।'

उस समय के लेखों से ज्ञात होता है कि वकालत छोड़ने के लिए हृदय में हलचल मच चुकी थी। १२ जनवरी १८९१ ई॰ (२८ पौशण १९४७) की डायरी में एक महन्त के दुराचार का हाल लिखकर और संन्यासाश्रम की दुरावस्था का वर्णन कर लिखा है–"इस प्रकार की घटनायें जतलाती हैं कि मातृभूमि के पुरुद्धार के लिए बड़े उपयुक्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता है।" उसी दिन कचहरी में जाने का हाल लिखा है–'बार रूम (वकीलों के कमरे) में वकील भाइयों के साथ इस पेशे के धर्माधर्म विषय में बातचीत हुई। मैं बार–बार अपनी आत्मा से प्रश्न कर रहा हूँ कि वैदिक धर्म की सेवा का व्रत धारण करते हुए क्या मैं वकील रह सकता हूँ। मार्ग क्या है, कौन बतलाएगा?' अपने स्वामी परम पिता से ही कल्याण मार्ग पूछना चाहिए। यह संशयात्मकता ठीक नहीं। अपनी देश तथा धर्म की सेवा के लिये पूरा आत्म–समर्पण करना चाहिए। परन्तु परिवार भी एक बड़ी रुकावट है। मैं संदिग्ध अवस्था में हूँ। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिए। कृष्ण भगवान् ने कहा है–'संशयात्मा विनश्यति' पिता! तुम पथ–प्रदर्शक हो।

सुकेत में १७ दिन

२ माघ संवत् १९४७ (१५ जनवरी १८९१) की शाम को होशियारपुर पहुँचा। ३ माघ (१६ जनवरी) को प्रातः पहाड़ी डोली में सवार होकर चला। रास्ते में बराबर मेह बरसता रहा। दिन रात कहार बदलते रहे। ५ माघ (१८ जनवरी) को १२ बजे दिन के हटरी स्थान पर पहुँचा। हटरी पर रियासत मण्डी का एक कारिन्दा रहता था। उसके मकान पर डोली से उतरकर नई सवारी पर सवार होना था जिसे पालकी कहा जाता था। परन्तु जब वह ढाँचा सामने आया तो सिवाय दो बाँस के लट्ठों पर एक छोटी पीढ़ी के और कुछ न था। सचमुच नाम बड़े दर्शन छोटे थे। कारिन्दा जी के बाल बच्चों में मैंने सारी मिठाई बाँट दी। उस समय सूर्य भगवान् यौवनवस्था में उदित थे और मैंने स्नान करके कारिन्दा जी का निमन्त्रण स्वीकार किया। बिना धोई छिलके वाली उड़द की दाल और आलुओं के साथ मण्डों (फुलकों) का जो स्वाद उस समय

आया शायद जन्म भर में ४–५ बार ही अनुभव किया होगा।

भोजन से निवृत्त होकर पालकी नामिनी पीढ़ी पर सवार हुआ। मिठाई की तीन हण्डियों में से एक हण्डिया मेरे सामने कारिन्दे ने रख दी। मैंने बहुत इनकार किया परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया मुझे रास्ते का अनुभव है आपको नहीं, आपके काम आयेगी। हटरी से सीधी चढ़ाई का मार्ग आरम्भ हो गया। यह सिकन्दरे की चढ़ाई कहाती है। मेरा सामान कुलियों की पीठ पर चला। थोड़ी देर ऊपर चढ़ते ही सारे पहाड़ श्वेत हिम से ढके हुए दिखाई देने लगे। ज्यों–ज्यों ऊपर चढ़ता गया त्यों–त्यों दृश्य सुन्दर होता गया। यहाँ तक कि ऐसी चढ़ाई पर पहुँचा जहाँ हिम गिर रहा था। गरम कोट आदि पहनकर ऊपर से मैंने धुस्सा ओढ़ लिया। मैंने समझा था कि बर्फ की वर्षा के समय सर्दी ज्यादा होगी लेकिन हालत दूसरी ही नजर आई। धुस्सा झाड़कर बर्फ को नीचे फैक दिया और हाथ हांडी की ओर बढ़ाया क्योंकि भूख बहुत चमक उठी थी। बर्फ गिरते में कैसी भूख लगती है यह बिना अनुभव के पता नहीं लग सकता। कहारों के पाँव हिम पर पड़कर उसकी स्वच्छता को बिगड़ते देख मैं सहन न कर सका। यद्यपि मेरे पैर पड़ने से भी हिम की स्वच्छ साफ चादर मैली होती थी परन्तु वह मेरी दृष्टि से पीछे रह जाती थी। मैंने उस समय पौराणिकों का ही अनुकरण किया और अज्ञान में पाप न समझते हुए मनोरंजक यात्रा की। आध मील पर खड़े होकर मैंने मिठाई के साथ बर्फ मिलाकर खाना आरम्भ किया और सिकन्दरे की चढ़ाई के शिखर पर पहुँचकर खाली करके हंडिया फोड़ दी। चार बजे उतराई का आरम्भ हुआ। भूख पग–पग बढ़ रही थी और खाने को पास कुछ न था। पाँच बजे दूर पर एक दुकान दिखाई दी। आशा रख घोड़े पर सवार हो वहाँ पहुँचा, पहाड़ी दुकानदार के पास पावभर गुड़ और आधा पाव चनों के सिवाय कुछ न था। उसी पर सन्तोष कर चने ठूँसने शुरू किये और तेज भूख साथ लेकर सायंकाल सुकेत पहुँचा।

कमिश्नर का कैम्प ग्राम से बाहर एक मैदान में था। वहीं मेरे मुवक्किल मियां शिवसिंह का कैम्प था। मैं उनको पीछे छोड़ सीधा ग्राम की दूसरी हद पर मियां पराक्रमसिंह के यहाँ पहुँचा। वहाँ बाबू दसौधीराम तथा लाला गणेशदास वकील मुझ से पहले मियां शिवसिंह की सहायतार्थ आये हुए थे। मेरे मित्र मियां जनमेजय भी मिले। भूखे को भोजन की पहिले सूझी और फिर शयन किया। इधर नींद के झोके आ

रहे थे और उधर स्थान एकान्त न था। लाचार फिर से यात्रा आरम्भ कर दी और डेढ़ मील पैदल चलकर सिहराल पहुँच मियां ज्वालासिंह के मकान में आराम किया। यहाँ शीत बहुत था साथ ही मेरे कमरे के किवाडों के कुछ शीशे टुटे हुए थे परन्तु फिर भी ९.३० बजे सोकर ४.३० बजे तक करवट न बदली।

दूसरे दिन प्रात:काल यथा नियम उठकर स्नान किया। जिस कूल के झरने का शब्द रात को लोरियाँ देकर सुला रहा था, उसी शीतल जल से लोटे भर-भर स्नान किया। पहाड़ के रमणीय जंगल में सन्ध्या की और अग्निहोत्र के समय सुगन्ध के कारण घर के बच्चों के साथ पालतू जानवर भी मेरे साथ आ बैठे। मेरे यजमान मियां ज्वालासिंह, मियां शिवसिंह के छोटे भाई थे। उन्होंने शीघ्र ही मेरी इच्छानुकूल भोजन तैयार करा दिया और मैं दिन भर के काम के लिए तैयार होकर 'सिहराल' से चल दिया।

यहाँ एक बार ही लिख देता हूँ कि यद्यपि मुझे नित्य बिखड़े मार्ग में तीन मील से अधिक चलना पड़ता था परन्तु रात के लिए मैंने निवास स्थान सिहराल को ही बनाए रखा। दूसरी रात को एक घटना भी ऐसी हुई जो शायद दूसरे आदमी को वहाँ से भगा देती। मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे। सर्दी रोकने के लिए उन पर कागज चिपका रखे थे। मेरे सुकेत पहुँचने की तीसरी रात को, खिड़की के कागज को फाड़ बाघ ने अपना पंजा अन्दर घुसेड़ दिया और रात भर मेरे पलंग के पाए पर पंजा डाले पड़ा रहा। प्रात: उठने पर मैंने देखा कि वह अन्दर की तरफ टिकटिकी जमाये बैठा है। मैंने डण्डे से उसका पंजा बाहर कर दिया और लाठी को जमीन पर मारकर उसे डपट सुनाई। इस पर बाघ गरजता हुई भाग गया। मुझे बहुत समझाया गया कि मैं अन्दर के मकान में सोया करूँ, परन्तु मुझे जाड़े में भी चारों ओर का वायु मार्ग खोलकर सोने का अभ्यास था। मैं उसी हवादार मकान में सोता रहा।

५ माघ (१८ जनवरी) से लेकर पूरे १० दिन तक मैं सुकेत रहा। इस बीच में जहाँ मियां शिवसिंह के मुकद्दमें का मनोरंजक काम होता रहा। वहाँ साथ ही साधारण प्राकृतिक तथा मानवी दृश्य भी देखने में आये और साथ ही वैदिक धर्म का प्रचार भी होता रहा।

मेरे साथ जो वकील थे उनमें से एक तो ऐसे शराबी थे कि जब रात को

शराब पी लेते तो उनकी बुद्धि बड़ी तेज हो जाती परन्तु प्रातः नशा उतरने पर मुर्दे के समान दिखाई देते। दूसरे महाशय अंग्रेजी का एक भी अक्षर न जानते थे। इसलिए कमिश्नर साहब के यहाँ बैरिस्टर रैगिअन के मुकाबिले उन्हें बैठाना व्यर्थ था। मियां शिवसिंह का दावा था कि उनका भण्डार राजा ने लूट लिया। इसका प्रमाण? राजा के अत्याचारों से तंग आई हुई प्रजा ने मेरे पास पहुँचकर चोरी के माल का पता दिया। मैंने सब मालूम कर कमिश्नर से कुछ स्थानों की तलाशी के लिए वारण्ट माँगे। कमिशनर साहब ने मियां शिवसिंह को बुलाकर कहा कि यदि चोरी का माल कहीं से न निकला तो उन्हें स्वयं जेल भुगतनी पड़ेगी। मैंने इस पर एक लिखित प्रार्थना पत्र पेश कर दिया और सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने का वचन दिया। कमिश्नर साहब का आश्चर्य दूर करने को मैंने अपने पास पहुँचे गुप्त प्रमाण भी उन्हें दिखलाये। तब साहब ने उसी समय सरिश्तेदार को न बुलवा मुझ से ही वारण्ट लिखवाकर पुलिस वालों को मेरे नियत किये हुए आदमियों के साथ भेज दिया। प्रातः १० बजे वारण्ट जारी हुए और शाम के ६ बजे चोरी का माल राजा साहेब की नौकरानियों और अन्य विश्वासपात्रों के घरों से बरामद होकर आने लगा। सबका कहना यही था कि राजा ने यह सामान उनको कुछ दिनों रख छोड़ने के लिए दिया है।

माल तो बरामद हो गया परन्तु फिर भी कुछ स्थानों से दूसरे स्थानों पर माल पहुँच ही गया और इसका कारण स्वयं मियां शिवसिंह थे। हम सब मियां शिवसिंह के भोलेपन को जानते थे। मैंने राजकुमार जनमेजय से तय किया कि मियां शिवसिंह पर मैं, वह तथा कई सज्जन पहिरेदार बैठें और उन्हें किसी से बात न करने दें। मियां साहब को भी समझाया कि वारण्ट लेकर जो पुलिस गई है उसका किसी से जिक्र न करें, क्योंकि ऐसा करने से बात फैल जाएगी और अपराधी माल को गायब कर देंगे। मियां साहब ने प्रतिज्ञा की कि वह ऐसा न करेंगे। आपने बलपूर्वक कहा कि वह मूर्ख नहीं है कि दुश्मनों को अपनी चाल का पता दें। अब हमारा तो यह प्रयत्न और मियां साहब के नौकरों का यह प्रयत्न कि हमारा प्रोग्राम उनको भी विदित हो जाये। अन्त को विजय नौकरों की हुई। मियां साहब लघुशंका करने गए। एक नौकर लौटा ले हाथ धुलाने दौड़ा, दूसरा एजारबन्द बाँधने लगा, तीसरा छाता लगाकर खड़ा हुआ। बस हाथ धुलाते-धुलाते सब कहानी मियां साहब से पूछ ली और अपने साथियों को बताने

लगे। सुनने वालों में कोई विश्वासघाती भी था, उसने राजा को समाचार पहुँचाया। राजा ने आदमी दौड़ाए, परन्तु तब तक पुलिस बहुत काम कर चुकी थी।

मुकद्दमे की पैरवी तो कोई बड़ी बात न थी परन्तु मियां शिवसिंह से मुकद्दमे की रक्षा करना ही सबसे कठिन काम था।

जवनिका पतन

सुकेत का हाल है तो बड़ा मनोरंजक परन्तु उसको विस्तारपूर्वक लिखने के लिए स्थान नहीं है राजा को रैगिटन साहब बैरिस्टर ने खूब लूटा। पहिले १०००/- रोजाना फीस पर आए। जब मियां शिवसिंह की चोरी का माल बरामद हुआ तो लाहौर से आया बतलाकर चोरी के अभियोग की पैरवी के दिनों के लिए १६००/- प्रतिदिन लेने आरम्भ किए। १००/- रुपये रोजना भोजन के लिए लेते और भोजन राजा के पुराना प्रबन्धकर्ता डानल्ड साहब के यहाँ करते। फीस बढ़वा ली परन्तु ७ दिन अधिक फीस लेकर मुकद्दमा लड़ाने के स्थान में ६०,००० मियां शिवसिंह को दिलवा दिए। मियां शिवसिंह ने दो लाख रुपये की चोरी लिखवाई थी इसमें ४०,००० की तो दवाइयाँ थी। उनके लिए ६०,००० एक अच्छी सम्पत्ति थी, परन्तु मियां साहब के पास रुपया जमने वाला न था।

ऊपर का फैसला होते ही मैं चलना चाहता था। परन्तु मियां शिवसिंह के सम्बन्धियों ने आग्रह किया कि मैं मियां साहब को रुपये नकद दिलवाकर जाऊँ। तब मैं रुपये गिनवाने के काम का निरीक्षक बना। वहाँ भी बड़ा काम करना पड़ा। राजा साहब से खोटे रुपये बदलवाने का काम कड़ा कठिन था। परन्तु वह काम भी समाप्त हो गया और राजा साहब मण्डी के निमन्त्रण पर मैं दोनों सहकारी वकीलों सहित मण्डी को चल दिया। राजा साहब से भेंट हुर्ठ। मुझे देखते ही उन्हें जालन्धर वाला शास्त्रार्थ याद आ गया जो उन्होंने आर्यसमाजी और सनातनी पण्डितों के बीच कराया था। तब तो आर्यसमाज की ही बातें होती रहीं और मुझे अपना धर्म-प्रचार का बड़ा अच्छा मौका मिला। यहाँ पर मैंने पहिले-पहिले पहाड़ी रियासतों के कैदियों की विचित्र व्यवस्था देखी। प्रात:काल ही जेल का द्वार खुलता और सब कैदियों को घास लाने आदि के कई काम सौंप कर छोड़ दिया जाता। सायंकाल को सब अपना काम खत्म कर जेल में आ सो जाते। मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया जो अहलकारों ने बताया

कि कभी कोई कैदी नहीं भागा क्योंकि इन लोगों को अपनी मातृभूति से बड़ा प्रेम है।

इसी स्थान में एक शिव मन्दिर मुझे दिखाया गया जिसमें से शिवलिंग को उखड़वा दिया गया था। पुजारी ने मन्दिर इस बुद्धिमत्ता से बनवाया था कि मन्दिर की छत के ऊपर की खोल में से आदमी गुम्बद के छिद्रों द्वारा दूध छिड़क सके। यह दूध का छिड़काव बड़े बहुमूल्य चढ़ावे से होता था। राव, रंक सब पुजारी के जाल में पागल हो फंस गये। मुझे बताया गया कि बैंडथ साहब कमिश्नर ने इस मन्दिर की पोल का पता लगाया और राजा साहब ने उनकी आज्ञानुसार उसमें से शिव की मूर्ति को उखड़वा दिया। मण्डी से हम सब वकील डोलियों में लौट पड़े। पहली रात इकट्ठे काटी। दोनों वकीलों ने प्रातः वर्षा का ढंग देखते ही खूब पीली। एक स्थान में ओले बरसने लगे, जिसके कारण हमने डोलियाँ रखवा दी। मैंने तो कहारों को बतला कर अपनी डोली उँचे स्थान में रखवाई और शराबियों की डोली को नीची जगह छोड़कर उनके कहार दूर छते हुए स्थान में जा बैठे। जब मूसलाधार बारिश पड़ने लगी तो बेचारे शराबी वकील ने प्याले से हाथ हटाकर शोर मचाया–'भीग गये। भीग गये। ओ कहारो, जल्दी डोली उठाओ।' जितनी ही शराबी वकील डाँट बतलाते उतना ही कहार और हँसते। इनकी हालत पर मुझे रहम आई और मैंने छाता लेकर डोली से बाहर पैर रखा बस फिर क्या था सब कहार दौड़ कर डोलियों को लग गये और मूसलाधार बारिश में ही आगे बढ़ने लगे। रात को फिर बड़ी गड़बड़ हुई। वर्षा बन्द होते ही पैदल हो लिया था और दस मील चढ़ाई उतराई को भुगतान कर उँची चढ़ाई पर डाक बंगले में जा पहुँचा और भोजन के बाद गाढ़ी निद्रा की गोद में विश्राम लेने का विचार था कि शराबियों की डोलियाँ आधी रात के वक्त पहुँची। उनमें से एक महाशय पीठ के फोड़े से बीमार थे। उन्होंने रास्ते में कहारों को बहुत गालियाँ दी और तंग किया। इस अन्तिम चढ़ाई पर कहारों के पैर फिसल जाने से डोली गिरी और शराबी वकील की पीठ का फोड़ा फट गया। हम सब तो उनका दुःख दूर करने की चिन्ता में और उन्हें यह शक कि कहारों ने उन्हें जान बुझकर गिरा दिया है। इसलिए उन्होंने कहारों को कोसते हुए, लगभग संसार भर के सब गन्दे शब्द फुलझड़ी की तरह कहारों पर बरसा दिए। अन्त में ज्यों–ज्यों करके उन्हें कुछ खिलाने का यत्न किया गया, तब शराब की बोतल खोल बैठे। मैं उन्हें छोड़कर चारपाई पर दूर लेट गया। दो पेग और चढ़ाकर वकील साहब के

सिर पट यह धुन सवार हुई कि मैं उनके मद्यपान को देख नाखुश हो गया हूँ। उनके मुंशी ने कह दिया-'वह धर्मात्मा आदमी हैं, आपके पास क्या बैठते जहाँ हमेशा मद्य का दुर्गन्ध उठता रहता है' मैं तो प्रगाढ़ निद्रा में डूबा जा रहा था, उधर शोर मचा। वकील साहब के साथी हिलने से मना करते और वह मेरे पास पहुँचने के लिए हाथ-पैर मारते। कहाँ की नींद कहाँ का सोना। मैं वहाँ से उठ पलंग पर जा बैठा और कह दिया मैं नाखुश नहीं हूँ- लेकिन इससे भी छुटकारा न हुआ। मेरे पैरों को ऊपर खींच शराबी वकील बड़बड़ाने लगा-' आप धर्मात्मा हैं, आप तो ऐसा कहेंगे ही, परन्तु मैं पापी हूँ। क्षमा करो', इत्यादि। मैंने समझाया, दिलासा दिया, परन्तु वहाँ कौन सुनता था। यही क्रम एक घण्टे तक लगा रहा, तब मुझे वहाँ कुछ कहने का मौका मिला। वहाँ श्रद्धा का प्रवाह था, सोने को कहा, तो आज्ञा पालन की गई। उस समय जो करुणा और प्रेम का भाव अन्दर काम कर रहा था उसका फिर कम ही प्रादुर्भाव हुआ है।

दूसरे दिन दोपहर अपने साथियों से बिछुड़ होशियारपुर सायंकाल पहुँचा और तीसरे दिन जालन्धर पहुँचा। परिवार को मिल निश्चिन्त हुआ।

कुम्भ पर वैदिक धर्मप्रचार

मेरी अनुपस्थिति में सद्धर्म-प्रचारक का सम्पादन लाला देवराज जी करते रहे। लौटने पर अपना काम मैंने फिर संभाल लिया। संवत् १९४८ का कुम्भ पास आ रहा था। मैंने प्रचारक द्वारा बहुत आन्दोलन किया। आर्य प्रतिनिधि सभाओं ने चुप साध ली थी परन्तु जब प्रचारक की प्रेरणा पर सर्वसाधारण ने कुम्भ प्रचार के बड़े बोझ को उठाने की तैयारी आरम्भ की तो सभाएँ भी जाग उठीं। २८ फाल्गुन संवत् १९४७ (१२ मार्च सन् १८९१ ई०) को पंजाब प्रतिनिधि सभा का मुझे तार मिला-संयुक्त प्राप्त और पंजाब प्रतिनिधि सभाओं ने कुम्भ प्रचार का फैसला कर दिया। इसी सप्ताह के अखबार में धन और उपदेशकों की पहुँच के लिए अपील करो। व्यय दो सहस्र के लगभग होगा।'

४८ के कुम्भ प्रचार का हाल प्रचारक से लेकर पण्डित लेखराम जी ने अलग छपवा कर बँटवाया। उस कुम्भ पर सैकड़ों ही जमा हुए और उतना ही व्यय हुआ। जिस भूमि के एक सिरे पर ४८ के कुम्भ का प्रचार हुआ उसी के दूसरे सिरे पर १९६०

के कुम्भ पर भूमि किराये पर लेकर फिर वैदिक धर्म का प्रचार हुआ। उसके १ वर्ष पीछे ही वह सारी भूमि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की आज्ञानुसार मैंने उन्हें खरीद दी और जब वैशाख १९७२ कुम्भ पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से प्रचार हुआ तो उस समय इस भूमि का स्वामित्व आर्यसमाज के पास था।

संवत् १९४८ के कुम्भ प्रचार के लिए राजकुमार जनमेजय तथा अपने मुंशी को साथ ले मैं हरिद्वार पहुंचा। उसका प्रबन्ध मेरे सुपुर्द किया गया था परन्तु मुझे हरिद्वार से चार-पाँच दिनों के बाद ही लौटना पड़ा क्योंकि मेरे पुत्र की बीमारी का समाचार तार द्वारा मुझे पहुँचा। मेरे पहुँचते ही वह निरोग हो गया।

कुम्भ की समाप्ति पर संन्यासी महात्मा मेरे गृह पर जमा हुए। स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द सभी महाशयों के व्याख्यान हुए। परन्तु जब एक म्यान में दो तलवारों का ठहरना कठिन है तो एक स्थान में इतने वीतराग संन्यासियों का शान्ति से ठहरना कैसे सम्भव हो सकता था? स्वामी पूर्णानन्द तो काशी पढ़ने के लिए चले गये, स्वामी आत्मानन्द जी को अपने व्याख्यानों की प्रशंसा की चिन्ता हुई। इसी प्रकार यह मण्डल उस समय छिन्न-भिन्न हो गया। स्वामी आत्मानन्द जी का नाम मैंने वाकिंग इंसाइक्लोपीडिया रख छोड़ा था। कौन पुरुष था जिसके परिवार के विषय में उनको कुछ ज्ञात न हो और कौन नगर वा ग्राम है जिसका वर्णन वह न कर सकते थे। दृष्टान्त के तौर पर लाला देवराज जी आये। मैं नाम लेकर उनसे परिचय कराने को ही था कि स्वामी जी बोले-'आइये! लाला देवराज जी, मन्त्री आर्यसमाज तथा जेलदार जालन्धर। आपके पिता लाला शालिग्राम आनरेरी मैजिस्ट्रेट का क्या हाल है? आपकी सप्ताह की प्रार्थना पुस्तक का दूसरा संस्करण निकला वा नहीं?' एक दूसरे भाई आये जिन्होंने बतलाया के कुक्कर पिंड (ग्राम) के रहने वाले हैं। स्वामी जी ने उस ग्राम के जेलदार, लम्बरदारों की ही पीढियाँ न गिना डालीं बल्कि पीपल के वृक्षों का भी वर्णन कर दिया। मुझे शोक है कि स्वामी आत्मानन्द जी को आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में जितनी घटनाएँ ज्ञात थी वह उनकी मृत्यु के साथ समाप्त हो गई।

इसी संवत् १९४८ के मध्य ज्येष्ठ (१८९१ ई० के मई मास के अन्त) में दयानन्द कॉलेज का प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था जिसमें आर्य ग्रन्थों की पढ़ाई के लिए

अलग वैदिक श्रैणी खुलने का प्रश्न इस युक्ति से स्वीकृत नहीं किया था कि उसके खोलने से कॉलेज सोसायटी के उद्देश्य बदल जायेंगे और इसलिए उक्त सोसायटी की रजिस्ट्री नाजायज हो जाएगी। परन्तु जिन महाशयों ने उस समय इस प्रकार की युक्तियाँ दी थी उन्होंने अब वैदिक श्रेणी उसी कॉलिज के सम्बन्ध में खोली है और सोसाइटियों के रजिस्ट्रार ने उसकी रजिस्ट्री को नाजायज करार नहीं दिया। इन सब कामों में भाग लेने के कारण कुछ दिनों 'प्रचारक' के सम्पादन का काम मैं न कर सका। ३० ज्येष्ठ (१३ जून) से मैंने फिर 'प्रचारक' को सम्भाला और तब वैदिक श्रेणी और संन्यासाश्रम के सुधार आदि विषयों पर आन्दोलन आरम्भ किया।

इस समय परोपकारिणी सभा के वैदिक यन्त्रालय में पण्डित रैमल जी तथा पण्डित श्याम जी कृष्ण वर्मा का झगड़ा आरम्भ हुआ। इस झगड़े के निबटाने और वैदिक यन्त्रालय की रक्षा का काम जो 'प्रचारक' ने उस समय किया उसको राय मूलराज तक ने स्वीकार किया था। इस प्रश्न को हल करने के लिये उन दिनों गरमी की तीन रातें जागकर काम करना पड़ा था।

दो से एक रहकर नये युग में प्रवेश

सहधर्मिणी के साथ मेरा शनैः-शनैः अटूट सम्बन्ध हो चुका था। शिवदेवी जी से कभी बिछुड़ने का ख्याल तक न आता था और उन्होंने 'वैदिक संस्कारविधि' का पाठ करके यह धारण दृढ़ की थी कि पति से भी वियोग न होना चाहिए। श्रावण के अन्त (अगस्त के मध्य भाग) में उन्हें पाँचवी सन्तान उत्पन्न होते समय बड़ा कष्ट हुआ। चिकित्सक की सहायता ली गई, लड़की का जन्म लेते ही देहान्त हो गया। देवी इससे बहुत निर्बल हो गई। धर्मशाला पर्वत के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के लिए निमन्त्रण आया था। निश्चय कर लिया कि १५ भाद्रपद (३१ अगस्त) को परिवार सहित धर्मशाला के लिए कूच होगा। मैं क्या सोच रहा था और कर्मानुसार उधर कुछ और तैयारी हो रही थी।

१२ भाद्रपद संवत् १९४८ (२८ अगस्त १८९१ ई०) की शाम को दस्त और वमन आरम्भ हुए। डॉक्टर सारी रात पास रखकर मैं जागता रहा। तीन बजे प्रातःकाल दस्त बन्द हो गये। समझ लिया कि अब नीरोग हो गई हैं १३ भाद्रपद (२९ अगस्त) के दिन और रात आराम रहा। १४ भाद्रपद (३० अगस्त) को आर्यसमाज के

साप्ताहिक अधिवेशन में बैठे समाचार आया कि फिर दस्त शुरू हो गये। घबराहट कुछ कुछ कम हो रही थी। डॉक्टरों को सम्मति के लिए बुलाया गया। एक डॉक्टर ने वहाँ ही डेरा लगाया। माता ने आकर शाम से ही गोद में ले लिया। देवी के भाई पास थे। बहुतेरा इलाज किया, परन्तु काल के आगे किसी का वश न चला। नौ बजे रात के जब माता थोड़ी देर के लिए अलग हुई तो पुत्री वेदकुमारी से अपना कलमदान माँगा। पर्चे पर लिखा और उसके निचले खाने में रख दिया। एक बजे मैं दवाई पिलाने लगा तो हाथ जोड़कर प्रणाम किया। जब दवाई पिला चुका तो माता जी को धीमे स्वर से कहा–'मुझ से बड़े अपराध हुए हैं। जिनकी मुझे सेवा करनी थी, ये मेरी सेवा कर रहे हैं' माता ने प्यार दिया। भाई देवराज ने कहा–' बीबी जी, भजन सुनोगी।' कहा–'हाँ। देवराज जी ने आरम्भ किया'। 'प्रभुजी! भेंट धरूँ क्या मैं तेरे' देवी लब हिलाती रही, बोल नहीं सकती थी, भजन समाप्त हुआ। माता ने रोकर पूछा–'बच्चे किसके सुपुर्द कर चली हो।' उत्तर मिला–'आप ही पल जायेंगे।' मुझे देवी बाबू जी कहकर सम्बोधन किया करती थी। ४ बजे मैं बाहर डॉक्टर से कुछ सलाह करने गया। २० मिनट पीछे बुलावा हुआ। मुझे देखते ही दो बार कहा–'बाबूजी।' मैंने झुककर नब्ज हाथ में ली। लब हिलते थे। एक बार स्पष्ट 'ओ३म्' का उच्चारण मैंने सुना और फिर माता की गोद में प्राण त्याग दिए।

६ बजे से ही नर–नारियों का हजूम जमा हो गया। स्त्रियों ने रोना–पीटना आरम्भ कर दिया। देवी की माता और उनकी जेठानी
(मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी) ने सबको रोने–पीटने से बन्द कर दिया और ९ बजे श्मशान–भूमि में वैदिक विधि से मृतक शरीर का अन्त्येष्टि–संस्कार कराके परमात्मा से शान्ति के लिए प्रार्थना की गई।

देवी ने चार सन्तान छोड़ीं–(१) वेद कुमारी १० वर्ष (२) हेमन्त कुमारी, जिसका यज्ञोपवीत संस्कार के समय नया नाम रखा गया–'अमृत कला' ६ वर्ष, (३) हरिशचन्द्र ४ वर्ष (४) इन्द्र २ वर्ष। इनमें से इन्द्र उस समय भी ज्वर और दस्तों से पीड़ित था और छः मास पहले भी उसे निमोनिया हो चुका था। मेरे बड़े भाई की धर्मपत्नी ने इस सबको संभाल लिया। दूसरे दिन प्रातः मैंने देवी का सामान संभालना शुरू किया। बड़ी पुत्री ने कलमदान लाकर बतलाया–'माता जी ने एक कागज

लिखकर इसमें रखा था।' मैंने कागज निकाला। उसमें लिखा था–'बाबू जी! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जाएगी, परन्तु इन बच्चों को कभी मत भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो।' यह उन पंजाबी वाक्यों का अनुवाद है जो देवी ने देवनागरी अक्षरों में लिखे। वे वाक्य मेरे हृदय पर अंकित हो गये। रात को सब बच्चों को सुलाकर मैंने एक घंटे तक परमात्मा के बल के लिए प्रार्थना की और यह दृढ़व्रत धारण किया कि बच्चों के लिए माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूँगा। यह मेरे वर्तमान बच्चे बतला सकते हैं कि मैंने अपने इस संकल्प को कहाँ तक पूरा किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द के उपदेशों और वैदिक धर्म के आदेशों ने सम्बन्धियों, मित्रों हितचिन्तकों के सामने घिरे प्रलोभनों से मुझे बचाया, परन्तु देवी के अन्तिम सन्देशों ने मेरे अन्दर मातृभाव का संचार करके मुझे इस योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूँ जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश की तैयारी

हरिशचन्द्र को साथ लेकर मैं धर्मशाला पर्वत को चल दिया और शेष बच्चों को लेकर मेरी बड़ी भौजाई ग्राम तलवन को चली गई। धर्मशाला आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में व्याख्यान देने के अतिरिक्त मैं गुरखा पल्टन और हिमगिर के गद्दियों में भी धर्मप्रचार करता रहा। आश्विन के उत्तरार्द्ध (अक्तूबर के आरम्भ) में लौटकर फिर वकालत के काम में लग गया। मेरे बड़े भाई, श्री आत्माराम जी ने अपनी धर्मपत्नी सहित, बच्चों की रक्षा सेवा के लिए जालन्धर में डेरा आ जमाया। इसी वर्ष लाहौर, होशियारपुर आदि स्थानों के आर्यसमाज वार्षिकोत्सवों पर मांसभक्षण विषय पर प्रश्नोत्तर होने शुरू हो गये थे।

संवत् १९४८ के अन्त (सन् १८९२ के आरम्भ) से ही मैं कुछ बीमार रहने लगा, दो बार एक–एक सप्ताह बीमार रहकर मई (वैशाख–ज्येष्ठ) मास में अधिक बीमार हो गया। डॉक्टर और हकीम, सबसे ही परीक्षा कराई। सब अंग ठीक पाये गये, परन्तु बीमारी यह थी कि ज्यों–ज्यों दिन चढ़ता जाता शरीर में जलन बढ़ती जाती और शाम को दूर हो जाती। न ज्वर था न फेफड़ों में कुछ कसर थी और न किसी अन्य रोग

के चिन्ह थे। तब ज्येष्ठ के उत्तरारम्भ (जून के आरम्भ) में ही धर्मशाला पर्वत का रास्ता पकड़ा। यहाँ दो संन्यासियों में पहले से ही मांस विषय पर विवाद चल रहा था, जिसमें आर्यसमाजी बैरिस्टर वकील भी भाग ले रहे थे। मैंने उस समय तो वहाँ पहुँचकर उस विवाद को मिटा दिया परन्तु मैदान में वह झगड़ा जोर पकड़ता गया। रायजादा भक्तराम उस समय धर्मशाला में बैरिस्टरी करते थे। उसके पास चार मास बहुत उत्तम काटे। एक ओर वकालत करते हुए कुछ आर्थिक कमाई भी की और साथ ही आत्मिकोन्नति और स्वाध्याय के लिए भी काफी समय मिला। कांगड़ा, पालमपुर आदि में वैदिक धर्म-प्रचार का भी खूब अवसर मिला। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द ने मुझे दो शास्त्रार्थों में भी घसीट लिया। उन दिनों सहनशीलता का पाठ पढ़ने का भी अच्छा अवसर मिला और पहाड़ों की चढ़ाई से मानसिक बल की कई बार परीक्षा हुई।

अक्तूबर (आश्विन-कार्तिक) मास में मैं जालन्धर लौटा। मांस विषय पर मैदान में तीव्र आन्दोलन हो रहा था। इस पर दो दल बन गये थे। यद्यपि अभी समाज का संगठन एक ही था तथापि एक दूसरे पक्ष को उपाधियाँ मिलने लग गई थी। मांसखोर और घासखोर, मांस-प्रचारक और महात्मा बुद्धू एक दूसरे को खिताब मिल रहे थे। इसी उधेड़बुन और जो लड़ाई में आर्यसमाज लाहौर का वह वार्षिकोत्सव आ पहुँचा। जिसमें दोनों पक्षों की ओर से खुल्लमखुल्ला अपने मन्तव्यों का प्रचार हुआ और जो लोग गुप्त रीति से मांस का प्रचार करते थे, उन्होंने खुले बन्दों प्रकट होकर मांसभक्षण का समर्थन करना शुरू कर दिया। पंजाब के समस्त आर्यसमाजों की प्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा। सार्वजनिक जीवन हो गया और इसलिए अपनी जीवन-यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहाँ समाप्त करता हूँ। आश्रम इसे कह नहीं सकता क्योंकि वैदिक ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ मेरा स्पर्श तक न हुआ था। फिर गृहस्थ भी अवैदिक ही रहा। हाँ, इससे आगे मैंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की तैयारी आरम्भ कर दी थी। उस तैयारी में ९ वर्ष व्यतीत करके किस प्रकार मैंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया और उस आश्रम धर्म के पालन में मुझे कहाँ-कहाँ ठोकरें लगीं इसके वर्णन का समय अभी नहीं आया। तब चौथे आश्रम में प्रवेश का वर्णन अभी बहुत दूर है।

-श्रद्धानन्द संन्यासी